समकालीन हिन्दी उपन्यास और किसान जीवन का यथार्थ(1970 से2015तक)

SAMKALIN HINDI UPANYAS AUR KISAN JEEWAN KA YATHARTH (1970 SE 2015 TAK)

(Contemporary Hindi Novels and The Reality Of Peasant's Life (1970To2015)

(पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध)

शोध निर्देशक

प्रो.देवेन्द्र कुमार चौबे

शोधार्थी

सुशील कुमार

भारतीय भाषा केंद्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली 110067

2019

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केंद्र
Centre of Indian Language
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली-110067,New Delhi-110067, India

Date:19/07/2019

Certificate

This is to certify that Mr./Ms. **SUSHIL KUMAR,** a bona-fide Research Scholar of Centre of Indian Language, SLL&CS has fulfilled all the requirements as per the University Ordinance for the submission of Ph.D. thesis entitled **"SAMKALIN HINDI UPANYAS AUR KISAN JEEWAN KA YATHARTH (1970 SE 2015 TAK)" (Contemporary Hindi Novels and The Reality of Peasant's Life (1970 To 2015)**

This may be placed before the examiners for evaluation for the award of the degree of Ph.D.

19/7/19

PROF. DEVENDRA KUMAR CHOUBEY
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. OMPRAKASH SINGH
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

Date: 19/07/2019

Declaration

I hereby declare that the Ph.D. thesis entitled **"SAMKALIN HINDI UPANYAS AUR KISAN JEEWAN KA YATHARTH (1970 SE 2015 TAK)" (Contemporary Hindi Novels and The Reality Of Peasant's Life (1970 To 2015)** submitted by me is the original research work. It has not been previously submitted for any other University/Institution to the best of my knowledge.

I further declare that no plagiarism has been committed in my work. If anything is found plagiarize in my thesis, I will be solely responsible for the act.

Sushil Kumar

Sushil Kumar

आभार

मैं अपने शोध प्रबंध को पूरा करने के लिए अपने निर्देशक प्रोफेसर देवेन्द्र कुमार चौबे का विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे शोध कार्य को पूरा करने में हर संभव मदद की है। आज के समय में, जब शोध कार्य को सरकार नियंत्रित करने की कोशिश कर रही है, ऐसे में सर ने हमेशा मुझे प्रोत्साहित किया और शोध करने की पूरी स्वतंत्रता दी।

मैं अपने शोध के लिए जेएनयू के केन्द्रीय पुस्तकालय और भारतीय भाषा केंद्र के विभागाध्यक्ष, समस्त अध्यापकों और कर्मचारियों को विशेष रूप से धन्यवाद देना चाहता हूँ। खासतौर से भारतीय भाषा केंद्र के स्टाफ सदस्य, प्रिय रमेश और प्रिय रावत सर का आभारी हूँ।जेएनयू लाइब्रेरी के वे सभी दोस्त जिन्होंने शोध लेखन के दौरान नियमित रूप से चाय पीने में साथ दिया और पीएचडी लेखन के बोझिल समय को यादगार बनाया उनके प्रति आभारी हूँ।

मैं अपने सभी सहपाठियों का विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने शोध लेखन के दौरान हर मुश्किल घड़ी में मेरा साथ दिया। कुछ दोस्तों ने शोध में प्रत्यक्ष रूप से बहुत मदद की, जिनके सहयोग के बिना यह कार्य पूरा नहीं हो पाता। मैं उन तमाम शिक्षकों का आभारी हूँ, जिन्होंने कभी किसी क्लासरूम में तो नहीं पढ़ाया लेकिन सिखाया सबसे ज्यादा। तमाम उन राजनैतिक साथियों का आभारी रहूँगा, जिनसे की गयीं बहसों और बात-चीत ने मेरे चिंतन और लेखन में योगदान दिया है।

अंत में अपने परिवारजन माता-पिता,बहन और भाइयों के अतुलनीय प्रेम और सहयोग के लिए आभारी हूँ, जिन्होंने हमेशा मुझे बिना किसी व्यवधान के इस शोध प्रबंध को लिखने में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहायता की।

किसानों, मजदूरों की आत्महत्या की खबरों से

मुझे भी हैरानी होती है

कि जब उन्हें खुदकुशी ही करनी है

तो वे राजस्व अधिकारियों, साहूकारों, कंपनी मालिकों, मैनेजरों

अखबारों, चैनलों के संचालकों, पत्रकारों, दीगर बुद्धिजीवियों

अध्यापकों, रचनाकर्मियों, धर्मगुरुओं, पुलिसवालों, न्यायपालों

नेताओं, अपराधियों, विधायकों, सांसदों, मंत्रिमंडलों में से

कम से कम एक असली गुनहगार को मारकर क्यों नहीं मरते।

विष्णु खरे

जनवादी सपनों के लिए लड़ने वाले देश के गरीब, मजदूर, किसान, राष्ट्रीय उत्पीड़न झेल रही कश्मीर और पूर्वोत्तर की जनता व शोषण-उत्पीड़न के खिलाफ संघर्षशील धार्मिक, भाषाई, लैंगिक अल्पसंख्यक, स्त्रियों, दलितों, पिछड़ों, आदिवासियों के लिए।

अनुक्रमणिका

भूमिका 1

अध्याय 1 यथार्थवाद और साहित्य 17

- यथार्थ और यथार्थवाद
- यथार्थवाद और साहित्य
- यथार्थवाद के उदय की पृष्ठभूमि
- साहित्य में यथार्थवाद का विचार और प्रकार
- यथार्थवाद: स्वरूप और प्रमुख बहसें
- अस्तित्ववादी यथार्थवाद
- मनोविश्लेषणवादी यथार्थवाद
- समाजवादी यथार्थवाद
- यथार्थवाद और हिन्दी साहित्य
- यथार्थ और कला
- आदर्शवाद और आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद
- यथार्थ और कल्पना का संबंध

अध्याय 2 कृषि अर्थव्यवस्था का ऐतिहासिक विकास 51

- दास युग में किसानों की स्थिति
- मध्यकाल में कृषि व्यवस्था और भूमि सम्बन्धों की स्थिति
- उपनिवेशिक शासन काल में कृषि व्यवस्था
- उपनिवेशकालीन भू-राजस्व प्रबंधन
- उपनिवेशिक काल में आदिवासी किसानों की स्थिति

अध्याय 3 समकालीन भारत की आर्थिक व्यवस्था में कृषि की स्थिति 90

- भारतीय अर्थव्यवस्था: सन् 1947 से 1990 के दौरान
- उदारीकरण के दौर में कृषि अर्थव्यवस्था: प्रावधान और प्रभाव

अध्याय 4 समकालीन हिन्दी उपन्यास में किसान जीवन का यथार्थ **110**

- हिन्दी उपन्यास और किसान का प्रश्न
- चयनित उपन्यासों का आधार
- किसान से मजदूर बनने की यात्रा- 'धरती धन न अपना'
- किसान का ज़मीन मोह- 'ज़मीन तो अपनी थी'
- स्वाधीनता आंदोलन का 'लोकऋण'
- आज़ादी का मोहभंग- 'डूब'
- विनाशकारी विकास से 'पार' पाने का प्रयास
- स्वाधीनता आंदोलन का प्रभाव और 'बेदखल' उपन्यास
- नक्सलबाड़ी आंदोलन के क्रूर दमन के गवाह- 'खुले गगन के लाल सितारे'
- ब्रिटिश उपनिवेशवाद और देसी सामंतवाद के प्रतिरोध में 'यमुना के बागी बेटे'
- परंपरागत शोषण के विरुद्ध विकसित होती चेतना की 'ज़मीन'
- प्रतिरोध के मुखर स्वर 'बाजत अनहद ढोल'
- जनजाति की संघर्ष कथा 'सहरना'
- नवउदारवाद और 'विकास' की 'फांस'

अध्याय 5 समकालीन हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन का सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ **163**

- सामाजिक संरचना और किसान जीवन
- किसान की प्रकृति पर निर्भरता और धार्मिक विश्वास
- किसान जीवन के उत्सव और तीज-त्योहार
- उत्पादन की आधुनिक तकनीकी का समाज और संस्कृति पर प्रभाव

अध्याय 6 समकालीन हिन्दी उपन्यासों में किसानों का राजनैतिक प्रतिरोध **189**

- साहित्य में किसान के प्रतिरोध की अभिव्यक्ति
- उपनिवेशिक शासन में किसान प्रतिरोध का सामाजिक संदर्भ
- देशी सामंतवाद और अंग्रेज़ी उपनिवेशवाद के दोहरे शोषण के खिलाफ प्रतिरोध
- आज़ादी का मोहभंग और क्रांतिकारी आंदोलन एवं वैकल्पिक समाधान की खोज

निष्कर्ष **220**

परिशिष्ट **226**

संदर्भ सूची **235**

भूमिका

समकालीन समय में समाज और साहित्य में क्या हो रहा है? इसका किसान जीवन पर क्या प्रभाव पड़ रहा है? पहलेहम अपने समकालीन समय को समझने की कोशिश करते हैं। सामान्यतः वर्तमान समय को समकालीन समय समझा जाता है। पहले यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि समकालीन का क्या तात्पर्य है? समकालीन का तात्पर्य हमारे समय की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था से है। परिवर्तन के क्रम में लंबे समय से तमाम परिवर्तनों के साथ चली आ रही नवीनतम परिवर्तन वाली सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को समकालीन व्यवस्था कहा जाता है। इसके साथ समाज में जो घटता है और साहित्य में जो अभिव्यक्त होता है, उसे समकालीन के रूप मे देखा जा सकता है। समकालीन दौर तो तुरंत बदल जाता है लेकिन उसका समाज पर प्रभाव धीरे-धीरे दिखाई पड़ता है और साहित्य में और देर से असर दिखाई पड़ता है।

जैसे देश में 15 अगस्त 1947 से एक दिन पहले तक ब्रिटिश उपनिवेशकालीन व्यवस्था थी। उस दिन तक वह व्यवस्था समकालीन थी। 15 अगस्त 1947 से 'आजाद' भारत की नई सामाजिक-आर्थिक नीतियाँ लागू हो गयी। फिर अगले दिन से समकालीन दौर बदल गया। देश में एक बार फिर 1991 ई. में नई नीतियों को लागू किया गया। नई नीतियों से समाज में परिवर्तन भी आने लगा। इस बदलाव से समकालीन समय का अर्थ भी बदल गया।

इस शोध प्रबंध में 1970 से 2015तक के समयका चुनाव किया गया है। इस समय के चयन का एक कारण यह है कि कुछ विद्वान 15 अगस्त 1947 से आज तक के समय को समकालीन मानते हैं। उनका मानना है कि तब से आज तक की सामाजिक-आर्थिक नीतियाँ अपनी निरंतरता में चल रही हैं। इस निरंतरता के कारण समकालीन दौर में बदलाव नहीं आया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि 1991 ई॰ में अपनाई गयी नई नीतियों से समय में बदलाव आ गया है। समकालीन समय के दो दौर है। एक, जो 15 अगस्त 1947 से शुरू हुआ था जिसका प्रभाव समाज और साहित्य पर अगले 5 से 10 वर्ष से पड़ना शुरू हो गया था। यह प्रभाव नए दौर के शुरू होने तक रहा है। दूसरा दौर, 5 जून 1991 से शुरू होता है जब देश में नवउदारवादी नीतियाँ लागू की गयीं।

पहले समकालीन दौर का साहित्य में प्रभाव देखने के लिए मैंने 30 वर्ष (1970-2000) का चुनाव किया है। दूसरा समकालीन समय 1990-91 में शुरू हो गया पर उसका साहित्य और समाज पर असर दिखने में 10 वर्ष लग गये। दूसरे समकालीन दौर का साहित्य पर प्रभाव देखने के लिए मैंने 15 वर्ष (2000-2015) का चुनाव किया है। इस अवधि के चुनाव करने का कारण यह था कि देश की कृषि-अर्थव्यवस्था में काफी प्रयोग किए गए। इन प्रयोगों का कृषि और किसान जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा? कृषि-अर्थव्यवस्था के इन प्रयोगों और बदलाव को हिन्दी उपन्यासों में किस प्रकार अभिव्यक्ति मिली? यह जानने के लिए इस अवधि के चुनाव से मदद मिली है। जो बदलाव 1970 ई॰ से पहले कृषि व्यवस्था में लाए गए थे, उनका मुकम्मल असर 1970 तक आ गया और 1970 ई॰ के बाद वाले बदलाव का असर 2015 ई॰ तक देखने का प्रयास किया है।

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन की अभिव्यक्ति किस प्रकार हो रही है? हिन्दी उपन्यासकारोंने किसानों को अपना विषय कब से बनाना शुरू किया और किसानों को अपने उपन्यास में किस रूप में लेकर आये? हिन्दी साहित्य में किसानों को लेकर यथार्थवादी उपन्यास कब से लिखे गये? समकालीन समय में किसान जीवन का यथार्थ हिन्दी उपन्यास में अभिव्यक्ति हो रहा है या नहीं? यह सब विचारणीय बिन्दु हैं।

सबसे पहले हिन्दी में प्रेमचंद ने अपने कथा साहित्य में किसान के दुख-दर्द को चित्रित किया है। प्रेमचंद के साहित्य में किसान दो चरणों में आते हैं। पहला, शुरू के उपन्यास में किसान के यथार्थ को वे आदर्श रूप में लेकर आते हैं। ''प्रेमचंद, डिकन्स या टाल्सटाय की तरह ही यथार्थ का चित्रण आदर्शवादी तरीके से करने के हिमायती हैं। यथार्थवाद के संबंध में उन्होंने अपने विचार पेश करते हुए कहा किवह नग्न यथार्थवाद के प्रेमी नहीं हैं बल्कि मानवीय गुणों एवं आदर्शवादी मूल्यों में उनकी गहरी आस्था है।''[1] प्रेमचंद को अपने जीवन के आखिरी समय में आदर्शवादी मूल्यों से मोहभंग होने लगा था। उन्होंने अपने अंतिम और अधूरे उपन्यास 'गोदान' और 'मंगलसूत्र' में यथार्थवादी चित्रण किया है। 'गोदान' किसान जीवन पर पहला यथार्थवादी उपन्यास माना जाता है। ''प्रेमचंद ने गोदान में किसान जीवन की जिन सच्चाइयों को विस्तार से रखा, वह उनकी ग्राम जीवन से संबंधित संपूर्ण रचनाओं का निचोड़ है। यहाँ मात्र तत्कालीन समाज का सच नहीं दिखाता, किसान समाज का

भविष्य भी नज़र आता है।''[2] हिन्दी साहित्य के प्रेमचंद अपने अंतिम दौर में पहले यथार्थवादी लेखक माने जा सकते हैं।

प्रेमचंद के बाद हिन्दी में किसान जीवन पर यथार्थवादी उपन्यास नहीं दिखाई देते हैं।'' यह भीषण दुर्भाग्य ही है कि प्रेमचंद आज भी हमारे लिए प्रासंगिक और समकालीन हैं क्योंकि न ही किसानों और जमीन की समस्या हल हुई, न भूमिहीन मजदूरों को श्रम-शोषण से मुक्ति मिली। बल्कि उसमें स्त्रियों, दलितों, आदिवासियों और अल्पसंख्यकों के नए आयाम और जुड़ गए। प्रेमचंद की परंपरा का अर्थ ठीक उन्हीं की तरह और सिर्फ उन्हीं पात्रों पर लिखना नहीं है। प्रेमचंद की संवेदना, सरोकार और दृष्टि ही उनकी परंपरा है जिसे हम आज जल, जमीन और जंगल के असमानवितरण के संघर्ष में देखते हैं। आज भी वहीं कर्ज़ों में किसानों की आत्महत्याएँ, कोई वैकल्पिक व्यवस्था दिए बिना विकास के नाम पर ह्रदय-हीन विस्थापन और वही रोजगार के लिए शहरों में पलायन। बढ़ती झुग्गी-झोंपड़ियाँ और उन पर चलते बुल्डोज़र या रोज लगाई जाती आग।''[3] समकालीन लेखक यथार्थवादी उपन्यास क्यों नहीं लिख पा रहें हैं? उनके उपन्यासिक यथार्थ और समाज के यथार्थ में इतना ज्यादा फासला क्यों नजर आता है? यह विचारणीय प्रश्न है। अधिकांश उपन्यासों में आधा-अधूरा और लेखक का मनोगत यथार्थ नजर आता है। लेखक का अपना गाँवया अपना शहर कथा साहित्य में दिखाई पड़ता है। समकालीन उपन्यासों में शहर, गाँव के चित्रण और उनके घटना-क्रम पढ़ कर लगता है कि लेखक इन घटनाओं का विवरण किसी दूसरी दुनिया से दे रहा है। यह लेखक की अपनी बनाई दुनिया जान पड़ती है।

प्रेमचंद के बाद हिन्दी उपन्यास में किसान जीवन की झलक कुछ रचनाकारों तक सिमटकर रह गई। जिस में फणीश्वरनाथ रेणु,नागार्जुन, जगदीश चंद्र,संजीव आदि। मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि हर कोई किसानों की कहानी ही लिखे। लेकिन जो रचनाकार किसान परिवार से आते हैं और अपनी रचनाओं के इतर जब-तब किसान और गांव की बात-चीत करते हैं उनसे यह स्वाभाविक उम्मीद होने लगती है। विशेषकर तब जब देश में किसानों का संकट और उनकी आत्महत्याएं लगातार बढ़ती जा रही हैं। ''प्रेमचंद ने जिस तरह गांव की मुक्म्मल तस्वीर खींची और जिस तरह से उन्होंने कृषि-व्यवस्था और किसान-वर्ग की समस्याओं को समग्रता में उजागर किया, वह अपने आप में एक बड़ी मिसाल है। होरी से गोबर तक सोच की एक यात्रा

भीदिखती है। कृषि- समस्या और जन-समस्या वहाँ एक दूसरे से घुल-मिल गई हैं। वहाँ तत्कालीन कृषि-व्यवस्था और किसानों के बारे में पर्याप्त विवरण मिलते हैं।''[4]

प्रेमचंद के लेखन के बाद अधिकांश लेखकों ने हिन्दी उपन्यास में गांव का अपना-अपना यथार्थ गाना शुरू कर दिया। ऊपर से किसान का वस्तुनिष्ठ यथार्थ उपन्यासों से गायब सा हो गया। ''स्वतंत्र्योत्तर प्रथम दशक वाले कथा साहित्य में तो ग्राम कथा को हिन्दी कथा साहित्य का सम्मान मिला था। और विवेकी राय, शिवप्रसाद सिंह, नागार्जुन, रेणु, रामदरश मिश्र, श्रीलाल शुक्ल,अमरकांत, शैलेश मटियानी, और भैरव प्रसाद गुप्त आदि एक लंबी कतार ग्राम पर लिखने वाली की थी। तब सरकार का भी ध्यान गांव की ओर था। विकास योजनाएँ असली रूप में ग्रामोन्मुख थी। पर इसके बाद नगर बोध, इंडिया बोध, आधुनिकता बोध आदि की चकाचौंध बढती गयी। विकास के अमानवीकरण की चमक के साथ गांव की उपेक्षा बढ़ती गयी और नगर के सुविधा से युक्ति परिवेश में बैठकर लिखा जाने वाला गांव से जुड़ा साहित्य फैशनेबुल ज्यादा होने लगा।''[5] अधिकांश समकालीन लेखक शहर में रहने लगे हैं और उनके लिए गांव और किसान अपने से बाहर की चीज़ होती जा रही है। गांव की कृषि-अर्थव्यवस्था और किसान जीवन आ रहे बदलाव और सकंट को दूर से बाहरी पर्वेक्षक के रूप में देख और समझ रहे हैं। इस कारण से भी गांव की कृषि-अर्थव्यवस्था का यथार्थपूर्ण चित्रण नहीं कर पा रहे हैं। समकालीन समय में बहुत से लिखकों ने गांव पर लिखने की कोशिश भी की हैं। पर वह किसान सकंट की जटिलताओं को सामने नहीं ला पा रहें हैं। ''पिछले कुछ दशकों में संजीव, अरुण प्रकाश, विजयकान्त, चंद्रकिशोर जायसवाल, रामधारी सिंह दिवाकर, पुन्नी सिंह, महेश कटारे, शिवमूर्ति, ह्रषिकेश सुलभ, कर्मेन्दु शिशिर, अखिलेश,मदन मोहन, संजय खाती, भगवानदास मोरवाल मैत्रेयी पुष्पा, जयप्रकाश कर्दम, जयनन्दन, एस.आर. हरनोट आदि ऐसे कई कथाकार सामने आए हैं जिन्होंने अपनी कथा रचना के माध्यम से ग्रामीण समाज के सच को सामने लाने का अथक प्रयास किया। इनकी कहानियों से ग्राम्य-समाज के लोगों की घरेलू परिवारिक ज़िंदगी और आपसी संबंध,आर्थिक-राजनीतिक समीकरण, जाति-धर्म और लिंगगत मसले पर काफ़ी बातें सशक्त रूप में सामने आती हैं। लेकिन ध्यान देने की बात है कि कुछेक अपवादों को छोड़ कर कृषि-व्यवस्था और किसानों के जीवन में आ रहे नए नए संकटों और परेशानियों का सवाल इनकी कहानियों में अनुपस्थित है। दुखद तो यह भी है कि कुछ रचनाकारों को गांव कीकथा के नाम पर खेतों में फसलों

की जगह नग्न देह नज़र आती है और वे पोर्नोग्राफ़ी में आनंद लेने लगते हैं। कुछ को नदी-नाले दिखते पानी पर ही केलि-क्रीडा का दृश्य रचने में मज़ा आता है। इन कामदग्ध रचनाकारों के बारे में ज़्यादा चर्चा न करना ही बेहतर होगा। लेकिन सवाल है कि जो रचनाकार के अन्य समकालीन चिंताओं से इतनी प्रतिबद्धता के साथ टकराते हैं, वह भी क्या किसान और कृषि-व्यवस्था के मसले पर कुछ सोचते हैं?''[6] ऐसे रचनाकारों की रचनाओं में गांव बहुत आदर्शवादी रूप में दिखाई पड़ते हैं। गांव के लोगों को बहुत 'मासूम' सीधा-सादा दिखाते हैं। जब कि गांव कि सच्चाई एकदम उलट दिखाई पड़ती है। गांव की समस्याएँ लगातार जटिल होती जा रही हैं। किसान इन जटिल समस्याओं की वजह से मौत को गले लगा रहा है। क्या रचनाकारों को गांव की सच्चाई और किसानों की संरचनात्मक हत्याओं को लिखने से कोई रोकता है? यह काफ़ी जटिल सवाल है। इसका सीधा-सीधा उत्तर खोज़ना मुश्किल लगता है, इस सवाल को लेकर हिन्दी के कुछ रचनाकारों ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। समकालीन रचनाकार मेहनतकश किसान वर्ग का यथार्थ अपनी रचनाओं में किन-किन कारणों से नहीं दिखा पाते हैं।

''आज के लेखकों के जीवन पर नज़र डालें तो स्पष्ट होता है कि ग्रामीण क्षेत्र अथवा मज़दूर-दस्तकार परिवार में जन्में और पले-बढ़े लेखकों को भी कालांतर में रोज़गार के लिए शहर की ओर भागने को मज़बूर होना पड़ता है। धीरे-धीरे पीछे छूटे अपने परिवेशसे उनका तादात्म्य घटता जाता है। वहां की ज़िंदगी की नब्ज़ पर पकड़ ढ़ीली पड़ती जाती है। लिखने के लिए उनके पास स्मृति का ही सहारा रह जाता है । जिसकी कौंध भी वक़्त के साथ मंद पड़ती जाती है और जो उसी ग्रामीण परिवेश में रहने और झेलने-भोगने को अभिशप्त होते हैं। उनकी सारी ऊर्जा इन विषम परिस्थितियों से लड़ने में ही ख़र्च हो जाती है। उनके पास इतना अवकाश ही नहीं बचता कि वे अपने संघर्ष को रचना का रुप देने के लिए आवश्यक इत्मीनान और लेखनीय कौशल अर्जित कर सकें। धीरे-धीरे लेखन उनके सरोकार से बाहर चला जाता है। इसे तरह उस समाज से संबंधित साहित्य का दोहरा नुकसान होता है। जो झेलता-भोगता है उसका लिखना छूट जाता है। जो लिखता है उसका झेलना- भोगना छूट जाता है।''[7]-शिवमूर्ति

सामाजिक-राजनैतिक आंदोलन से रचनाकार दूरी बनाते जा रहे हैं, इस कारण भी वे किसानों की तकलीफ़ों को नहीं लिख पा रहे हैं। 'यह जो नए कथाकारों का उभार

आया है उनके अधिसंख्य या तो ऐसे आंदोलनों से अलग हैं, या उनकी जड़े उस मिट्टी में नहीं हैं, कभी रहीं भी हों तो उनकी प्राथमिकताएं बदल गई हैं। इस व्यक्तिवादी दौर में इनके उपजीव्य जुदा हैं, इनका लक्ष्य कैरियर है, छापना है, साहित्य मे स्थापित हो कर नई बुलंदियाँ (नाम, यश, पैसा) छूना है। इनमें पूर्ववर्ती पीढ़ी से ज़्यादा स्कोप है, मगर इनकी प्रतिभा कला की कशीदाकारी में जाया हो रही है।–संजीव

'साहित्य में ज़िंदगी के सभी पहलू, सभी समस्याएं और सभी संघर्ष आने चाहिए, लेकिन कैसे हो यह थोड़ी जहमत और मशक़्क़त का काम है। रहेंगे दिल्ली में, कलकत्ता-बंबई में, पटना-बनारस-इलाहाबाद-लखनऊ में और लिखेंगे, खेतिहर समाज के बारे में! जाएंगे तीज-त्यौहार या गमी-खुशी के मौक़े पर दो-चार दिन के लिए गाँव;फिर लौट कर लिखेंगे, कहानी-संभव है यह...एक विडंबना और भी है। आप उन कहानीकारों के लिए क्या कहते हैं जो छोटे शहरोंऔरक़स्बों में रहते हैं, खेतिहर समाज और देहात के संपर्क में हैं, उनकी कहानियां भी लिखते हैं लेकिन स्वीकृति और पहचान न मिलने के कारण दिल्ली जैसी या दिल्ली की रुचि की कहानियां भी लिखने के लिए विवश होते हैं?'-काशीनाथ

'साहित्य की इस स्थिति के लिए आलोचक-संपादक ज़िम्मेदार हैं, क्योंकि वे स्वतंत्र नहीं होते, वे मालिकों के गुलाम हैं। उन्हें लाखों रुपए मेहनताना मिलते हैं, पर विचार-स्वतंत्रता नहीं। सारे पुरस्कार बड़े घराने दे रहे हैं इसलिए उनके मनोनुकूल लेखन हो रहा है। लेखक को अमेरिका और फोर्ड फाउंडेशन के योग्य बनना है, क्योंकि वहाँ से पैसा मिलना है। लेखकीय स्वतंत्रता पर पहले सरकार सेंसर लगाती थी तो हंगामा होता था, पर मीडिया-मालिक और साहित्यिक पत्रिकाओं के अघोषित मालिक जिस तरह का सेंसर लगा रहे हैं, वह 75 के आपातकाल से कई गुना बड़ा है।' -तुलसीराम

'समाज में सबसे निचली सीढ़ी पर बैठकर, भारत की आज़ादी से पूर्व, आज से साठ साल पहले की तरह, अपने को मिटाकर देश के लिए उत्पादन में जुटे खेतिहर या छोटे किसान, मज़दूर अथवा दस्तकार, संक्षेप में- मेहनतकश इंसान के संकटों-संघर्षों की ओर देखने की किसी को अब फुरसत नहीं है। कथाकारों को तो हरगिज नहीं।'-विद्यासागर नौटियाल

'आज के हमारे सफल लेखक वे हैं जिनकी पूछ विदेश में है। वे बाहर के सेमीनारों में कितना जाते हैं इससे उनका बड़ा होना साबित होता है। यही लोग निर्माता हैं,

पुरस्कार प्रदाता हैं और यही पुरस्कार विजेता भी हैं। यहीं अच्छे-बुरे के निर्णायक भी हैं।...आज कृषि संकट में हैं, किसान आत्महत्याएं कर रहे हैं क्योंकि बाज़ार के कारण कृषि का निजीकरण हुआ है। सफल लेखक भी सफल लोगों की ओर ज़्यादा ध्यान देते हैं इसलिए उन्हें ये किसान नहीं दिखते।' –अरुण कुमार

'अपनी इस साहित्यिक विरासत के आधार पर आज यही कहने को जी चाहता है किभूमंडलीकरण के आक्रामक दौर में नष्ट होती हुई ग्राम संस्कृति और आत्महत्या के लिए विवश किसानों को केंद्र में रखकर किया जाने वाला कथासृजन ही अपनी सार्थकता प्रमाणित कर सकता है। वैसे स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श, आरक्षण आदि मुद्दों के शोर-गुल में इस सवाल के दब जाने की आशंका अधिक है।' – नामवर सिंह

आजकल हिन्दी में दो विमर्श बहस के केंद्र में हैं। उनमें एक है दलित-विमर्श और दूसरा स्त्री-विमर्श। इन विमर्शों ने साहित्य में इतनी जगह घेर रखी है कि ग्रामीण जीवन के अनुभवों और संघर्षों के लिए कोई जगह बचती दिखाई नहीं देती। यदपि इन दोनों विमर्शों की जितनी ज़मीन गाँव में मौजूद है, उतनी शहरों में नहीं। लेकिन जब हवाई विमर्श की चिंता ज़्यादा हो और वास्तविक ज़मीन की जानकारी कम, तब दलित-विमर्श और स्त्री-विमर्श को गाँव तक ले जाने वाले कम ही रचनाकार मिलते हैं। वैसे भी भूमंडलीकरण के संभ्रांत नागरिक जिस तरह भारत के लोगों को जड़, दकियानूस, भाग्यवादी, आलसी और पीछे देखू मानते हैं उसी तरह शहरी जीवन के अनुभवों के कथाकार ग्रामीण जीवन के कथाकारों को भी समझते हैं। इसका असर गांव की जिंदगी पर उपन्यास और कहानियां लिखने वाले पर पड़ता है। वे हीनताग्रंथि के शिकार होते हैं और मजबूरी में नगर कथाकार बनते हैं।' -मैनेजर पाण्डेय

'साहित्य का उद्देश्य सामाजिक यथास्थिति में हस्तक्षेप करना नहीं, सौंदर्य की खोज करना है।'(गोविंद मिश्र)

लेकिन सौंदर्य भी तो तभी तक है, जब तक जीवन है, बिना संघर्ष के न जीवन बचेगा,न सौंदर्य।'(राजेंद्र यादव)

ये दोनों उदाहरण दो अलग-अलग धाराओं की ओर संकेत कर रहे हैं। जो हिन्दी साहित्य में साफ़ दिखाई पड़ती है। साहित्य जीवित मनुष्य के संघर्षों में यदि साथ खड़ा नहीं होता है, तो न वह मनुष्य की अवधारणा को स्थापित करता है न उसके

हक़ में खड़ा होता है। जब तक साहित्य खेतिहर, मज़दूर, दलित, शोषित, स्त्री की व्यथा-कथाओं का साक्षी नहीं बनता है, उनके सुख-दुःख, पीड़ा, संघर्ष को अपनी अभिव्यक्ति में शामिल नहीं करता है, तब तक साहित्य का उद्देश्य पूरा नहीं होता है।''[8]-ओमप्रकाश वाल्मीकि

यह सच बात है कि कला और साहित्य की अपनी राजनीति होती है और हर राजनीति का अपना कला और साहित्य होता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि हिन्दी साहित्य की राजनीति की ओर इशारा कर रहे है। किसानों का सामाजिक-आर्थिक शोषण करने वाली राजनीति का समर्थन करने वाले रचनाकार कभी अपनी रचनाओं में उनकी समस्याओं लेकर नहीं आएंगे। किसानों के शोषण का विरोध करने वाले रचनाकार ही उनका यथार्थ अपनी रचनाओं में लाते हैं।

फ़िर भी रचनाकारों का लगातार 'अराजनैतिक' होना और राजनैतिक सत्ता का दबाव रचनाकारों को प्रभावित तो करता है। ''प्रेमचंद के बाद वाले दौर में गांव अथवा अंचल की जमीन को छूता कथा साहित्य, साहित्य की राजनीति बनाम राजनीति के साहित्य के रूप में अधिकांश आने लगा। गांव के यथार्थ को, उसके समाज को उसकी आकृति, प्रकृति और उसकी संस्कृति को, उसकी समस्याओं को एक विशेष राजनीतिक फोकस में पेश किया जाने लगा। इस बीच अराजनैतिक कथाकार भी गांव के यथार्थ रूप में प्रस्तुत करते रहे। मगर ऐसे लोग उत्तरोत्तर अनदेखे जैसे होते गये।''[9] जिन रचनाकारों को 'अराजनैतिक' कह छोड़ दिया जाता है, दरअसलवह किसान विरोधी राजनीति का समर्थन करते हैं और यह राजनीति, सत्ता पक्ष की राजनीति भी कहलाती है। इसलिए किसान की समस्या छोड़ देते है कि यह समस्या राजनैतिक सत्ता से टकराती हैं। सभी रचनाकारों से उम्मीद भी नहीं करनी चाहिए कि वह किसान के शोषण की समस्या पर लिखेंगे। सत्ता पक्ष के रचनाकार तो कभी नहीं लिखना चाहेंगे क्योंकि सत्ता पक्ष ही तो किसानों का शोषण करता है।

देश में जब भी किसान जीवन पर बात होती है, तब गाँव पर बात होने लगती है। ग्रामीण जीवन,संस्कृति की व्याख्या होने लगती है। जबकि खेती-किसानी करने वाले किसान का सीधा शोषण-उत्पीड़न हो रहा है। इस वजह से किसानों को इस शोषण-उत्पीड़न से बचना जरूरी है जो चारों तरफ से इसका शिकार हो रहा है। सवाल गाँव का नहीं, किसानों का है।

हमारे देश के किसानों के जीवन का क्या हाल बन गया है? उनका खेती-किसानी से जुड़ा हुआ काम और उनका जीवन किस तरह से बदल रहा है? इस बदलाव में किन कारणों की महत्वपूर्ण भूमिका देखी जा सकती है? इन कारणों में दो महत्त्वपूर्ण कारण जान पड़ते हैं। एक हमारी राज्यसत्ता का चरित्र ही ऐसा है, जहाँ किसान अपने आपको उपेक्षित महसूस करते हैं। दूसरा हमारी सामाजिक-आर्थिक नीतियाँ ऐसी बनाई जा रही हैं, जो किसान जीवन के बदलाव में त्रासदीपूर्ण योगदान कर रही हैं। किसान जीवन की इस त्रासदीपूर्ण परिस्थितियों को अच्छे-बुरे प्रभाव के रूप में बांटने की कोशिश की जा रही है। इस कोशिश में किसान की वर्तमान हालत के लिए दोषी स्थितियों को भी छिपाने की कोशिश की जा रही है।

किसान के बारे में थार्नर और बेतेलहाइम ने कहा है कि किसान वह है ''जो न तो किसी को मजदूरी पर लगा सकता है और न अपनी ही श्रमशक्ति बेच सकता है।''[10] वही किसान कहा जा सकता है, किसान वही होना चाहिए जो स्वयं खेती-किसानी करता है। वैसे हमारे देश में हर ज़मीन के मालिक और खेती करने वालों को किसान की श्रेणी में माना जाता है। इसलिए किसान की श्रेणी बहुत व्यापक हो जाती है । अतः किसानों की कोई एक श्रेणी (वर्ग) नहीं बन पाती है।

किसानों को स्थूल रूप से हम चार वर्गों में बाँट सकते हैं। यह बंटवारा उनके जमीन के मालिकाना हक और जीवन शैली से कर सकते हैं। इन चार वर्गों में किसान के पास जमीन के मालिकाना हक की मात्रा घटते क्रम और किसानों की संख्या बढ़ते क्रम में देख सकते हैं। एक, बड़े किसान जिनके पास खेत पच्चीस एकड़ से ज्यादा होता है, यह किसान मुख्यतः खेती मशीनऔर मज़दूर लगा कर करते है । इनकी संख्या कम होती है, इनके पास खेती करने की कुल जमीन का ज्यादा हिस्सा होता है। दो, मध्यम किसान जिनके पास दस एकड़ से ज्यादा और पच्चीस एकड़ से कम खेत होता है और खेत में मज़दूर के साथ मालिक भी काम करते है । तीन, छोटे किसान, एक एकड़ से ज्यादा और दस एकड़ से कम खेत के मालिक को छोटा किसान माना जा सकता है। यह किसान ख़ुद खेत में काम करता है । चार, वह किसान जो एक एकड़ से कमखेत के मालिक या भूमिहीन किसान होते हैं। यह किसान खेती अपने श्रम से करते हैं और गुजारे के लिए दूसरों के खेत पर किसानी भी करते हैं। इस श्रेणी में ज़्यादातर बरगादार और किराया पर खेती लेने वाले किसान होते हैं । कुल में किसानों में इनके पास सबसे कम ज़मीन और इनकी सबसे ज्यादा

संख्या होती है। इन किसानों के आधार पर किसान जीवन की समस्याओं को देखना है। किसान समस्याएँ दो स्तर पर देखी जा सकती है। एक, इन किसानों का वर्गों के आधार पर अपना आपसी अन्तर्विरोध भी होता है और दो, सारे किसानों का राज्यसत्ता के साथ भी अन्तर्विरोध होता है।

कुछ एक जगह पर, किसी खास समय में राजसत्ता किसानों के बीच उन्हें क्षेत्र, धर्म, जाति, लिंग आदि अनेक आधारों पर बांटकर उनमें लड़ाई करा देती है। जबकि किसानों की इस हालत के लिए सीधे तौर पर राज्यसत्ता ही जिम्मेदार है। हमारी राज्यसत्ता जिन तत्वों से मिलकर बनी है इन तत्वों में देशी भूस्वामी-महाजन, देशी-विदेशी बड़े व्यापारी शामिल हैं, जिनका फायदा किसानों का शोषण-उत्पीड़न करके ही हो सकता है। आज तक जितने संशोधन और कानून राज्यसत्ता के द्वारा लाए जाते रहे हैं, उन सब संशोधन और कानूनों से राज्यसत्ता से जुड़ें तत्वों को ही सीधा फायदा मिला है या इन्हीं के फायदे और जरूरत के लिए कानून लाए गए हैं। इन सारे नीतिगत कानूनों को लाने और उनका प्रचार करने के स्तर पर राज्यसत्ता हमेशा इन्हें किसानों के फायदे के लिए बताती रही है। जबकि राज्य के रूप में हम देख सकते हैं कि जमींदारी-जागीरदारी प्रथा का उन्मूलन, भूमि हदबंदी, भूमि चकबंदी, हरित क्रान्ति, सिंचाई परियोजना सहकारिता, कृषि ऋण की व्यवस्था, जितने भी संस्थागत और तकनीकी कानून और बदलाव लाए जा रहे हैं, वह भूस्वामी जमींदार के हित के अनुसार लाए जा रहे हैं, या अंतिम रूप में इनके हित के साथ-साथ साम्राज्यवाद और देशी दलाल पूँजी के हित में ही फायदा पहुँचता देख रहा है।

जमींदारी उन्मूलन और भूमिहदबंदी कानून देश के सामंती पृष्ठभूमि के बड़े-बड़े भू-स्वामीयों के हित के अनुसार लाया गया था जिसमें जमींदार अपनी जमीन देने के एवज में बहुत मोटा मुआवजा लेता है। इस मुआवजे से वह साम्राज्यवादीपूँजी के साथ साठ-गाँठ करके उसे बढ़ाता है। जमीदारों से ली गई जमीन भी दलाल और साम्राज्यवादी पूँजी के लिए ही उपयोग की जाती है। राज्यसत्ता ने भूमि हदबंदी कानून में भी इतनी छूट दे रखी थी कि जमीदार अपनी जमीन बचाने में पूरी तरह से सफल हो जायें। इसीलिए भूमि हदबंदी (सीमा) एक परिवार के अनुसार तय नहीं की गई। बल्कि एक व्यक्ति पर हदबंदी लागू की गई इस व्यवस्था से जमीदारों ने अपनी जमीन अपने परिवार के सदस्यों व दूसरे अन्य रिश्तेदारों के नाम कर दी जिससे वह अपनी जमीन बचाने में सफल हो गए। भूमि चकबंदी और हरित क्रान्ति का भी बड़े किसान

और भूस्वामिओं को ही फायदा मिला। ये बड़े चक बनाकर ज्यादा उपज करके अपनी खेती व अन्य कारोबार चलाने लगे। हरित क्रान्ति भी भू-स्वामी, देशी-विदेशी उद्योग संस्थानों के हितों के लिए की गई थी। कृषि ऋण, सहकारिता की योजना का भी ऐसा ही हाल हुआ। कृषि ऋण और सहकारिता का फायदा बड़े किसान और जमींदारों ने ही उठाया। इस योजना में सरकारी धन काफी व्यय होता है। यह कानून ही ऐसा था कि जिसका फायदा जमीन के मालिक लोग ही उठा सकते थे। ज्यादा जमीन तो वैसे भी भू-स्वामियों के पास थी। वह राज्यसत्ता से ऋण लेकर सीमान्त और भूमिहीन मजदूरों को ऋण देकर साहूकारी और महाजनी व्यवस्था ही चालते थे। जबकि इन सारे कानूनों को किसान के विकास और देश हित में दिखाया गया। प्रतीकात्मक रूप में भू-हीन और छोटे किसानों को इसका हिस्सा बनाने का दिखावा किया गया। भू-हीन और छोटे किसानों को थोड़ा-बहुत फायदा तो मिला,वो भी बाई-प्रोडक्ट के रूप में। दरअसल इन कानूनों का असल फायदा जमींदार और भू-स्वामी को ही मिलना था। इनकी अपनी सरकार ने इन्हें पहले किसान बनाने की कोशिश की फ़िर इन्हें किसान की उपाधि से नवाजने की भरपूर कोशिश की जिसमें एक स्तर पर सफल भी हुए।

जिन सामाजिक-आर्थिक नातियों को आगे बढ़ाया जा रहा है, इनसे किसानों में खेती और जीवन से अलगाव ही बढ़ रहा है। इन नीतिगत नीतियों को भी हम दो स्तर पर देख सकते हैं। पहला, साम्राज्यवाद संरक्षित उदारीकरण की नीतियाँ हैं जिसमें सरकार पोषित बाजार के हवाले किसानों को छोड़ दिया है। इन नीतियों के तहत बाजार और पूँजी के लिए राज्यसत्ता सदैव मदद के लिए तैयार रहती है। इसके लिए राज्यसत्ता पर कोई बंदिश और सीमा नहीं लगाई जाती है। जबकि किसानों को क्या खेती करनी है, कैसा पैदावार करना है, कौन-सा खाद-बीज खरीदना है, सरकार (राज्यसत्ता) उसकी कितनी, कहाँ, कैसे मदद करेगी इसके लिए तमाम कानून और प्रतिबंध लगाए जाते हैं। इसके साथ-साथ किसान को अपने श्रम का शोषण और उत्पीड़न सहने के लिए बाजार की शर्तों पर छोड़ दिया गया है। जहाँ पर वह अपनी मर्जी के अनुसार खरीद-बेच नहीं सकता। किसान उत्पादित वस्तु का मूल्य भी बाजार ही तय करता है। किसान के उपयोग के लिए वस्तुओं की कीमत भी बाजार ही तय कर रहा है। किसानों की खेती करने की सस्ती पद्धति को राज्यसत्ता बड़े सूक्ष्म तरीके से खत्म कर देती है। किसानों पर बाजार के अनुरूप तमाम शर्तें अनिवार्य रूप से थोप दी जाती हैं। वह कौन-सा बीज खेत में बोयेगा, कौन-सी खाद और रासायनिक

दवाएं और कृषि उपकरण इस्तेमाल करेगा? यह पूँजीपतियों के हितों के अनुरूप तय किया जा रहा है। हमारे परम्परागत देशी खाद-बीज व कृषि उपकरणों को राज्यसत्ता धीरे-धीरे हटा कर खत्म कर दे रही है। कुछ एक विदेशी कम्पनियाँ खाद-बीज के पेटेंट के नाम पर अपना एकाधिकार जमा रही हैं। मनमाफिक मूल्य तय करके बेच रही हैं। इस तरह की तमाम नीतियों के कारण किसान हाशिए पर जा रहे हैं।

दूसरा, किसान भूमि का मालिक नहीं होता था। आज भी खेतों में काम करने वाले अधिकांश किसान उस जमीन के मालिक नहीं होते हैं, जिस पर वह काम करते हैं। किसान जी-तोड़ मेहनत करते हैं लेकिन इस उपज पर जमीन के मालिक का हक बन जाता है। इस वजह से भी किसान खेती से उदासीन होते जा रहे हैं। भूमिहीन और छोटे किसान तमाम संघर्ष और मेहनत के बाद जमीन का छोटा-सा टुकड़ा पाने में सफल हुए। पर यह जमीन का टुकड़ा जीविका चलाने के लिए पर्याप्त नहीं होता है। जीविका चलाने के लिए किराए या बँटाई पर और जमीन लेते हैं।

खेती करना घाटे का सौदा होता जा रहा है। पर किसान खेती करते भी जा रहे हैं क्योंकि उनके पास दूसरा विकल्प भी नहीं है। घाटे को पूरा करने के लिए किसान ऋण लेते हैं। वह सोचते हैं कि वह आगे ऋण चुका देगा पर घाटा घटने का नाम ही नहीं लेता है। ऋण भी चुकाने में असफल हो जाते हैं। ऋण का अधिकांश भाग महाजन और साहूकार से लिया जाता है। सरकारी ऋण जमीन वाले किसान को ही मिलता है। जमीन के मालिक अपनी जमीन भी किराए और बँटाई पर देते हैं। सरकार से सस्ते में ऋण लेकर किसान को ब्याज पर ऋण भी दे देते हैं। इस ऋण की दर बहुत ज्यादा होती है। जिसे किसान चुका नहीं पाते हैं और अपनी जमीन से हाथ धो बैठते हैं। वह किसान से मजदूर होकर उन्हीं खेतों में काम करने लगते हैं। सरकारी व्यवस्था बहुत ही जटिल है। इस जटिलता को न समझने से भ्रष्टाचार भी होता है। इस जटिलता और भ्रष्ट्राचार से बचने के लिए किसान महाजन, साहूकार से ऋण लेना ज्यादा उचित समझते हैं।

इन सामाजिक-आर्थिक नीतियों से किसान की जरूरत के लिए उपयोगी ढाँचा विकसित करने काकोई उपाय भी नहीं हो रहा है। किसानों को अपनी खेती प्राकृतिक संसाधनों और मौसम पर आधारित होकर करनी पड़ रही है। किसानों के लिए उपयोगी सिंचाई की व्यवस्था भी नहीं दिखाई देती है। किसानों को समय पर खाद, बीज,

बिजली भी नहीं मिलती है। किसानों के हितों के अनुरूप कोई बाजार भी नहीं मिलता है जहाँ पर वह अपनी शर्तों पर उत्पादित माल बेच सकें। खेती की जरूरत की चीजें भी आसानी से और अपनी शर्तों पर खरीद सकें। किसानों के लिए यातायात के साधन और सुविधा का भी वैसा ही हाल देख सकते हैं।

भूमण्डलीकरण, उदारवादी नीतियाँ हमारी राज्यसत्ता द्वारा लागू की जा रही हैं। इन नीतियों का असर खेती-किसानी पर भी पड़ रहा है। इन नीतियों के गर्त में सारी व्यवस्था को कुछ निजी हाथों में सौंपने का षड्यन्त्र छिपा दिख रहा है। यह नीतियाँ हर क्षेत्र में निजीकरण को बढ़ावा देने के लिए लायी गई हैं। इनका संचालन कई बड़े देश करते हैं जिन्हें हम साम्राज्यवादी देश के रूप में समझ सकते हैं। यह देश अपने देश के संकट को दूसरे देश के माध्यम हल करना चाहते हैं। देखने में यह नीतियाँ 'विकास' की तरह बड़ी आकर्षित लग सकती हैं। दुनिया में जब बराबरी नहीं है तो कोई नीति बराबर कैसे हो सकती है? इन नीतियों को कब, कहाँ कैसे लागू करना है ये साम्राज्यवादी देश ही तय करते हैं। अमरीकी और यूरोपीय किसान को जितने अवसर और विकल्प मिल सकते हैं वह क्या हमारे देश के किसानों को भी मिल सकते हैं? साम्राज्यवादी देश अपनी पसंद की सरकारों से अपने हितों के अनुरूप ही नीतियाँ लागू करवाते हैं। अपने देश के किसान को जरूरत के अनुसार सब्सिडी देते हैं जबकि हमारे देश के किसानों को सब्सिडी देने की सीमा लगवाते हैं। हमारे यहाँ आकर अपने यहाँ का उत्पादित माल बेचते हैं । हमारे यहाँ से कच्चा माल, सस्ता श्रम खरीद लेते हैं। इन 'एक समान नीतियों' का फायदा साम्राज्यवादी देश ही उठाते हैं। अपना आधिपत्य जमाते हैं, मनमाफिक मुनाफा कमाकर अपने यहाँ के संकट को टालते हैं और हमारे किसानों को त्रासदी मेंढ़केलते हैं।

हमारे देश के किसान सामंती संरचना में जकड़े हुए हैं। सामंती संरचना जाति के रूप में देखी जा सकती है। कृषि का उत्पादन जाति के अन्दर होता है। जमींदार-सामंत उच्च जाति से आते हैं। सामंतों जमीदारों के यहाँ निचली जाति के लोग उनकी खेती में काम करते हैं। यह संरचना कमोबेश उस रूप में आज भी मौजूद है। यह व्यवस्था जन्म से तय हो जाती है। कृषि और कृषि से जुड़े कारोबार का भी जाति व्यवस्था के अनुरूप संचालन होता है। यह संचालन हमारे देश के अधिकांश किसानों का शोषण और उत्पीड़न करने का छूट देता है। यह सामंती जाति व्यवस्था आर्थिक

संरचना का ही एक रूप है। जिसमें साम्राज्यवादी आर्थिक संरचना आ जाने से और जटिल हो गई है।

आज भी हमारे देश के किसान औपनिवेशिक शासन काल की तरह तिहरे शोषण-उत्पीड़न के शिकार हो रहे हैं। साम्राज्यवाद, सामंतवाद एवं महाजनी शोषण के तिहरे चक्र में पिस रहे हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक दीनता-श्रेष्ठता का भेदभाव का विस्तार भी जारी है। राज्यसत्ता की संरचनात्मक ढांचे और सामाजिक–आर्थिक नीतियों की वजह से किसान जीवन और जीविका छोड़ने को मजबूर हो रहे हैं।

पहले अध्याय का नाम 'यथार्थवाद और साहित्य' है। इस अध्याय में यथार्थ की अवधारणा को स्पष्ट किया है। यथार्थ और यथार्थवाद के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए एक विचारधारा और आन्दोलन के रूप में यथार्थवाद के उदय की पृष्ठभूमि का विश्लेषण किया गया है । यथार्थवाद के प्रमुख प्रकार और इनसे सम्बन्धित महत्वपूर्ण बहसो को सामने लाया गया है। प्रमुख विचारकों के अनुसार समाजवादी यथार्थवाद को महत्त्वपूर्ण यथार्थवाद माना गया है। साहित्य के साथ यथार्थवाद एक शैली और विचार दोनों है। साहित्य में सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि के रूप में यथार्थ एक प्रमुख मानदंड है। साहित्य में कला, कल्पना, आदर्श के सापेक्ष यथार्थवाद का सम्बन्ध और अन्तर रेखांकित किया गया है।

दूसरा अध्याय का नाम 'कृषि व्यवस्था का इतिहास' है। समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक पद्धति की सहायता से 'किसान', खेती के उद्भव और विकास प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया है। यह अध्याय तीन भागों में विभाजित है जिसमें सबसे पहले आदिम समाज लेकर दासयुग में कृषि पद्धति का विकास और उसके सम्बन्ध को उत्पादन के साधन और उत्पादन साधन के स्वामित्व के आधार पर स्थापित किया गया है। इस काल से निजी स्वामित्व का उदय हुआ और भूस्वामित्व हक़ भी पहली बार सामने आया। इसी काल से मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण संस्थागत रूप में स्थापित हुआ। यही से समाज में वर्ग विभाजन के बीज देखे जा सकते हैं।

राजव्यवस्था के विकास से सामंती व्यवस्था का दूसरा दौर आरंभ हुआ। इस काल में राज्यव्यवस्था में कई परिवर्तन आये लेकिन किसान का शोषण जारी रहा। फर्क यह है कि राज्यव्यवस्था ने अपने को मजबूत किया। इस काल में कृषि उत्पादन संबंधो में परिवर्तन देखा गया । दुनिया की अलग-अलग समाजों की सामंती व्यवस्था की

संरचना और कार्यप्रणाली का संक्षिप्त विवरण किया गया है। भारत के संदर्भ में मध्यकाल में ही भूस्वामित्व के प्रावधानों में उल्लेखनीय परिवर्तन देखा गया है। इस अध्याय में उपनिवेशिक शासन व्यवस्था में कृषि सम्बन्ध और भू-स्वामित्व के संबंधों को समझने की कोशिश की गयी है। ब्रिटिश उपनिवेशवाद और भारतीय सामंतवाद के संरचनात्मक सम्बन्ध से भारतीय किसानो को दोहरा शोषण झेलना पड़ा। इस काल के भूसम्बन्धी नीतिगत प्रावधान की झलक वर्तमान समय में भी देखी जा सकती है।

तीसरे अध्याय का नाम 'समकालीन भारत की आर्थिक व्यवस्था में कृषि की स्थिति' है। इस अध्याय में आज़ादी के बाद से कृषि व्यवस्था का मूल्यांकन किया गया है। इस मूल्यांकन को दो हिस्सों में बांटा गया है। पहला 1947 से लेकर 1990 ई. के दौर में कृषि-संबंधी कौन से प्रमुख सुधार थे? इन सुधारों का फायदा किसे मिला? यह जानने की कोशिश की गयी है। दूसरा 1990 के बाद नई आर्थिक नीतियों का कृषि क्षेत्र पर होने वाले प्रभावों का मूल्यांकन किया है। भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था की राजनीती और भारतीय राजव्यवस्था के संबंधों की विवेचना करते हुए इन समस्याओं को सम्पूर्णता में समझने का प्रयास किया गया है।

चौथे अध्याय का नाम 'समकालीन हिंदी उपन्यास में किसान जीवन का यथार्थ' है। यह शोध का केन्द्रीय अध्याय है। इस अध्याय में चयनित हिंदी उपन्यास के माध्यम से किसान जीवन के यथार्थ को समझने का प्रयास किया गयाहै। समय, काल, क्षेत्रीय विविधता में बनते हुए किसान जीवन को समग्रता में देखने के उद्देश्य से बारह उपन्यासों को आधार ग्रन्थ के रूप में चयनित किया गया है। यह उपन्यास निम्न हैं–

जगदीशचंद्र, 'धरती धन न अपना'(1972); 'जमीन तो अपनी थी'(1976); विवेकी राय, 'लोकऋण(1977); वीरेन्द्र जैन, 'डूब'(1991), 'पार' (1994); कमलाकांत त्रिपाठी, 'बेदखल',(1997); मधु कांकरिया, 'खुले गगन के लाल सितारे'(2000); विद्यासागर नौटियाल, 'यमुना के बागी बेटे'(2006); बनाफरचंद, 'जमीन',(2004); मधुकर सिंह, 'बाजात अनहद ढ़ोल',(2005); पुन्नीसिंह,'सहरना'(2010) और संजीव, 'फांस'(2015)

इस अध्याय में इन उपन्यासों में किसान जीवन का कितने यथार्थवादी ढंग से चित्रण किया गया है यह समझने का प्रयास है ।

पाँचवाँ अध्याय चयनित उपन्यासों के आधार पर 'किसान जीवन का सामजिक-सांस्कृतिक पक्ष' है। निरंतरता और परिवर्तन की सतत प्रक्रिया में किसान जीवन के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में होने वाले उल्लेखनीय सूक्ष्म और व्यापक परिवर्तन की विवेचना की गयी है। किसान के आर्थिक-राजनैतिक सम्बन्ध, सामाजिक-सांस्कृतिक संबंधों में द्वंदात्मक सम्बन्ध है। यह दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते है।

छठा और अंतिम अध्याय का नाम 'समकालीन हिंदी उपन्यासों में किसानों का राजनैतिक आन्दोलन'है। इस अध्याय में उपनिवेशिक काल से लेकर अब तक हुएप्रमुख किसान आंदोलनों की संक्षिप्त विवेचना की गयी है। विचारधारा, नेतृत्व, संगठन, रणनीति, जन-सहभागिता और उपलब्धि के आधार पर इन किसान आंदोलनों की विवेचना की गयी है। साथ ही किसान जीवन के प्रतिरोध का चयनित उपन्यासों के आधार पर यथार्थपरक विश्लेषण किया गया है।

---

[1]नगेंद्र प्रताप सिंह: प्रेमचंद और यथार्थवाद: उपन्यासों के संदर्भ में" (पीएचडी शोधप्रबंध1983 जेएनयू, नई दिल्ली.पृष्ठ संख्या 2

[2]गौरीनाथ: सवाल गांव का नहीं, किसानों का है, (संपादकीय). हंस.जनवरी. 2006,पृष्ठ संख्या 8.

[3]राजेन्द्र यादव: यातना,संघर्ष और स्वप्न,(संपादकीय). हंस.अगस्त. 2006,पृष्ठ संख्या 2.

[4]गौरीनाथ: सवाल गांव का नहीं, किसानों का है, (संपादकीय). हंस.जनवरी. 2006,पृष्ठ संख्या 7.

[5] डॉ.विवेकी राय: साक्षात्कार मंधाता राय द्वारा, (साक्षात्कार). कथादेश.मई. 2012, पृष्ठ संख्या 16

[6] गौरीनाथ: सवाल गांव का नहीं, किसानों का है,(संपादकीय). हंस.जनवरी. 2006, पृष्ठ संख्या 8.

[7]शिवमूर्ति: आज की हिन्दी कहानी और संघर्षशील आम जन (परिचर्चा). हंस. जनवरी. 2006, पृष्ठ संख्या 220.

[8]राजेन्द्र यादव (संपादकीय) आज की हिन्दी कहानी और संघर्षशील आमजन (परिचर्चा). हंस. जनवरी. 2006, पृष्ठ संख्या 208--218

[9]डॉ.विवेकी राय: साक्षात्कार मंधाता राय द्वारा, (साक्षात्कार). कथादेश.मई. 2012,पृष्ठ संख्या 16.

[10]क्रिस्टीन सिगरिस्ट: भारत में किसान संघर्ष, संपादित. (अनुवाद) आनंद कुशवाहा, गेरहार्ट हाउक, (लेख) वर्ग समाज और जाति व्यवस्था. मैक मिलियन कंपनी ऑफ इंडिया, नयी दिल्ली 1980, पृष्ठ संख्या 116.

अध्याय 1

यथार्थवाद और साहित्य

सभ्यता के प्रारम्भ में जब संवाद स्थापित करने के विकसित तरीके नहीं थे तो आदिमानव ने गुफाओं पर चित्र उकेरे। अपने आस-पास होने वाली घटनाओं को अभिव्यक्त करने का यह तरीका उसके यथार्थ के प्रति स्वाभाविक झुकाव की ओर इशारा करता है। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया रचनाकार का यह रुझान और अधिक कलात्मक और परिष्कृत रूप में निखरता गया। जीवन को जानने की जिज्ञासा और यथाशक्ति उसके वास्तविक रूप में उसे अभिव्यक्त करना, इस किस्म का यथार्थबोध मानव सभ्यता के विकास क्रम के साथक्रमशः विकसित होता गया। अपने प्रारम्भिक दौर में यथार्थबोध की यह अभिव्यक्ति इस समय तक किसी सुनिश्चित, व्यवस्थित और सुविकसित 'वाद' या आंदोलन के रूप में नहीं रही थी वरन यथार्थबोध के कुछ मौजूदा तत्वों को ही दिखाती है। एक दार्शनिक विचारधारा की आधारभूमि पर स्थापित, यथार्थवाद ने एक 'वाद' या आंदोलन के रूप में स्पष्ट अभिव्यक्ति प्राप्त की। औद्योगीकरण, शहरीकरण के साथ उभरने वाले व्यवस्थात्मक अंतर्विरोधों को वैज्ञानिक खोजों और दार्शनिक मान्यताओं ने और अधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करने में सहायता प्रदान की और चिंतन की दिशा-धारा में मूलभूत बदलाव को जन्म दिया। अपने विकास क्रम को समय के इन लम्बे काल क्रमों में तय करते हुये यथार्थबोध की प्रासांगिकता उसके निहित संदर्भों में बनी हुई है।

साहित्य और कला के क्षेत्र में कोई भी रचना किसी न किसी किस्म के परिप्रेक्ष्य या नजरिए से प्रभावित होती है। साहित्य में उपन्यास काफी लोकप्रिय और अन्य रचनाओं की तुलना में अपेक्षाकृत नयी विधा है। हालांकि साहित्य में उपन्यास की रचना में यह यथार्थबोध काफी लंबे समय से मौजूद रहा है लेकिन एक सुविचारित, सुव्यवस्थित-सुविकसित विचारधारा के रूप में उपन्यास यथार्थबोध, यथार्थवादी आंदोलनके चलतेपुष्ट हुआ।रचना की कलात्मकता-सौंदर्यशास्त्र एवं सार्थकता की दृष्टि से साहित्य में यथार्थबोध एक अहम स्थान रखता है। इसीलिए साहित्य में इसकी उपयोगिता और महत्व को समझना काफी जरूरी है। प्रस्तुत शोध अध्ययन के इस अध्याय में साहित्य का यथार्थ और यथार्थवाद से संबंध के सैद्धांतिक पक्ष का गहन समीक्षात्मक विश्लेषण किया जा रहा है। इसकी व्यवस्थित संप्रेषणात्मक समझ

विकसित करने के लिए पहले तो यथार्थ क्या है इसे स्पष्ट किया जाएगा फिर यथार्थ और यथार्थवाद में संबंध को स्थापित किया जाएगा। यथार्थवाद का आशय स्पष्ट करने के पश्चात इसके उदय की सामाजिक-दार्शनिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला जाएगा। जिन परिस्थितियों ने इसके उत्पन्न होने की दशा तय की उन्हीं परिस्थितियों ने इसके स्वरूप के विकास-क्रम को किस प्रकार निरंतर परिष्कृत किया, इसप्रक्रिया का भी विश्लेषण किया जाएगा। यथार्थवाद के विकासक्रम के तहत इसके आकार लेते स्वरूप पर प्रमुख विचारकों के मत को रखते हुये यथार्थवाद के उस स्वरूप की मान्यता को स्थापित किया जाएगा जिसे शोध में प्रयुक्त किया जाना है। अध्याय के अंत में हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद की स्थिति काजिक्र करते हुये वर्तमान समय में इसकी प्रासंगिकता से जुड़े अहम सवालों पर गौर किया जाएगा। शोध पद्धतिकी दृष्टि से यह अध्याय विश्लेषणात्मक है जिसमें सैद्धांतिक विश्लेषण करते हुये अवधारणात्मक स्पष्टता स्थापित की जायेगी। यह सैद्धांतिक विश्लेषण न सिर्फ साहित्य के सौंदर्यशास्त्र के मानदंडों के मूल्यांकन के लिए आवश्यक है बल्कि साथ ही यह अगले अध्याय के लिए एक सैद्धांतिक आधार का काम करेगा। यह आने वाले अध्याय की विवेचना और मूल्यांकन के लिए उपयोगी है जो कि इस शोध में एक क्रमबद्ध रूप से आपस में संबन्धित है।

हिंदी उपन्यास के सन्दर्भ में यथार्थवाद एक खास किस्म की विचारधारा है। मोटे तौर पर यह बींसवी शताब्दी के तीसरे दशक के आस-पास पहचान में आयी। साहित्य में यथार्थवाद के उदय के मूल में इस दौरान होने वाले सामाजिक परिवर्तनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। जैसे- वैज्ञानिक क्षेत्र में हुए अविष्कार, नवीन खोजों तथा राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले महत्वपूर्ण राजनितिक सामाजिक परिवर्तनों ने, यथार्थवादी विचारधारा के पनपने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। साहित्य के अंतर्गत यथार्थवाद की विवेचना करने से पूर्व यथार्थ क्या है इसे समझना आवश्यक है।

यथार्थ और यथार्थवाद

यथार्थ शब्द के लिए अंग्रेजी में reality शब्द प्रयुक्त होता है। यथार्थ दो पदों की संधि से बना है-यथा और अर्थ।यथा अर्थात-जैसा। अपने व्यापक रूप में यथार्थ का अर्थ है समस्त जगत।सम्पूर्ण जगत यथार्थ है। उसकी प्रत्येक वस्तु उसका प्रत्येक कण यथार्थ है। उसका प्रत्येक स्पंदन यथार्थ है। संक्षेप में यथार्थ का अर्थ है -अस्तित्व या

सत्ता।जो कुछ भी अस्तित्व में है वह यथार्थ है। यथार्थ का आशय वस्तु स्थिति के अनुरूप होता है माने जैसी वस्तु है वैसी ही स्थिति का वर्णन करना ही यथार्थ है। अन्य शब्दों में यथार्थ का तात्पर्य है कि जो वस्तु या घटना जिस प्रकार घटी है उसका वैसा ही वर्णन किया जाये। व्यक्ति एवं समाज के जीवन में अच्छाई और बुराई दोनों का ही समावेश होता है। व्यक्ति के जीवन में शक्ति दुर्बलता, कुरूपता व सौंदर्य दोनों ही विद्यमान है। जीवन के इन सभी आयामों का वास्तविक वर्णन यथार्थ परक वर्णन के तहत आता है। यथार्थ के अंतर्गत विसंगतियों वैमनस्यो कटुताओं आदि का चित्रण उनके स्वाभाविक रूप में किया जाता है। हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक गुलाबराय यथार्थ को परिभाषित करते हुये कहते हैं कि, ''यथार्थ वह है जो नित्य प्रति हमारे सामने घटता है। उसमें पाप-पुण्य धूप -छाँव और सुख-दुःख मिश्रित रहता है। यह सामान्य भाव भूमि के समतल रहता है और वर्तमान की वास्तविकता में सीमाबद्ध रहता है। स्वर्ग के स्वर्णिम सपने उसके लिए परी-देश की वस्तु है जो उसकी पहुँच के बाहर है। भविष्य उसके लिए कल्पना का खेल है। वह संसार के हाहाकार और करुण क्रंदन का यथा तथ्य वर्णन करता है। वह कठोर सत्य को कहने से नहीं हिचकिचाता है। वह वास्तविकता के नाते संसार में पाप और बुराई का विजय घोष करने में संकुचित नहीं होता।वह संसार की कलुष कालिमा पर भव्य आवरण नहीं डालना चाहता।''[1] गुलाबराय यथार्थ चित्रण की व्यापकता और गहराई को बताते हुये उसमें सन्निहित मूल्यों की तरफ भी ध्यान आकर्षित करते हैं। जिससे यह स्पष्ट होता है की यथार्थ को जीवन के इंद्रिय रूप का आकलन करने भर का मानक मात्र मानना एक सीमित दृष्टिकोण होगा। यथार्थ जीवन के मानसिक, बौद्धिक, अध्यात्मिक सभी पहलुओं को समाहित करता है। सहित्य रचना और कलाचिंतन के क्षेत्र में 'यथार्थ' कई दृष्टि से मायने रखता है। यथार्थ साहित्य रचना के सैधांतिक आधार के लिए एक प्रमुख प्रेरक दृष्टि है। इन गंभीर आरोपों का विश्लेषण हम यथार्थवाद के उदय कि पृष्ठभूमि के अध्ययन के अंतर्गत करेंगें।

यथार्थ विमर्श के रूप में एक विचार है, लेखन के रूप में एक शैली।वाद एक प्रत्यय है जिसका इस्तेमाल किसी भी शब्द में शामिल करने पर उसके अर्थ की व्याख्या को किसी विशेष पक्ष में वर्णित कर देता है। समान्यतः यह एक प्रत्यय के रूप में प्रयोग किया जाता है। यथार्थ जब तक एक अवधारणा का रूप रहता है सामान्य रहता है किन्तु जब कई चिंतकों, विद्वानों द्वारा उस अवधारणा का स्वरूप, प्रकृति, विशेषता

आदि की विवेचना एक खास दृष्टिकोण से की जाती है तब उस अवधारणा के सैद्धांतिक रूप में वैचारिक परिवर्तन आता है। और इस प्रकार एक अवधारणा वाद का रूप ले लेती है। एक विचारधारा का रूप लेते हुये साहित्य लेखन में भी वह एक शैली से एक रूप(फॉर्म)में तब्दील कर उसका स्वरुप और अधिक व्यापक हो जाता है।

यथार्थ चित्रण यथार्थवाद की एक पूर्वावश्यकता है किन्तु यह अपने आप में पूर्ण यथार्थवाद नहीं कहा जा सकता। इस तरह से यथार्थ, यथार्थवाद का तत्व य कच्चा माल (रॉ मटेरियल) है।जीवन का सविस्तार और स्पष्टतम चित्र गद्य में ही रखा जा सकता है इसीलिए उपन्यास गद्य साहित्य की अनुपम विधा है और उपन्यास की लोकप्रियता का यही कारण भी है।

यथार्थवाद और साहित्य

यथार्थ चित्रण साहित्य सृष्टि के उद्देश्य में निहित है। हिन्दी उपन्यास के आरंभिक काल में एय्यारी, तिलिस्मी उपन्यासों की बहुलता के चलते इसे अवास्तविक चित्रण का काल भी कहा गया।[2] हिन्दी उपन्यासों में अलग अलग तरीके से यथार्थ कि उपस्थिति देखने को मिल सकती है। जैसे कि- (i)कथानक का चुनाव, (ii) पात्रों की भाषा, (iii) संवाद तथा (iv) वर्णन प्रणाली। उपन्यासों में केवल तत्कालीन समाज का यथातथ्य चित्र-मात्र ही उपस्थित नहीं रहता बल्कि उनके भीतर वर्तमान परिस्थितियों को बदल देने की भी क्षमता और ललक सजीव रूप में मौजूद होती है। परिस्थितियों को बदल देने कि ललक, क्षमता और उनका पात्रों के इच्छित रूप में बदल जाना, दो अलग-अलग तत्व हैं। परिस्थितियों को बदलने की आकांक्षा तो निर्विवादित रूप से पात्रों में मौजूद रहती है लेकिन परिस्थितियों का इच्छित रूप में बदलाव केवल पात्रों पर ही निर्भर नहीं करता बल्कि इसके लिए अन्य कारक भी जिम्मेदार होते है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि सभी उपन्यासों में यथार्थ चित्रण के तत्व पाये जा सकते है। अन्य शब्दों में कहे तो लगभग सभी उपन्यासों यथार्थ चित्रण की कोई न कोई झलक मिल सकती है लेकिन सिर्फ इसी आधार पर उन्हें यथार्थवादी रचना या उपन्यास नहीं कहा जा सकता। यहाँ पर यथार्थ और यथार्थवाद में संबंध और इनके बीच के अंतर को समझना बहुत जरूरी है।

विषय, कथानक के चयन के लिहाज़ से किसी गद्यरचना उपन्यास में यथार्थ का चित्रण मिल सकता है। रचना में यथार्थ चित्रण की व्यापकता और गहराई रचना को यथार्थवाद का पूरक बनती है पर जब हम शैली और अभिव्यक्ति की कलात्मकता की दृष्टि की बात करते हैं तो इन दोनों में अंतर स्पष्ट होजाता है। जीवन की वास्तविक अनुभूति यथार्थ है और उसी वास्तविक अनुभूति का कलात्मक अभिव्यक्तिकरण यथार्थवाद है।

साहित्य लेखन में यथार्थवाद का रूप एक भौतिकवादी (फॉर्म) रूप है जिसके मूल में भौतिकवादी दर्शन है। साहित्य में इसका प्रयोग एक 'रूप' की तरह से किया जाता है। जिसके तहत रचनाकार अपनी रचना को ज्यादा से ज्यादा वास्तविक एवं एक सम्पूर्ण रूप में दिखाने का प्रयास करता है, जिसमें रचनाकार अपने नजरिये के साथ पात्रों के वास्तविक सत्य को अभिव्यक्त करता है। रचनाकार की यह व्यक्तिनिष्ठता बड़ी ही वस्तुनिष्ठता के साथ व्यक्त की जाती है। रचनाकार पात्र को अपने मनमाने तरीके से उठा-गिरा नहीं सकता। रचना का अंत उसमें वर्णित भौतिक परिस्थितियों के अनुसार ही होता है।

यथार्थवाद वर्तमान समय की स्थितियों को तो बताता ही है साथ ही वह भविष्य कैसा होगा, इस ओर भी इशारा करता है। जैसा कि शमशेर बहादुर कहते है, कोई भी यथार्थवादी साहित्यकार समाज को भला बुरा, कोमल-कठोर, सुन्दर और कुरूप आदि जिस रूप में देखता है उसको उसी रूप में चित्रित कर देता है। यहाँ किसी भी वस्तु को हेय या भाज्य नहीं माना जाता। कोई भी कलाकार तभी यथार्थवादी बनता है जब वह किसी भी घटना से चाहे वह ऐतिहासिक हो या सामाजिक, कुछ विशेष तथ्यों को चुनता है तथा उन्हें सही मायने में कला के सांचे में ढालता है। इस कार्य को करने में उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। रचना में व्यक्त समाज और पात्र का क्या भविष्य होगा इसकी ओर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अनुमानि तइशारा किया जाता है। उदाहरण के तौर पर हम मुंशी प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' के पात्र होरी को देख सकते हैं जिसका अंत यथार्थवादी नजरिये से ऐसा होना ही उचित था। होरी किसान से मजदूर बनकर मरता है। अब यह पात्र होरी, गोर्की के उपन्यास 'माँ 'का पात्र पावेल नहीं हो सकता। अगर प्रेमचंद होरी को पावेल बनाते तो वह यथार्थवादी न होकर आदर्शवादी पात्र हो जाता। सामाजिक संदर्भ रचना की दिशा एवं दशा तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । इसी संदर्भ में अगर देखें तो पावेल रूस में अपने

समय परिस्थिति का यथर्थावादी पात्र था। साहित्य का यथार्थवादी रूप का विकास भी उस समाज की भौतिक परिस्थितियों से उभरकर आता है।

यथार्थवाद विचारधारा के साथ समाज के भौतिक स्वरूप को समझने का सशक्त माध्यम है। घटनाओं व्यक्ति ,समाज के विकाश का स्वाभाविक चित्रण यथार्थ वादी चित्रण है ,इसमे किसी भी प्रकार का छेड छाड़ यथार्थवाद के स्वरूप को बदल देगा। अगर आप इसमे काल्पनिकता या आदर्श आरोपित करना चाहते हैं तो वह यथार्थ वर्णन नही होगा चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो।

यथार्थवाद के बारे में विश्लेषण करते हुये ब्रातोल ब्रेख्त के अनुसार, ''सच्चे यथर्थवाद को वास्तविकता के भीतर धसना होता है और इसे जीवन को आकार देने वाले नियमों, सामाजिक सत्यों के बीच के कार्य-कारण संबंध को सामने लाना होगा। जैसे किसी फैक्ट्री की तस्वीर, फैक्ट्री के सत्य को नहीं बता सकती लेकिन वह यह भी नहीं मानते थे कि इस बारे में सत्य को केवल उस सत्य का साक्षात्कार करने वाले व्यक्ति की आँख या दिल को उधार लेकर व्यक्त किया जा सकता है। इसके लिए कलाकार को खास तरीके से यथार्थ में हस्तक्षेप करना होगा ताकि यथार्थ के बारे में भ्रम ख़त्म हो और देखने वाला यथार्थ का वह पक्ष भी देख सके जो वह उस यथार्थ से जुड़े व्यक्ति को नहीं दिख सकता है।''[3] वास्तविकता पर यह ज़ोर सत्य के प्रति यथार्थवाद के प्रबल आग्रह को दिखाता है। यदि हम शब्द व्यंजना कि दृष्टि से विचार करे तो साहित्य में यथार्थवाद के प्रयोग के औचित्य पर रूसी साहित्यकार अनटोली लुनाचर्स्की की राय अहम है। वे कहते हैं, ''यथार्थवाद'' की संकल्पना के अर्थ का प्रश्न और इस शब्द के प्रयोग के औचित्य का प्रश्न केवल तब पैदा होता है, जब हम ''यथार्थवाद'' संज्ञा को अन्य साहित्यों के संदर्भ में प्रयोग किया जाता पाते हैं।जैसा कि मालूम है, ऐसा 19वी सदी के आंग्ल तथा रूसी साहित्यों और अन्य यूरोपीय राष्ट्रों के साहित्यों के संदर्भ में कियागया था।[4]

यथार्थवादके उदय की पृष्ठभूमि

यथार्थवाद के उदय को कोई एक निश्चित तिथि या काल में बांध पाना मुश्किल है। इसका उदय किसी खास घटना से न होकर पश्चिमी यूरोप में एक लंबे समय के दौरान घटित होने वाली विविध प्रकार की घटनाओं के प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। यथार्थवाद का विकास की प्रक्रिया पश्चिमी यूरोप में कोई एकांगी तरीके से नहीं हुआ

बल्कि यह कला के विविध क्षेत्रों में असममित तरीके से विकसित हुआ। यथार्थवाद के उदय को समझने के लिए पश्चिमी यूरोप में होने वाले सामाजिक परिवर्तनों को पृष्ठभूमि मेंरखकर ही इसे समग्रता से समझा जा सकता है।दर्शन के क्षेत्र में यथार्थवाद की मीमांसा एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। जैसा की ''ज्ञेय पदार्थों की सत्ता से स्वतंत्र है। 'यथार्थवाद की मूल मान्यताएं इस प्रकार बताई गयीं है-

(क)'वस्तुए' अर्थात ज्ञान के विषय मन से बाहर स्वतंत्र अस्तित्व रखते है।

(क)'ज्ञान' से ज्ञात पदार्थों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। पदार्थ का जैसा स्वरुप है उसका उसी रूप में ज्ञान होता है ।''[5]

डॉ हरीलाल शर्मा ''सौंदर्य की यथार्थवादी मीमांसा'में कहते हैं कि यथार्थ की जड़ें दर्शन में मिलती है और विज्ञान ने दर्शन से उसका दृष्टिकोण ग्रहण किया। विज्ञान ने इंद्रिय की उपलब्धियों को 'सत्य' का मूल-स्त्रोत स्वीकार किया, और बुद्धि को केवल वह यंत्र माना जिसके द्वारा उनमें 'व्यवस्था' उत्पन्न होती है। यथार्थवाद ने विज्ञान से उसकी तथ्यात्मक दृष्टि और विश्लेषण प्रधान प्रणाली ग्रहण किया। तथ्य और अतथ्य के अंतर को स्वीकारते हुये 'कल्पना' जो अब से पहले तक उछश्रंखल हो चली थी-जिसने मनुष्य की दृष्टि को समीप और साक्षात जगत से हटा कर दूर, मन-गढ़ंत लोको में छोड़ दिया था,वह विज्ञान के अनुशासन से नियंत्रित हो गयी थी।''[6]

14वीं शताब्दी में होने वाले सामाजिक परिवर्तन ने यूरोप में नए विचारों के लिए एक जमीन तैयार की। इस दौरान नवजागरण के समय में स्थापित अलौकिक

सत्ता पर उठे सवालों ने ईश्वर की स्वर्गीय अवधारणा को चुनौती दी और मानव जीवन की समस्यों को केंद्र में रखते हुए विचार चिंतन प्रारंभ हुआ। इसके अंतर्गत प्रकृति क्या है, जीवन क्या है, पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति आदि जैसे मूलभूत विषयों पर प्रश्न किया जाने लगा। अभी तक स्वाभाविक रूप से स्वीकार की जा रही परम्परवादी सत्ता को चुनौती मिलने लगी।

यूरोप में ज्ञानोदय के आंदोलन समाज में तमाम बुराइयों, अंधविश्वासों चर्च की निरंकुश सत्ता को चुनौती दी। कई तरह से मनुष्य पर होने वाले अत्याचार उत्पीड़न को रोकने के लिए इन आंदोलन ने तर्क को आधार बनाया। इस आंदोलन में चर्च और ईश्वर की सत्ता की जगह समाज में मनुष्य को केंद्र में लाने का प्रयास किया।

मनुष्य के सुख-दुख और अस्तित्व को नियति की देन भर न मान कर उसके कारण और समाधान खोजा जाने लगा।

मानव के वास्तविक जीवन की व्यावहारिक समस्याओं पर सवाल पूछना ही अपने आप में एक क्रांतिकारी आंदोलन था। दर्शन के क्षेत्र में भी परंपरागत भाववादी दर्शन पर प्रश्न किये जाने लगे । दर्शन के क्षेत्र में भी जीवन और वस्तु से संबन्धित इन विषयों की भौतिकवादी व्याख्याएं होने लगीं। इससे पहले अब तक के दर्शन के केंद्र में भाववाद था किन्तु भौतिकवादी दर्शन के उदय ने भाववाद को चुनौती देते हुए अपने को दार्शनिक चिंतन का केंद्र बनाया। रेने देकार्त जिनको आधुनिक दर्शन का पिता माना जाता है, ने दर्शन के क्षेत्र में वैज्ञानिक प्रणाली की सर्वोच्चता को स्थापित किया। देकार्त ने 'सत्य' को जानने के लिए 'बुद्धिवाद पद्धति का समर्थन किया। जिसके अनुसार किसी भी विषय को तब तक सत्य न माना जाये जब तक की उसका उचित परिक्षण न हो जाये। अर्थात पूर्णतः परीक्षित सत्य ही यथार्थ सत्य है। उन्होने सत्य को परीक्षित करने का आधार गणितीय प्रणाली को बताया। 'ज्ञेय ज्ञाता के बिना संभव नहीं है, अर्थात ज्ञान का विषय ही ज्ञाता का अस्तित्व सिद्ध करता है। ज्ञान प्राप्त करने की कौन सी पद्धति अधिक सटीक है इस बहस में वैज्ञानिकपद्धतिकी सर्वोच्चता को माना जाने लगा। विज्ञान के क्षेत्र के अलावा सामाजिक विज्ञान में भी वैज्ञानिक पद्धतिको एकमत से अपनाया जाने लगा। इसी क्रम में फ्रेडिक हीगल ने चेतना की अवधारणा को विकसित किया तथा द्वंद्वात्मक पद्धति के माध्यम से दार्शनिक चिंतन में नए सूत्र जोड़े। यह द्वंदात्मक पद्धतिदर्शन के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी विकास था। हेगल की सबसे बड़ी देन यह थी कि तत्व के स्वरुप का निर्णय द्वन्द न्याय से करता है। अतःयह द्वंद न्याय केवल विवाद की विधि नहीं, पक्ष और विपक्ष का समर्थन नहीं; परम तत्व का निर्णायक भी है। हालांकि ऐसा नहीं था की विचारधारा के इन पक्षों में जीवन संबन्धित चिंतन के सभी पहलुओं को छुआहो लेकिन इनका उदय हीअपने आप में पुरानी मान्यताओं को चुनौती देता हुएचिंतन के नए आयामों को विकसित करने वाला था। इन दार्शनिक तथा वैज्ञानिक निष्पत्तियों कोअंतर्भूत करते हुए उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्धसे एक सशक्त साहित्यिक आन्दोलन के रूप में यथार्थवाद का उद्भव हुआ।दार्शनिक विचारधार के इस विकास क्रम की प्रक्रिया में यथार्थवाद के कई स्वरूप भी विकसित हुये है जिसमें भाववादियों एवं भौतिकवादियों में यथार्थ कीअवधारणा में गुणात्मक अंतर होते हुये भी स्वरूपात्मक संबंध है।

इसी क्रम में विज्ञान में हुयी खोजों का भी महत्वपूर्ण योगदान है।चार्ल्स डार्विन के विकासवादी सिद्धांत ने मानव जीवन को देखने के नजरिये में एक क्रांतिकारी परिवर्तन किया। विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों जीवविज्ञान, भौतिक विज्ञान आदि कीनवीन खोजो ने ईश्वरीय सत्ता को चुनौती देते हुए पृथ्वी पर मानव जीवन की उत्पत्ति को नए सिरे से परिभाषित करना शुरू किया। वैज्ञानिक खोजों आविष्कार का यथार्थवाद के विकास पर प्रभाव को बताते हुये शिवकुमार मिश्र यथार्थवाद के क्रमिक उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हैं और कहते है, "19वीं शताब्दी का विज्ञान कुछ विशेष क्रांतिकारी स्थानों के साथ सामने आया। जिसमेंसर्वाधिक प्रमुख और क्रांतिकारी स्थापना के रूप में हम डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत की गणना कर सकते हैं। विकासवादी सिद्धांत ने जैसे मानव के उद्भव और विकास सम्बन्धी पूर्ववर्ती मान्यताओं का टाट ही उलट दिया उसने मनुष्य को उसके समस्त पिछले इतिहास से काटते हुए केवल परिवेश को ही उसका एक मात्र नियामक स्वीकार किया। संसार जैसा है, वही सत्य है। मनुष्य ही संसार को रचता है और वही उसमें परिष्कार भी करता है।"[7] फायरबाख की मान्यताओं ने जहां यथार्थवादी चिंतन को सशक्त आधारभूमि प्रदान की, वही नैतिकता, धर्म, अध्यात्म तथा आदर्शों पर टिकी हुई पूर्ववर्ती समस्त विचारधारा को पृष्ठभूमि में फेंक दिया।जीवन से जुड़े हुये कई नए सवालों को उठाया जाने लगा।यह सवाल सामान्य जीवन से लेकर, भूगोल, ज्ञान-विज्ञान, खगोलीय संरचना तक पर उठने लगे थे। इसी पृष्ठभूमि के आधार को लेकर वे आगे कहते हैं कि "19वी शताब्दी में यथार्थपरक दृष्टिकोण का जो भी विकास हुआ वस्तुतः उनके मूल में उन वैज्ञानिक आविष्कारों की विशेष भूमिका थी। जो क्रमशः जीवन और जगत संबंधी नयी मान्यता और नयी खोजों को लेकर एक के बाद एक हमारे समकक्ष उद्घाटित हो रहे थे। इन नए वैज्ञानिक आविष्कारों में जीवन और जगत के वास्तविक स्वरूप से संबन्धित परंपरा से चली आती हुयी रहस्यवादी धार्मिक व्याख्याओं को अमान्य ठहराते हुये ऐसे ठोस तथ्यों पर आधारित विश्लेषण और व्याख्या प्रस्तुत की कि लोगों के चिंतन, तथा जीवन और जगत को देखने और समझने वाली उनकी दृष्टि में क्रांतिकारी परिवर्तन संभव हो सका।"[8]

पृथ्वी एवं पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति की ईश्वरीय अवधारणा को नकारते हुए नए सिरे से चिंतन एवं खोज शुरू हो गयी। इस दौरान तमाम नई भौगोलिक खोजो से पृथ्वी के अन्य भाग पर उपस्थित मानव जीवन का पता चला और इस तरह नई

ज्ञान व संस्कृति स्थापित हुई। इन खोजों ने मनुष्य को सोचने पर मजबूर किया कि मानव जीवन के विकास की वर्तमान स्थिति का कारण क्या है। मानवशास्त्रीय चिंतन के तहत जीवन सम्बन्धी व्याख्या ने नियतिवाद का खंडन करते हुए वैज्ञानिक पद्धति का अनुपालन किया जिसके केंद्र में दैवीय सिद्धान्तों के बजाये कार्य-कारण सम्बन्ध, तार्किकता व वस्तुनिष्ठता थे। इसी क्रांतिकारी परिवर्तन के तहत गैलीलियों ने इस मान्यता को -पृथ्वी को सौर मण्डल का केंद्र को खारिज करते हुये नया खगोलीय सिद्धांत दिया जिसमें उसने बताया की सौरमण्डल के केंद्र में सूरज है न की पृथ्वी और पृथ्वी सूरज के चारों ओर चक्कर लगाती है। इस सिद्धान्त के चलते गैलीलियो को फांसी पर चढ़ा दिया गया। बाद में इस क्रांतिकारी सिद्धांत को और विकसित करते हुये कोपरनिकस ने समाज में स्थापित किया। समाज में नये- नये आविष्कार से यूरोपीय समाज में उत्पादन बढ़ने लगा जिसके तहत बड़े-बड़े उद्योग लगाने की जरूरत महसूस होने लगी। जिसे हम औद्योगिक क्रांति और पूंजीवाद के विकास के रूप में देख सकते है।

मार्क्स तथा एंगेल्स ने इसी क्रम में अपने द्वंदात्मक भौतिकवादी दर्शन की प्रतिष्ठा की जिसमें वस्तु या पदार्थ को प्राथमिक मानते हुए चेतना को उसके गुण रूप में स्वीकार किया गया।अपने पूर्ववर्तियों हीगल जैसे भाववादी दार्शनिकों तथा फायरबाख जैसे भौतिकवादी विचारकों की कतिपय मुख्य निष्पत्तियों से उपकृत होते हुए भी मार्क्स और एंगेल्स ने इनकी अनेक भ्रमात्मक धारणाओं का खंडन किया है ।

विज्ञान और दर्शन में आयी इस भौतिकवादी विचारधारा का प्रभाव एक सामाजिक सन्दर्भ में पड़ रहा था। यह बात गौर करने लायक है कि इन नवीन खोजों का उस समय के समाज के राजनैतिक परिदृश्य पर क्या असर पड़ा। सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि में होने वाले बदलावों के चलते राजनैतिक परिदृश्य पर क्या प्रभाव पड़ा इसके लिए ऐतिहासिकता में जाना जरूरी है। उस समय फ़्रांस की राजशाही व्यवस्था अत्यंत शोषणकारी थी। फ्रांस की शोषणात्मक राजशाही व्यवस्था के विरोध में फ़्रांस में ऐतिहासिक क्रांति हुई जिसे फ़्रांसीसी क्रांति के नाम से जाना जाता है। इस क्रांति ने सामाजिक व्यवस्था व राजनैतिक व्यवस्था के नए अर्थ खोल दिये जिनमें समानता, स्वतंत्रता तथा बंधुता प्रमुख विचार थे। जिसको आगे चलकर मनुष्य के शोषण उत्पीडन के खिलाफ एक राजनैतिक, वैचारिक आयाम के रूप मे जगह मिली। यह वह सामाजिक, राजनैतिक सन्दर्भ था जिसमें जीवन, सामाजिक सम्बन्ध, शासन व्यवस्था,

विचार-चिंतन के विषय व तरीके नए तरह से विकसित हो रहे थे। ''भौतिकवादी दर्शन, ज्ञान विज्ञान के नए-नए अविष्कार, दर्शन के क्षेत्र में होने वाले विकास और नई सामाजिक-राजनैतिक स्थिति का प्रभाव दुनिया की कला-साहित्य और संस्कृति पर भी पड़ रहा था। यूरोप में सामाजिक- राजनैतिक, ज्ञान-विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन से समाज में जो नई परिस्थितियां, सवाल पैदा हो रहे थे उनसे साहित्य के अन्दर भी नए सवाल पैदा होने लगे। साहित्य के अन्दर से समाज में बन रही नई परिस्थितियों को अभिव्यक्त करने के लिए बहस चलने लगी। अब तक का साहित्य लेखन जो कि पारम्परिक रूप से भाववादी था, को चुनौती मिलने लगी। इस अलौकिक भाववादी साहित्य में मिथक किस्से कहानियां और अलौकिक महागाथाओं का प्रचलन था। इस नए साहित्य में मनुष्य की समस्याओं को साहित्य का विषय बनाये जाने पर जोर दिया जाने लगा। मनुष्यों की इन समस्याओं को साहित्य में कैसे अभिव्यक्त किया जाये यह एक महत्वपूर्ण विचारणीय सवाल था। इस सवाल के तहत साहित्य के रूप और कथ्य दोनों को बदलने की बात होने लगी । साहित्य की भाववादी धारा ने अपने सीमाओं में रहकर भाववाद की मूल परम्परा को तोड़ने की चुनौती दी। जिस प्रकार समाज से गुलामी की जंजीरों को तोड़कर मनुष्य स्वछन्द होकर आजाद होना चाह रहा था उसी प्रकार साहित्य भी शास्त्रीय परंपरा की बेड़ियों से आजाद होना चाहता था। स्वतंत्र साहित्य और समाज का द्वंदात्मक सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते है और एक दूसरे से आदान प्रदान करते हुए सीखते है।''[9]

औद्योगीकरण का विकास इस समय की एक निर्धारक घटना थी जिसके केंद्र में पूंजीवादी व्यवस्था थी। इस नयी औद्योगिक क्रांति और पूंजीवाद के विकास ने धीरे-धीरे समाज के अंतःसंबंधों में भी परिवर्तन लाना शुरू कर दिया। जिसे हम यथार्थवादी साहित्य चिंतन में इस रूप में देख सकते है, ''नए वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप समूचे पश्चिमी जगत में औद्योगीकरण की एक ऐसी प्रक्रिया आरंभ हुयी जो सतत गतिशील है। औद्योगीकरण की इस नयी प्रक्रिया ने एक नयी सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया, फलतः नए मानवीय संबंधो का, नए मानव वर्ग का भी उदय हुआ। पूंजीवाद के नाम से प्रख्यात इस नयी सामाजिक व्यवस्था और विचारधारा ने परंपरागत व्यवस्था और उनके आपसी संबंधो को लगभग बदल ही दिया।फोटोग्राफी की खोज ने दर्शन के मायने ही बदल दिए और साथ ही एक वस्तुनिष्ठता की अनिवार्यता को भी स्थापित किया। पत्रकारिता के विकास ने भी यथार्थ चित्रण के लिए

आवश्यक आधार भूमिप्रदान की। मशीनों के अभ्युदय ने चले आ रहे मानवीय सम्बन्धों को इतना उलझा दिया कि उनकी व्याख्या कविता जैसे साहि त्यिक रूप और उसकी अपनी खास भाषा तथा अभिव्यक्ति के माध्यम से संभव ही न थी। समाज साहित्य में आने वाले परिवर्तनों के साथ-साथ राजनैतिक क्षेत्र में भी परिवर्तन आने शुरू हो गए।''[10] तमाम देशों में राजतंत्र के खिलाफ विद्रोह होने लगे। जहां हम इसे फ्रांस में फ्रांसीसी क्रांति के रूप में देख सकते है। इस फ्रांसीसी क्रांति ने एक नए फ्रांस का निर्माण किया और राजा सामंतों से सत्ता छीनकर आम जनता ने सत्ता अपने हाथ में ले ली। और राजतंत्रव्यवस्था के अत्याचारों से अपनी मुक्ति की आजादी की नयी कहानी लिखी।

साहित्य में यथार्थवाद का विकास और प्रकार

जैसा कि हम बात कर चुके हैं इसी समय में यूरोप के समाज में ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, राजनीति में बदलाव के साथ-साथ साहित्य में भी बदलाव आ रहे थे। इस साहित्यिक आंदोलन ने समाज की मुक्ति की लड़ाई से प्रभावित होकर अपने आंदोलन को शुरू किया था| साथ ही साथ समाज को मुक्ति की एक राह दिखाते हुये मुक्ति के आंदोलन को प्रभावित भी किया। उस समय की अच्छी-बुरी परिस्थितियों का वास्तविकता के साथ सामना करते हुये एक नए समाज की संकल्पना के लिए सत्ता के विरुद्ध लड़ाई लड़ना, इसमें एक गहरा यथार्थ बोध का तत्व है जो यथार्थ को समाहित करने के साथ-साथ एक यथार्थपरक आदर्श को भी लेकर चलता है। समाज में परिवर्तन के साथ ही इसका असर साहित्य में भी पड़ता है और साहित्य में नयी विधाओं, शैलियों, विषयों के रूप में देखने को मिलता है। किसी भी समाज में पैदा हुयी नयी व्यवस्था अपने अनुरूप अभिव्यक्ति के लिए एक नयी भाषा तथा साहित्य के नए रूपों की तलाश करती है। पुरानी भाषा और साहित्यिक अभिव्यक्ति नए परिवर्तनों को अभिव्यक्त करने में असक्षम होती है और यहाँ तो तीव्र औद्योगीकीकरण के परिणामस्वरूप मशीनों आदि के बढ़ते इस्तेमाल का विचार चिंतन और भाषा में भी असर दिखने लगा था| जिसके साथ ही मानवीय संबंध और संवेदनाएँ भी काफी जटिल प्रतीत होने लगी। इसी क्रम में परम्पराओं से चली आ रही कविताओं की लोकप्रियता को पृष्ठभूमि में रखते हुये उसके काव्य, लय, बिम्ब, प्रतीक भी इन्ही परिवर्तनों को समाने लाने लगे। इस कारण नयी भाषा, नयी विधाओं को गढ़ने की जरूरत महसूस होने लगी। पुरानी साहित्यिक विधाएं और काव्य और पद्य

विधाओं को पीछे छोड़ते हुये नयी गद्य विधाओं का उद्भभव हुआ। जिसको हम साहित्य में उपन्यास और कहानी के उदय के रूप में देख सकते है। रचना की इस विधा में नयी भाषा-संवेदनाएँ और नयी मानवीय सम्बन्धों की जटिलताओं को बखूबी अभिव्यक्ति किया जाने लगा। एक नयी गद्य भाषा सामने आयी और इन सबके साथ-साथ साहित्य और जीवन संबंधी समूचे दृष्टिकोण में ही रूपांतरण हुआ । गद्य विधाओं में भी उपन्यास उभरती हुयी पूंजीवादी औद्योगिक सभ्यता का प्रतिनिधि रूप बनकर सामने आया और उसे वही महत्व प्राप्त हुआ जो किसी समय जीवन को समग्रता में प्रस्तुत करने की क्षमता के कारण महाकाव्यों को प्राप्त था। इसी संबंध में राल्फ फॉक्स ने उपन्यास को पूंजीवादी सभ्यता की महान देन के रूप में स्मरण किया है। राल्फ फॉक्स के अनुसार, "मनुष्य के जीवन को सर्वांगीण रूप में जितना उपन्यास चित्रित कर सकता है, उतना साहित्य का दूसरा अंग नहीं कर सकता। उनका मानना था कि मानव जीवन की विविधता को जितना विविधता से उपन्यास चित्रित कर सकता है, उतनी विविधता से काव्य नहीं कर सकता। उपन्यास की रचना को पूंजीवादी युग के परिणाम के रूप में देखते हुये राल्फ फॉक्स ने उपन्यास को पूंजीवादी साहित्य का अपना विशिष्ट रुप कहा है।"[11]

पूंजीवाद के उदय के सापेक्ष इन परिवर्तनों, खोजों को रखकर देखने पर इनके दूरगामी परिणामों के एक नए आयाम का पता चलता है। पूंजीवाद ने अपने प्रसार और लाभ के लिए नए बाजार और कच्चे माल की खोज के लिए नयी भौगोलिक खोजों को प्रोत्साहित किया जिससे एशिया और अमेरिका जैसे महाद्वीप को यूरोपीय यात्रियों ने खोज निकाला । ये खोज पूंजीवाद के व्यापक विस्तार के लिए थी । इन भौगोलिक खोजों से पता लगे पृथ्वी पर मौजूद अन्य मानव समाजों के अस्तित्व ने मानव विज्ञान के क्षेत्र में महान जीव वैज्ञानिक डार्विन ने विकासवाद का सिद्धांत दिया। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में न्यूटन और सामाजिक विज्ञान में कार्ल मार्क्स ने पूंजीवाद की एक नयी आलोचना पेश की। उन्होने हीगल के ऐतिहासिकवाद की अवधारणा को सीधा करते हुये सामाजिक व्यवस्था के क्रमिक विकास का एक वैज्ञानिक सिद्धांत दिया जिसके अनुसार पूंजीवाद मानव सभ्यता के इतिहास का तीसरा क्रम है। इसके बाद उन्होने समाजवाद की परिकल्पना का प्रारूप पेश किया। इस समाजवादी विकास की समाजवादी परिकल्पना ने मानव सभ्यता के तमाम आयामों को प्रभावित किया। जिसमें हम दर्शन साहित्य और सामाजिक विज्ञानों के तमाम विषयों में देख सकते है।

समाज के विकास की इस द्वंदात्मक प्रक्रिया को जिस प्रकार मार्क्स ने बताया है उसी संदर्भ में लुनसचरसर्की कहते है कि, "सर्वहारा यथार्थवादी वास्तविकता को गौर से देखने से पाता है की इतिहास की मुख्य प्रेरक शक्ति वर्ग संघर्ष था, है और निकट भविष्य में भी रहेगा। समाजवादी यथार्थवादी यथार्थ को विकास के रूप में, गति के रूप, विलोमों के अनवरत संघर्ष के रूप में देखता और समझता है। किन्तु वह न सिर्फ स्थिरतावादी ही नहीं होता है, वह भाग्यवादी भी नहीं होता है: वह अपने को विकास, इस संघर्ष में सम्मिलित हुआ पाता है; वह तय करता है कि उसकी वर्गीय स्थिति क्या है, किस वर्ग से वह जुड़ा हुआ है या इस वर्ग से जुड़ने का उसका रास्ता क्या होगा; वह अपने को ऐसी सक्रिय शक्ति का रूप देता है कि प्रक्रिया इस ढंग से घटे, न कि किसी और ढंग से। वह अपने को एक ओर, एतिहासिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के रूप में और, दूसरी ओर ऐसी सक्रिय शक्ति के रूप में प्रकट करता है, जो इस प्रक्रिया के सारे क्रम का निर्धारण करती है।"[12] "आधुनिक बुर्जुवा ने, जो सामंती समाज में ध्वंसवावशेष उपजा है, वर्ग विरोध को खतम नहीं कर दिया है। उसने बस पुराने के स्थान पर नए वर्गों, पुरानी के स्थान पर उत्पीड़न की नयी अवस्थाओं और पुराने के स्थान पर संघर्ष के नए रूपों को स्थापित किया है।" [13]मार्क्स की यह अवधारणा 19 वीं शताब्दी में बहुत ही प्रभावशाली साबित हुयी। मार्क्स ने वस्तुओं की गतिशीलता को समझा और गति का मतलब आगे की ओर बढना बताया। उन्होने हेगल के वाद, प्रतिवाद संश्लेषण अवधारणा को वैज्ञानिक स्वरूप दिया। उन्होने दो वस्तुओं की टकराहट से तीसरी वस्तु पैदा होती है यही समझाने की कोशिश की। और इसी नयी तीसरी वस्तु को विकास की अवधारणा के रूप में प्रस्तुत किया। जैसे पूंजीवाद में मजदूर और मालिक की निरंतर टकराहट से एक नयी समाजवादी व्यवस्था अस्तित्वमान हो सकती है। इस समाजवादी वैज्ञानिक समाज की परिकल्पना प्रस्तुत की।

पूंजीवाद ने मानवसभ्यता का विकास को विकास का अंतिम रूप बताया या मान लिया। लेकिन यह उद्घाटित नहीं किया कि पूंजीवादी व्यवस्था किस प्रकार मनुष्य को सामंती दासता से छुड़ा कर पूंजीवाद की नयी गुलामी में फंसा देती है। मार्क्स ने इस गुलामी की प्रक्रिया की व्यवस्थिति-क्रमबद्ध और वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या करते हुये बताया कि इस गुलामी से मनुष्य की मुक्ति संभव है और इसका रास्ता भी बताया। उन्होने मानव सभ्यता की गतिशीलता का वैज्ञानिक प्रारूप तैयार किया।

मानव जीवन की समस्या की वास्तविक रूप में व्याख्या और उसका व्यावहारिक समाधान यह यथार्थ बोध परक दृष्टि स्थापित करती है कि मार्क्सवादी चिंतन यथार्थवादी चिंतन है। मार्क्स का प्रभाव दुनिया के हर क्षेत्र पर पड़ा। मार्क्स से प्रभावित हो कर साहित्य का लेखन भी शुरू होने लगा। इस लेखन के केंद्र में पूंजीवाद से मनुष्य की मुक्ति की कहानी लिखी जाने लगी। ये सवाल आने लगा कि मनुष्य को गतिशीलता के साथ मनुष्य के रूप में ही पेश किया जाए। साहित्य में मनुष्य की भौतिकवादी वास्तविक स्थिति दर्ज की जाने लगी। मनुष्य की भविष्य की कल्पना प्रस्तुत की जाने लगी। यह कल्पना उसकी भौतिक वादी स्वरूप की गतिशीलता के साथ थी। समाज आगे की तरफ़ विकास करता है पीछे छूटे हुये इतिहास की तरफ समाज की गति नहीं हो सकती। आगे की तरफ़ साहित्य में मनुष्य का वास्तविक जीवन प्रस्तुत करेगा साहित्य में वहीं यथार्थवाद होगा। जैसे- अगर भारत में कोई राम राज्य के लिए किसी कहानी का नायक गढ़ता है जो राम-राज्य लाएगा, वह यथार्थवादी नायक नहीं हो सकता क्योंकि रामराज्य की परिकल्पना इतिहास को समय के पीछे की तरफ ले जाने की कल्पना है।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि एक फॉर्म के रूप में यथार्थवाद का साहित्य में उदय उस वक्त की भौतिक परिस्थितियों की देन है। उस समय के शासन और आम जन के बीच तेज होते अंतर्विरोध और नवीन खोजों, आविष्कारों के चलते दैनिक जीवन में आए बदलावों से समाज-जीवन मूल्यों में आने वाले परिवर्तनों ने यथार्थवाद के लिए एक ठोस भौतिक आधार तैयार किया। अलग-अलग सामाजिक पृष्ठभूमि को यथार्थवाद के विविध स्वरूपों का कारण नहीं समझना चाहिये। यह ध्यान रखने की बात है कि अलग-अलग देशों की सामाजिक पृष्ठभूमि भले ही उनकी भौतिक परिस्थितियों के अनुसार किसी न किसी रूप में भिन्न होंगी, लेकिन व्यापक रूप से समग्रता में यथार्थवाद का आशय एक समान ही है। इस मुद्दे पर निकोलाइ कोनराद के विचार एकदम स्पष्ट है। उनके अनुसार , ''इन मामलों में भी प्रश्न सहजता से हल हो जाता है। ऐसा अन्यरोपण सर्वथा उचित है, क्योंकि वह इन सभी साहित्यों को 'यथार्थवाद' की संकल्पना के भिन्न-भिन्न नहीं, वरन एक ही अर्थ में यथार्थवाद कह पाने की संभावना पर आधारित है।''[14] इस तरह से यथार्थवाद के स्वरूप को समझने में इनके विचार महत्वपूर्ण साबित होते हैं । वे समाजवादी यथार्थवाद को एक व्यापक

कार्यक्रम के रूप में देखते है और उसमें बहुत सारी पद्धति का होना बताते है ऐसी पद्धति जो हमारे यहाँ अपनायी जा चुकी है और वे भी जिन्हे हमें अभी अपनाना है।

उस समय रूस में जारशाही और आम किसान वर्ग के बीच होने वाले अंतर्विरोध ने वहाँ के समाज में एक लोक-चेतना का विकास किया।चेतना सदैव एक 'दृष्टि' लिए होती है जो बताती है कि आगे का रास्ता क्या होगा। इस चेतना से निर्दिष्ट हो कर किए जाने वाले संघर्षों का अपना एक आदर्श भी होता है लेकिन यह आदर्श अपने आप में एक तरह का यथार्थ होता है मात्र कोरी कल्पना नहीं।

यथार्थवाद की विवेचना के संदर्भ में रूसी साहित्यकार निकोलाइ कोनराद के विचारों पर गौर करना चाहिये। कोनराद के अनुसार, ''साहित्य के इतिहास में यथार्थवाद शब्द का व्यापकता से प्रयोग होता आया है। लगभग सारे ही साहित्य में (विश्व-स्तर) यथार्थवाद के तत्वों की विवेचना की जाती है। बात चाहे 19वीं सदी के साहित्य की हो या यूरोपीय याएशियाई मध्य युग के साहित्य की, अथवा प्राचीन विश्व के साहित्य की, साहित्य के इतिहास संबंधी रचनाओं को देखे तो लगभग सभी में यथार्थवाद का जिक्र किया गया है।''[15] कोनराद यथार्थवाद के ऐतिहासिकता पर ज़ोर देते है। वे आगे कहते है कि, ''ऐसे में लगता है कि साहित्य में यथार्थवाद जैसे कोई निरपेक्ष प्रवर्ग है, जो या तो इतिहासोपरि है या इतिहासव्यापी, अर्थात जो ''सामान्यरुपेण' इतिहास में विद्यमान है और जो ठोस इतिहास से अपनी-अपनी सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अंतर्वस्तु से युक्त किन्हीं निश्चित चरणों में विकास करने वाले इतिहास से स्वतंत्र है।''[16]

रूस के साथ ही अन्य देशों में भी किस प्रकार भौतिक परिस्थितियों के चलते यथार्थवाद का विकास हुआ और साहित्य में यह किस प्रकार प्रतिबिम्बित हुआ इस संदर्भ में फ्रांस की सामाजिक पृष्ठभूमि कई मायने में बहुत अहम हैं। कोनराद आगे कहते हैं कि, ''यथार्थवाद' संज्ञा सर्वप्रथम उस साहित्य के संदर्भ में प्रयोग होने लगी थी, जिसके क्षेत्र में 'यथार्थवाद' शब्द पैदा ही हुआ था और जिसकी विशेषता को तब इस संज्ञा द्वारा दिखाना चाहते थे। यह 19वीं शती की दूसरी तथा तीसरी चौथाइयों का वह फ्रांसीसी साहित्य था, जिसकी सबसे सशक्त धारा का प्रतिनिधित्व उदाहरणार्थ, बाल्जाक और फ्लाबेयर की रचनाएँ करतीं थीं। इस प्रसंग में इस शब्द के प्रयोग के औचित्य में संदेह का प्रश्न भी नहीं पैदा होता। यहाँ एक ऐतिहासिक तथ्य है, जिसे

स्वीकार करना ही होगा। साहित्य में यथार्थवाद की संकल्पना के अर्थ का अध्ययन करने वाली किसी भी रचना में हमें इसे ही अपना प्रस्थान बिन्दु बनाना चाहिए।"[17]

यथार्थवादी साहित्य लेखन की प्रेरणा के लिए इन सारी घटनाओं ने एक भौतिक पृष्ठभूमि प्रदान की जिसके आधार पर यथार्थवादी साहित्य रचा गया। यथार्थवाद की दृष्टि तथ्यात्मक है। प्रकृतिवाद तथ्य को एक साधारण प्राकृतिक घटना मानता है। ये घटना ये प्रकृति के सतत विकासोन्मुख स्वरुप में सदैव घटती रहतीं है। इनके पीछे प्राकृतिक नियमों का बल है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में प्रकृतिवाद ने घटना को कला की सामग्री के रूप में प्रस्तुत किया। 'घटना' को यथा वस्तु के रूप में प्रस्तुत करना अभिव्यक्ति का लक्ष्य साबित हुआ। यदि घटनाओं को स्वाभाविक विकास क्रम में प्रस्तुत किया जाये तो उनमें एकता और व्यवस्था का उदय हो जायेगा और कलाकार या लेखक को अपनी ओर से 'नमक-मिर्च' मिलाने की जरुरत महसूस नहीं होगी।

यथार्थवाद: स्वरुप प्रमुख बहस

साहित्य और कला के क्षेत्र में यथार्थ की भूमिका पर अन्र्स्ट फिशर का मानना है कि, "कला के क्षेत्र में यथार्थवाद सम्बन्धी धारणाये बहुत लचीली और अस्पष्ट हैं। उसके अंदर कभी-कभी यथार्थ को एक दृष्टि के रूप में व्याख्यायित किया जाता है और कभी एक शैली या पद्धति के रूप में।"[18] चूंकि यथार्थ के तहत अच्छा-बुरा दोनों ही पक्ष अपनी यथास्थिति में आते है। किसी एक ही पक्ष को केंद्र में रख कर लिखी गयी रचना को प्रकृतिवाद या स्वछंदतवाद से प्रेरित बताया जाता है।यथार्थवाद क्या है?जीवन एवं समाज के वास्तविकताओं को दिखाने की आवश्यकता और ये वास्तविकताएँ वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ दोनों प्रकार के दृष्टिकोण में किस दृष्टि को अधिक महत्व दिया जा रहा है जो की इसकी वैधता का प्रमुख आधार निर्धारित करती है, इस पर बहस हुयी है। यथार्थ के संबंध में वस्तुनिष्ठता की स्थापना के लिए भौतिकवादी वस्तुओं के अस्तित्व की प्रमुखता स्पष्ट रूप से पहचानी गयी है। वस्तुओं के भौतिक आधार के बिना यथार्थ के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता है। आध्यात्मिक अलौकिक भाववादी मनोगत भावनाओं का यथार्थ के साथ कोई रिश्ता नहीं होता। यह बहस यथार्थवाद के प्रमुख स्वरूपों कि ओर इशारा करता है।इस बातको चिन्हित करते हुये रामविलास शर्माकहते हैं कि,"यथार्थवाद से संबन्धित एक समस्या उसके रूपों की है।"[19] कुछ विद्वान व्यक्तिवादी साहित्य को भी यथार्थवाद के अंतर्गत

लेते है। उनके विचार से फ्रायड के मनोविज्ञान से प्रभावित साहित्य भी यथार्थवाद का एक रूप है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण व्यक्तिनिष्ठता पर बल देता है। वे बहुत ही आत्मगत, निराशावादी, पतनशील भावनाओं के चित्रण को भी यथार्थवाद का नाम देते है। हालांकि अगर ऐसा हो तो साहित्य में कुछ भी यथार्थवाद के बाहर न हो। व्यक्ति और समाज के सही सम्बन्धों को भुला कर, समाज से विच्छिन्न, अकेले सपनों का संसार बसाने वालों को यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि उनके काल्पनिक जगत का उनके यथार्थ के संसार से कोई संबंध नहीं है। यह मनोविश्लेषणवादी यथार्थवाद साहित्य में एक दार्शनिक विचारधारा है। साहित्य में इस दार्शनिक विचार के इस्तेमाल करने से साहित्य लेखन की शैली और रूप दोनों ही बदलते है। यह यथार्थवाद कथ्य और शैली रूप को आंशिक रूप से एक दूसरे को प्रभावित करता है। एक हिसाब से यथार्थवाद का अपना रूपवाद होता है।

यथार्थवाद के साहित्य जीवन की सच्चाई को अभिव्यक्त करता है। इस सच्चाई का चुनाव लेखक अपनी सोच के अनुसार आवश्यक तत्वों को चुनता है। पर यह चुनाव सच्चाइयों का भौतिक आधार के अनुरूप भविष्योन्मुखी होता है। लेखक के चुनाव का आधार समाज के बड़े अंतर्विरोधों को ध्यान में रखकर करता है। लेखक जनता के बहुसंख्यक हिस्से के संघर्ष को अपना विषय बनाता है। यह संघर्ष किसी व्यक्ति, परिवार, गाँव, समाज किसी प्रतीक का भी हो सकता है। अगर लेखक व्यक्ति के निजी संघर्ष के अंतः संघर्ष का चुनाव करता है तो वह व्यक्ति का दर्द तो हो सकता है पर यह दर्द भौतिकवादी वस्तुनिष्ठ भी हो सकता है पर दर्द रूपी संघर्ष समाज का मुख्य संघर्ष नहीं हो सकता है। यह संघर्ष समाज के मुख्य अंतर्विरोधों से भी नहीं होता। इसीलिए समाज के लिए यह गौण बात होगी। और यह समाज में अपनी निजी कहानी की श्रेणी में आ जायेगा।यह चुनाव देखने में यथार्थ का हिस्सा लग सकता है पर यथार्थ होता नहीं है। क्योंकि उस व्यक्ति का यह अन्तः संघर्ष विकासमान नहीं होता। उपन्यास यथार्थवाद के केंद्र में आते है। इसी बात को यार्थथवाद के संदर्भ को लेकर जर्मन नाटककार ब्रेतोल ब्रेख्त कहते है, "यथार्थवाद किन्हीं खास कृतियों से जन्म नहीं ले सकता है। अपने समय की सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों के संदर्भ में यथार्थवाद पर पड़ने वाले दर्शन के प्रभाव को समझना यथार्थवाद के स्वरूप और विकास को समझने के लिए आवश्यक है।"[20] इस कर्म में दार्शनिक चिंतन के तहत अस्तित्वाद, भाववाद, प्रकृतिवाद, वैज्ञानिक भौतिकवाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद,

सामाजिक यथार्थवाद, यथार्थवाद और प्रकृतिवाद-प्रतिक्रियावाद को यथार्थवाद का रूप मानने को लेकर सैद्धांतिक रूप से मूलभूत मतभेद है। कुछ विद्वान प्रकृतिवाद को यथार्थवाद के शुरूआती दौर का हिस्सा मानते है। प्रक्रतिवादी साहित्य यह मानता है कि साहित्य में समाज, प्रकृति जहां जैसी है उसको उसी रूप में दिखाया जाना चाहिए। इसके मूल अर्थ का सन्दर्भ यह है कि जैसे फोटोग्राफी चित्रकारी और पत्रकारिता का जो काम है वही साहित्य में प्रकृतिवादी यथार्थ को माना जायेगा। जबकि यह साहित्य के एक जीवशास्त्रीय शैली के रुप में मान सकते है- जहाँ जो जैसा जीव है उसको उसी रूप में उकेरना। जबकि जीवों के आपसी अंतर्विरोध और सामाजिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अंतर्विरोध अलग-अलग होते हैं। जबकि प्रकृतिवादी इन परिस्थितियों को दर किनार करके जीवों की जो श्रंखला है उसी पर जोर देते है। मनुष्यों का जीवन एक सामाजिक परिघटना भी है और प्रकृतिवादी इस परिघटना की उपेक्षा कर देते हैं और इसी कारण वे यर्थाथवाद से अलग हो जाते है। कई प्रमुख लेखक साहित्यकार और उनकी रचनाओं को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। लियो तोल्स्तोय के विचार और लेनिन द्वारा उनकी विवेचना और लुनश्चरस्की के तोलस्तोय पर विचार का उल्लेख काफी प्रासांगिक है। यह आलोचक तोल्स्तोय के बारे में एक आदर्शवाद और यथार्थवादी विचार रखते हैं। तोल्स्तोय अपने अंतिम दौर के लेखन मेंमें यथार्थवादी तरीके से लेखन करते हैं जिसे समझना काफी महत्वपूर्ण है। इसकी समीक्षा हम समाजवादी यथार्थवाद के अंतर्गत करेंगे।

अस्तित्ववादी यथार्थवाद

साहित्य लेखन में अस्तित्वादी साहित्य व्यक्ति के निजी अनुभवों पर ज्यादा जोर देता है तथा व्यक्ति के आधार पर यथार्थ को अभिव्यक्त करने का दावा पेश करता है। वह मनुष्य की वास्तविक समग्रता को ख़ारिज करता है और व्यक्तिनिष्ठता पर जोर देता है। व्यक्तिनिष्ठता पर अत्यधिक जोर देना इसके यथार्थवादी लेखन में अवरोधक है। हालाँकि अस्तिववादी सार्त्र इसे भौतिकवाद से इसे भिन्न बताते हैं और कहते है कि, "अस्तित्ववाद पुराने भाववाद-चेतना को सत्य और संसार को मिथ्या समझने वाली विचारधारा का ही एक रूप है।"[21]इस अस्तित्वादी धारा के तहत सारे सामाजिक सरोकारों से व्यक्ति को काटकर उसे मात्र निजी अनुभवों तक ही सीमित कर दिया जाता है।

मनोविश्लेषणवादी यथार्थवाद

एक अन्य दृष्टिकोण मनोविश्लेषणवादी जिसके तहत यह माना जाता है कि साहित्य का सम्बन्ध वस्तु जगत से न होकर व्यक्ति के मस्तिष्क के यथार्थ से होता है। इस दृष्टिकोण का केंद्रीय बिन्दु व्यक्तिपरक दृष्टि होती है, वस्तुपरक नहीं। किन्तु मनोविश्लेषणवादी साहित्य भी इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करता है कि मनोविश्लेषणवाद की यह व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि भी व्यक्ति के सम्पूर्ण निजता को भेद पाने और उसे प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं है। हालांकि मनोविश्लेषणवादी साहित्य विचारों के मूल में जाने का प्रयत्न करता है किन्तु इसकी सत्य की निष्पत्ति में कितना यथार्थ है यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। वस्तुपरकता आवश्यक तो है किन्तु इसकी वैधता कितनी प्रामाणिक है इस पर जॉर्ज लुकास मूलभूत सवाल उठाते है। जॉर्ज लुकास प्रकृतिवादियों की वस्तुपरकता एवं मनोविश्लेषणवादियों की व्यक्तिपरकता, दोनों को मिथ्या घोषित करते है और 'यथार्थवाद' को दोनों से अलग करके समझने पर जोर देते है। उनका कथन है, ''यथामिथ्या, वस्तुपरकता तथा मिथ्या व्यक्तिपरकता के बीच का कोई मध्य मार्ग नहीं है। वरन इसके विपरीत वह समय के भूल-भुलैया में बिना किसी नक़्शे के भटकने वाले लोगो की तरह प्रस्तुत किये गए प्रश्नों के फलस्वरूप उत्पन्न समस्त प्रकार के झूठे असमंजसों के विरूद्ध एक सत्य तथा सही समाधानों तक पहुँचने वाला तीसरा रास्ता है।''[22]

समाजवादी यथार्थवाद

समाजवादी यथार्थवाद के अनुसार व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य व इतिहास का निर्माता है। चूँकि इतिहास का विकास वर्ग-संघर्ष के माध्यम से हुआ है अतः यह समाज निरंतर परिवर्तनशील है। समाजवादी यथार्थवाद साहित्य और कला में जीवन के यथार्थवादी चित्रण का पक्षधर है।

राजनीति, धर्म, दर्शन की भांति मार्क्स साहित्य और कला को भी विचारधारा का एक रूप मानते हुए आर्थिक-भौतिक धरातल से संबद्ध मानते हैं। इसके अनुसार आर्थिक और भौतिक धरातल में परिवर्तन होते ही समूची बाह्य संरचना में भी उसी तेजी के साथ परिवर्तन होता है। समाज के अंतर्गत क्रांतिकारी चेतना के विकास में, विचारधारा के विभिन्न रूपों- जिनमें साहित्य और कला भी शामिल है जिसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसीलिए इस प्रकार के रूपांतरों पर विचार-विश्लेषण करते हुये उत्पादन के

आर्थिक ढांचों तथा राजनैतिक, दार्शनिक और कलात्मक रूपों के बीच स्थित सूक्ष्म अंतर को स्पष्ट करने की जरूरत है। नए समाजवादी समाज की शक्ति उसका निर्माण करने में लगी हुयी जनता की आस्था, संकल्पशीलता और कर्मठता को भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। बौद्धिक जीवन में होने वाली रूपान्तरण की प्रक्रिया को भी अच्छे से समझा जा सकता है और साथ ही पिछले युगों के साहित्य एवं कलाओं का वैज्ञानिक एवं प्रामाणिक मूल्यांकन भी किया जा सकता है। मानव चरित्र के अंतर्विरोधी जटिलताओं तथा क्रियाओं को समझते तथा ग्रहण करते हुय कला की रचना की जा सकती है। इस तरह मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार साहित्य और कला से मनुष्य का संबंध उन्हे एक उपयोगितावादी दृष्टिकोण के साथ जोड़ देता है।

मार्क्सवादी विचारकों ने साहित्य और कलाओं को सर्वहारा वर्ग के लिए एक तेज और प्रभावशाली हथियार के रूप में मान्यता दी और साथ ही इस बात पर भी जोर दिया है कि इस हथियार का रूप, अन्यों की तुलना में विशिष्ट है। आर्थिक-सामाजिक जीवन की विकास प्रक्रिया में निहित कारण, साहित्य और कलाओं को निरंतर ही प्रभावित करते रहे है। किन्तु इसके फलस्वरूप विकास की नई परिस्थितियों में पहुंची साहित्य और कलाएं भी बदले में आर्थिक भौतिक जीवन को प्रभावित करती है। इसीलिए इन दोनों के बीच का संबंध घने अंतःसूत्रों से रचा द्वंदात्मक संबंध है। लुकास के अनुसार साहित्य और कलाचिंतन की ऐसी कोई दृष्टि नहीं है जिसमें यथार्थ के सत्य को इतनी केन्द्रीयता प्राप्त हो जितनी कि मार्क्सवादी के यथार्थवादी चित्रण में सत्य की सर्वोपरिता की स्थापना भौतिकवादी व्याख्या के आधार पर होती है। यथार्थवाद की भौतिकवादी व्याख्या के संदर्भ में एंगेल्स विवरणों की गहराई जिसके मूल में सत्य छिपा हुआ है, उसे खोजना जरूरी है। समाजवादी यथात्वाद के प्रवर्तक मैक्सिम गोर्की ने भी 'समाजवादी यथार्थवाद की रुपरेखा प्रस्तुत की है। 1933ई. में सोवियत लेखकों की हुई पहली कांग्रेस में मैक्सिम गोर्की ने सर्वप्रथम 'समाजवादी यथार्थवाद' का नाम लेते हुए उसके चरित्र पर प्रकाश डाला।''[23] गोर्की समाजवादी यथार्थवाद की विवेचना करते हुए आलोचनात्मक यथार्थवाद से उसका गहरा सम्बन्ध बताते है। वे आगे कहते हैं कि, ''समाजवादी यथार्थवाद' के मूल में मार्क्स, एंगेल्स तथा लेनिन द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक समाजवाद तथा द्वंदात्मक भौतिकवाद की वह

विकासमूलक धारणा है जो विरोधी तत्वों के बीच चलने वाले निरंतर संघर्ष की भूमि पर प्रतिक्षण एक नए परिवर्तन की सूचक बनती है।"[24]

यह द्वंदात्मक भौतिकवाद एक पद्दति और शैली के रूप में यथार्थवादी साहित्य में दिखाई [25]देता है। रूसी साहित्य और यथार्थवाद पर रूसी साहित्यकार अनातोली लुनाचर्स्की यथार्थवाद के समाजवादी स्वरूप पर बल देते है और कहते है कि समाजवादी यथार्थवाद ही असल यथार्थवाद है। उनका कहना है कि हमारी कला ऐसी ही शक्ति हो सकती है, जो संघर्ष और निर्माण के सामान्य क्रम पर अपरिमित प्रभाव डालती है। समाजवादी यथार्थवाद पर आने से पहले वो यथार्थवाद के स्वरूप को स्पष्ट करते है। यथार्थवाद पर अपने विचार रखते हुए वे कहते है कि "हम यथार्थ को अपने कार्य का क्षेत्र, सामग्री, कार्यभार मानते है। किन्तु यह यथार्थवाद मानव जाति का उसके सभी पहलुओं के साथ, सामंती और बुर्जुवा दासता की सभी विभीषिकाओं या आगे बढ़ते हुये अथवा अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुये पूंजीवाद की सभी नृशंसताओं के साथ चित्रण करता है। हम यथार्थ को अंगीकार करते है किन्तु उसके स्थिर रूप में नहीं- ऐसा भला हम कर भी कैसे सकते है? बल्कि सबसे पहले एक कार्यभार के तौर पर एक विकासशील परिघटना के तौर पर।"[26] इस तरह वे यथार्थवाद के एक महत्वपूर्ण तत्व गतिशीलता को चिन्हित करते है। और बताते है कि हमारा यथार्थ गतिशील है। जब यथार्थ की गतिशीलता की बात की जाती है तो मतलब है कि उस यथार्थवाद का स्वरूप मार्क्सवादी समाजवादी ही है जो कि द्वंदात्मक पद्धति पर आधारित है। यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद भी अपनी प्रकृति से ही गतिशील होता है। गति उसके सभी संघटक अंगों, कलात्मक सामान्यीकरण के साधन, तथा रूपविधान समेंत सभी अंगों की मूलभूत विशेषता है। गतिशीलता तत्व के संबंध में ब्रेख्त ने लिखा था जीवन बदलता रहता है, और उसे चित्रित करने के लिए जरूरी है कि हम चित्रण के साधनों को भी बदलते रहें। कला की सीमाओं के भीतर ही बंद रहकर उसके यथार्थवादी स्वरूप की सही समझ विकसित नहीं की जा सकती । ब्रेख्त आगे लिखते हैं, "कोई रचना यथार्थपरक है या नहीं, यह उसकी यथार्थवादी मानी जाने वाली और अपने समय समय के लिए ठीक कही ऐसी मानी जाने वाली रचनाओं से समानता अथवा असमानता सिद्ध करके ही तय नही किया जा सकता है। हर रचना के मामले में जीवन के प्रतिबिंब की मात्र अन्य प्रतिबिंबों से नहीं, बल्कि इससे भी बढ़कर स्वयं प्रतिबिंबित जीवन से तुलना की जानी चाहिये .... ।"[27]

यथार्थ के समाज के ताने-बाने के साथ संबंध को उजागर करते हुये वे आगे इसकी विवेचना करते है और किस तरह यह साहित्य एवं कला के साथ जुड़ा है उसे भी स्पष्ट करते है। कला और उसके सामाजिक महत्व के संबंध पर बल देते हुये वे कहते हैं कि सर्वहारा और उसके सहयोगी समूहों की कला का बुनियादी तौर पर यथार्थवादी होना अनिवार्य ही है। प्लेखानोव के हवाले से लुनाश्चस्र्की कहते हैं कि सभी सक्रिय वर्ग यथार्थवादी होते है। मार्क्स ने कहा था कि हमारा उद्देश्य विश्व के रहस्यों में पैठना ही नहीं है, हमारा उद्देश्य उसका पुनिर्माण करना भी है। किन्तु यदि उद्देश्य यथार्थ का संगठन करना ही हो, तब भी यह यथार्थवाद ही होगा। यथार्थवाद पर लगे नकारात्मक बुर्ज़ुवा की बारीकियों को स्पष्ट करते हुये कहते है कि विश्व इतिहास के मंच पर अपनी प्रधानता स्थापित करने के लिए बुर्जुवाजी को यथार्थवादी वर्ग ही बनना पड़ा। बुर्जुवा वर्ग में उच्च, मध्यम और निम्न बुर्जुवा वर्ग के अंतर्विरोध के चलते बुर्जुवाजी यथार्थवाद की एक नकारात्मक छवि सामने आयी। रूसी साहित्य में यथार्थवाद पर लुनाश्चस्र्की इसके उदारवादी रूप जिसमें तुर्गेनेव शामिल है; प्रतिक्रियावादी यथार्थवाद जो एक तरह से यूटोपिया को प्रतिबिम्बित करता है जिसके तहत तोलोस्टोय को रखा जा सकता है या फिर स्वछंदतवाद की ओर लौटता हुआ यथार्थवाद जो कि यथार्थ से अनिश्चयपूर्ण अपरिवर्तन है। इस क्रम में लियो तोल्स्तोय के विचार उनकी कृति 'कला क्या है', में विस्तार से मिलते हैं। शिवकुमार कहते है कि तोलस्तोय मूलतः मानवतावादी रचनाकार तथा विचारक है। उनके अनुसार उसी कला को महत्व दिया जाना चाहिए जो मानव जीवन के सर्वांगीण विकास का साधन बने, मनुष्य और मनुष्य के बीच सुविधा भोगी वर्गों द्वारा खड़ी कर दी गयी खाई को पाटते हुये समूची मनुष्यता को समानता तथा बंधुत्व के तागे में पिरोए। उनकी दृष्टि में कला का मूल प्रयोजन तो दिव्य आनंदानुभूति उत्पन्न करना है, न कोरा मन बहलाव है, वरन मनुष्य और मनुष्य के बीच संवाद का माध्यम बनना, उन्हें एक दूसरे के नजदीक लाना, एक दूसरे से जोड़ना है।

लेनिन ने तोल्स्तोय के प्रखर यथार्थ बोध, गहरी मानवीय संवेदना, तलस्पर्शी समाज दर्शन इवान समर्थ चित्रण क्षमता के आधार पर उनके कृतित्व को 'रूसी क्रांति का दर्पण' तथा उन्हे एक मूल्यांकन विरासत के रूप में स्मरण किया है। लेनिन तोल्स्तोय की रचनाओं के माध्यम से उस समय काल के विरोधाभासों और अंतर्द्वंद को देखते है। लेनिन के अनुसार, ''तोल्स्तोय कीकृतियों, विचारों, सिद्धान्त में उनके पंथ में

विरोधाभास है। तोल्स्तोय की रचनाओं की समीक्षा करते हुये लेनिन कहते हैं कि उन्होने स्वीकार तथा अस्वीकार के जिन दुहरे संदर्भों को अपनी द्वंदात्मक चिंतन के आधार पर उद्घाटित किया है वे इस बात का प्रमाण है कि उनका समूचा रचनाकार व्यक्तित्व कितने गहरे अंतर्द्वंदों तथा अंतर्विरोधों से ग्रस्त था। एक ओर तो यथार्थ का यह गहरा तथा प्रखर बोध, वृहद सामाजिक अन्यया और उसे प्रश्रय देने वालों के प्रति उनकी गहरी वितृष्णा तथा सामान्य जन के दुखों और आशाओं-आकांक्षाओं से उनका आत्मीय लगाव, तथा दूसरी ओर ईसाइयत के अपने आध्यात्मिक रंग का प्रभाव, ये सारी ही बाते तोल्स्तोय के चिंतन तथा रचनात्मक कृतित्व में अंतर्द्वंदों और अंतर्विरोधों का कारण बनी है। इन अंतर्विरोधों का कारण बताते हुए लेनिन कहते हैं कि, ''तोल्स्तोय में जो विरोधाभास पाये जाते हैं, वे तो उन अत्यंत जटिल, असंगत परिस्थितियों, सामाजिक प्रभावों एवं ऐतिहासिक परम्पराओं का बिम्ब मात्र है, जिनका सुधार के बाद के, किन्तु क्रांति से पहले के युग के रुसी समाज के विभिन्न वर्गों और तबकों की मनोवृति पर गहरा असर पड़ा था।''[28]

यथार्थवाद के स्वरूप और इसके प्रकार को लेकर बहस में जॉर्ज लुकास और ब्रेख्त के विचार प्रमुख है। इन दो प्रमुख साहित्यकारों ने अपनी विवेचना के माध्यम से यथार्थवाद के सूक्ष्म तत्वों को सामने रखा और समय, स्थान और समाज के अनुसार अलग परिस्थितियों के चलते प्रचलित विधाओं में यथार्थवाद के स्वरूप में जो भिन्नता है उसके भेद को भी स्पष्ट किया। इनके अपने वैचारिक-राजनैतिक झुकाव का असर इस विमर्श पर इस रूप में पड़ा कि बिना इस विमर्श में अपनी राजनैतिक पोजीशन को न्यायोचित ठहराने का प्रयास हुआ बल्कि इस विमर्श के चलते उनके अपने राजनैतिक मतों कि दृढ़ता का आधार ही उजागर हुआ। यथार्थवाद और आधुनिकतवाद पर ब्रेख्त और लुकास के विचारों में मतभेद दोनों के राजनैतिक विचारों के अंतर के कारण है। इनके बीच यह वैचारिक बहस कई मायने में अहम है।

दरअसल लुकास सक्रिय राजनीति से सन्यास लेकर साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में उतरे थे वही ब्रेख्त नाटककार और कवि थे इसीलिए उनकी दृष्टि यथार्थ को जीवन की समग्रता में समेंटे हुये थी। वह ये स्वीकारते है कि यथार्थवाद पर प्रवचनों के बजाय उन्होने किसानों से अधिक सीखा है। उनके अनुसार साहित्य और कला में यथार्थवाद का मसला सिर्फ कलात्मक सृजन की समस्या तक सीमित नहीं है बल्कि वह उससे कहीं महत्वपूर्ण राजनीति, दर्श और सामाजिक व्यवहार का विषय भी है। उस पर एक

आम व्यक्ति की रुचि और उसे प्रभावित करने वाले नए साहित्य रूपों एवं नयी शैलियों की खोज की दृष्टि से भी विचार करना होगा क्योंकि वर्तमान की समस्याओं का निदान अतीत की ओर लौटना नहीं हो सकता।

यथार्थवाद पर ब्रेख्त और लुकास में काफीमतभेद रहा है। ब्रेख्त के अनुसार लुकास ने 19वीं सदी के यथार्थवाद को पूजा की वस्तु बनाकर आधुनिक लेखन की उपेक्षा की है। और ब्रेख्त के अनुसार लुकास की यथार्थवाद संबंधी मान्यताएँ अपर्याप्त हैं क्योंकि उनमेंनयी परिस्थितियों के अनुकूल नए कलारूपों की ऐतिहासिक अनिवार्यता की समझ नहीं है। ब्रेख्त का मानना है कि कला में रूपवाद अनैतिहासिक चिंतन से जन्म लेता है और यथार्थवाद का भी अपना रूपवाद होता है। इस तरह ब्रेख्त नेलुकास के यथार्थवादी तिलिस्म में निहित प्रतिमानों की रूपवादी प्रकृति को पहचाना और उसका कारण लुकास की अनैतिहासिक सोच को बताया। ब्रेख्त की नजर में साहित्य की सही समझ को पैदा करने लिए उसके विकास को समझना जरूरी है। लेकिन अध्यात्मवादी तत्वमीमांसकों के चश्मे से कुछ कृतियों को जितनी आसानी से सफल सिद्ध किया जा सकता है उतनी ही आसानी से असफल भी। ब्रेख्त ने विशेष बल देकर कहा है, "जब जनता संघर्षरत हो तब वर्णन के परखे हुये सिद्धांतों, पूजनीय फार्मूलों और सुंदरता के कमी को ना बदलने वाले मानदंडों को अपनाने की कोई जरूरत नहीं है"[29] क्योंकि रूपवाद का संबंध केवल साहित्यिक कृतियों के आकार-प्रकार से नही है, उसका संबंध स्वयं यथार्थ के उत्तर कर्म से भी है। इसी मायने में ब्रेख्त की दृष्टि लुकास की अपेक्षा अधिक मूलगामी है जो यथार्थवाद को मात्र सत्ता-मीमांसा तक सीमित रखते हैं। उनका मानना है की यथार्थवाद का तरीका पुराना हो या नया उसकी धारणा व्यापक होनी चाहिए। ब्रेख्त ने लुकास के 'सिस्टम' की आलोचना करते हुये लिखा है,'यथार्थवाद किन्ही खास कृतियों से जन्म नहीं ले सकता। इसके लिए हमें नए-पुराने, परीक्षित-अपरीक्षित, कला के आधार पर बना हो या अन्य किसी आधार पर उन सभी रूपों को यथार्थ को जनता तक पहुंचाने के लिए अपनाना होगा जिसमें वे पारंगत हों। साथ ही हमें इस बात का भी पूरा खयाल रखना होगा कि एक विशेष समय के ऐतिहासिक साहित्यिक रूप-बालजाक और तोल्स्तोय के साहित्य रूप को सच्चा यथार्थवादी बता कर उसके आधार पर यथार्थवाद का कोई नितांत औपचारिक साहित्यिक मानदंड तैयार कर लिया जाए, हम केवल उसे ही लिखने की साहित्यिक शैली नहीं कहेंगे। आगे यथार्थवाद को परिभाषित करते हुये ब्रेख्त कहते है कि

यथार्थवाद का मतलब है समाज की आकस्मिक जटिलताओं का रहस्योद्घाटन, चीजों के बारे में वर्तमान दृष्टिकोण पर चढ़े शासक वर्ग के विचारों के मुखौटे को उतारना, मानव सामग्री की सर्वाधिक ज्वलंत समस्याओं का व्यापक समाधान देने वाली वर्ग-दृष्टि को लेखन में उतारना तथा विकास तत्व की प्रधानता को मानते हुये उसे मूर्त आकार देकर संभव बनाना। इनकी अभिव्यक्ति के लिए कलाकार को फेंटेसी, मौलिकता और प्रहसन की छूट देनी होगी। हम नतो ब्योरों के बोझ से दबे साहित्यिक प्रारूपों-मॉडलों पर ठहर सकते और न वर्णन के बने-बनाए नियमों से सलाहकार को बांध सकते है।''

लुकास यथार्थवाद के पैमाने पर ब्रेख्त को रूपवादी कह कर खरा नहीं मानते थे। बहुत बाद में उसने उनकी मान्यता स्वीकार की। दरअसल लुकास यथार्थ को उसके तमाम पहलुओं के साथ समग्रता में स्थापित कर सकने में कामयाब रहे थे। लुकास के लिए तोल्स्तोय और बाल्ज़ाक समकालीन यथार्थवाद के मानक-आदर्श थे।

ब्रेख्त लिखते है कि ''लुकास के निबंधों में अब भी आत्मसमर्पण, पलायन और अव्यवहारिक आदर्श मौजूद है। उनकी कृतियों में मूल्यों की जो असंतोषजनक भरमार है, उससे यह प्रभाव पड़ता है की लुकास को केवल मनोरंजन से प्रेम है, संघर्ष से नहीं। यानी आगे बढ़ने के बजाए वह पलायन करते है।''

ब्रेख्त लुकास के अंतर्विरोध को उजागर करते हुये कहते है कि एक तरफ तो वह अपने मानदंडों के विपरीत पड़ने वाले अभिव्यक्तिवादी-आधुनिकता लेखन को पतनशील और अमानवीय तकनीकी पर आधारित बुर्जुवा रूपवाद की साहित्यिक अभिव्यक्ति मानकर खारिज करते हैं दूसरी ओर उनके पूर्वजों की ओर उंगली दिखते हुये उनके पतित वंशजों को उनका अनुकरण करने की नसीहत भी देते है। ब्रेख्त की नजर में लुकास के यथार्थवाद में निहित यह स्पष्ट अंतर्विरोध उन्हे स्वयं रूपवादी आलोचक बनाता है। साहित्य अपने आप में सम्पूर्ण नहीं हो सकता । वह अन्य चीजों की तरह ही अपने इस्तेमाल की प्रक्रिया में सम्मपूर्णता प्राप्त करता है।

यथार्थवाद और हिन्दी साहित्य

जैसा कि ऊपर हुई बहसों से यह स्पष्ट होता है कि साहित्य और यथार्थवाद में गहरा संबंध है। यहाँ पर प्रश्न को एक दूसरे उच्च स्तर पर ले जाने की आवश्यकता है कि साहित्य में यथार्थवाद का प्रयोग किस रूप में मिलता है? हिंदी साहित्य पर पश्चिमी और यूरोपीय साहित्य का प्रभाव, यूरोपीय साहित्य और सोवियत रूस के साहित्य में भिन्नता तथा समानता, इनकी प्रमुख विशेषताएं, हिंदी साहित्य और यथार्थवाद में संबंध, उपन्यास साहित्य जो एक विधा-साहित्य में आने वाला परिवर्तन अर्थात महाकाव्य से गद्य का आविभार्व, साहित्य में यथार्थ और कल्पना, साहित्य में यथार्थ और आदर्श, छायावाद, प्रयोगवाद आदि में यथार्थवाद की उपस्थिति आदि जैसे कुछ मूलभूत प्रश्न काफी महत्वपूर्ण हैं।

यथार्थवादी साहित्य-चिंतन काव्य सम्बन्धी स्वछंदातावादी दृष्टि की भांति मूलतः 19वी शताब्दीकी देन है। 19वी शतब्दी में ही यथार्थवादी साहित्य चिंतन का जन्म हुआ और इसी शताब्दी में गणमान्य साहित्य-चिंतकों के माध्यम से विकास की अनेक स्थितियों से गुजरता हुआ वह प्रौढ़ता को भी प्राप्त हुआ। मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने आगे चलकर यथार्थवादी साहित्य-चिंतन को नई और क्रांतिकारी भूमिकाओं की ओर अग्रसर किया।

साहित्य में यथार्थवादी रूप,गद्य रूप से ज्यादा मुकम्मल माना जाता है। गद्य विधाओं में उपन्यास के विकास को यथार्थवाद के विकास से जोड़ कर देख सकते है। 'गद्य विधाओ में भी 'उपन्यास' उभरती हुई पूंजीवादी औद्योगिक सभ्यता का प्रतिनिधि रूप बनकर सामने आया और उसे वही महत्व प्राप्त हुआ जो किसी समय जीवन को समग्रता में प्रस्तुत करने के कई महाकाव्यों को प्राप्त हुआ। इसी सन्दर्भ में राल्स फोक्स ने उपन्यास को पूंजीवाद औद्योगिक सभ्यता के मंदी के रूप में स्मरण किया है। ध्यान देने योग्य प्रश्न है कि किसी साहित्य में ऐसी कौन सी परिस्थितियां पैदा हो जाती हैं कि जहां साहित्य को अपने अन्दर नये रुप, शैली, विधान, बिम्ब, प्रतीक को विकसित करने की जरुरत होती है। साहित्य की विधा में आने वाला यह परिवर्तन किन सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

राल्फ फॉक्स दृष्टिकोण की महत्ता को उसके सामाजिक जीवन संबंधी ज्ञान से ऊपर रख कर चित्रित करने के पक्ष में नहीं है। उनके अनुसार किसी भी रचना में प्रयुक्त 'वाद' किसी भी लेखक को कलाकार नहीं बना देता है। कलाकार बनने के लिए जीवन

दर्शन से अधिक मार्मिक सहानुभूति आवश्यक है, दृष्टिकोण से अधिक वह दृष्टि आवश्यक है जो जीवन के हर पहलू को देख सके। सामाजिक जीवन की जानकारी ही न होगी तो दृष्टिकोण बेचारा क्या करेगा। इस तरह फॉक्स ने बाहरी जीवन की परिस्थितियों के साथ मनुष्य के आंतरिक जीवन, उसके भाव जगत का चित्रण करने पर ज़ोर दिया है। वे आगे यह मान्यता स्थापित करते है कि भाव जगत और बाहरी जगत में कोई अंतर्विरोध नहीं है दोनों के समन्वय से ही भरे-पूरे यथार्थवाद का विकास हो सकता है ।

यथार्थवादी साहित्य में तथ्यों के साथ कल्पना के समावेश के बारे में बात करते हुये अन्र्स्ट ब्लाख ने 1935 में पेरिस में हुये एक व्याख्यान (मार्क्सवाद और साहित्य) में बोलते हुये कहा कि, सही यथार्थवादी साहित्य उस प्रक्रिया से संबद्ध होता है जिसके अंदर से तथ्य बड़ी ही कुशलता से निर्वासित और जड़ कर दिये गए है; यह प्रक्रिया सारग्राही सूक्ष्म कल्पना की मांग करती है जिससे उसका पुनः प्रस्तुतीकरण हो सके। और वह स्वतः इस कल्पना से ठोस रूप में बंध जाए।

यथार्थ और कला

यथार्थ और कला के संबंध में मार्क्सवादी विचारकों का मानना है कि सौंदर्यबोध को मनुष्य ने अपने बाह्य जगत से अपने लगातार बने रहे संपर्क के फलस्वरूप अर्जित किया है। "मार्क्सवाद साहित्य या कलाओं को विशिष्ट मानवीय उपलब्धियों के रूप में स्वीकार करता है जिन्हें मनुष्य ने बाह्य जगत के निरंतर संपर्क के फलस्वरूप अपने भाव जगत को पुष्ट करते हुए और अपने विचारों पर चढाते हुए अर्जित किया है।"[30] इसी क्रम में सी. काडवेल के अनुसार सौंदर्य एक सामाजिक भाव मात्र है। उसकी परिभाषा देते हुये वे कहते है कि, "जो कुछ असुंदर है उससे भिन्न जो कुछ है उसे सुंदर कहा जा सकता है... असुंदर ही सुंदर को नियत करता है, और उसे एक निश्चित सीमा में बांधता है।"[31] मार्क्सवादी चिंतक इस बात पर एकमत है कि सौंदर्य की स्थिति व्यक्ति के मन में न होकर वस्तु में होती है। सुंदर वस्तु से पृथक सौंदर्य की कोई सत्ता नहीं है। अपनी द्वंदात्मक तथा वैज्ञानिक समझ के अनुरूप अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए मार्क्सवादी साहित्य चिंतकों का मत है कि साहित्य अथवा कला में चित्रित वस्तुगत यथार्थ का यह रूप इसी कारण जीवन के प्रकृति यथार्थ की

तुलना में अधिक कलात्मक तथा ग्राह्य होता है की उसमें प्रतीत यथार्थ की अपेक्षा एक सचेत दृष्टि का योग, एक व्यवस्था, एक सौन्दर्यपरक नियोजना होतीं है।

आदर्शवाद और आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद

यथार्थ और यथार्थवाद के बीच संबंध होने के साथ साथ जिस प्रकार एक अंतर है उसी तरह आदर्श और आर्दशोन्मुख यथार्थवाद के बीच संबंध होने के साथ-साथ अंतर भी है। जहां तक बात मूलभूत अंतर की है "यथार्थ तभी तक यथार्थ रहता है जब तक कि उसमें कल्पना और आदर्श का मिश्रण नहीं होता। जिस वक्त इन तत्वों का समावेश होता है यथार्थवाद अपना स्वरूप खो देता है और बिल्कुल यही बात आदर्शवाद पर भी लागू होती है।"[32]यथार्थवाद और अदर्शवाद के बीच संबंध, अंतर और सीमा को बताते हुये डॉ गुलबराय कहते हैं कि, "सभी प्रकार के साहित्य-काव्य, नाटक,उपन्यास, कहानी में आदर्श और यथार्थ होते हैं। आदर्शवाद और यथार्थवाद कि कई श्रेणियाँ हैं। कोई भी उपन्यासकार शुद्ध यथार्थवादी नहीं हो सकता। यथार्थवाद और अदर्शवाद दोनों कि ही अपनी सीमाएं है।"[33] यहाँ आदर्श और यथार्थ के बीच संबंध भी पता चलता है। अपनी वास्तविक स्थिति के आधार पर ही हम अपने भावी जीवन में एक आदर्श की कल्पना करते है। आदर्श का आधार यथार्थ जीवन की समस्याओं पर ही आधारित होता है। इस संदर्भ में जैसा कि प्रेमचंदकहते हैं कि "किसी देवता की कल्पना करना मुश्किल नहीं, लेकिन उस देवता में प्राण प्रतिष्ठा करना मुश्किल है। इसीलिए उच्च कोटि का साहित्य वही कहा जा सकता है जिसके अंदर यथार्थ और आदर्श दोनों का समावेश हो।"[34] जैसा कि प्रेमचंद का मानना है कि आदर्श को सजीव बनाने के लिए ही यथार्थ का उपयोग होना चाहिए। यह ध्यान में रखना जरूरी है कि वास्तविक जगत के यथार्थ और साहित्यिक यथार्थ में अंतर है।

हिन्दी साहित्य के तहत यथार्थवादी चेतना के उद्भव और उसके विकास पर प्रकाश डालते हुये शिवकुमार मिश्र कहते हैं कि, "जब हम हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद के उद्भव और विकास की चर्चा करते हैं, हमें यह मानकर चलना चाहिए कि उसके बीज बड़ी प्रखर संभावनाओं के साथ भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के कृतित्व में प्रगट होते है।" ऐसा लगता है कि जिस प्रकार का कला आंदोलन पश्चिम में हुआ उसकी कल्पना शिवकुमार भारत के संदर्भ में भी करते है। उनकी इस पंक्ति से यह साफ जाहिर है कि, "यह सही है कि एक विशिष्ट जीवन दृष्टि तथा कलांदोलन के रूप में

यथार्थवाद का जो रूप पश्चिम में उभरा तथा उनके अपने समय तक पश्चिमी जगत में यथार्थवादी कला उपलब्धि के जिन चरम शिखरों को छू चुकी थी, ये लेखक उनसे अपरिचित थे, किन्तु इस अपरिचय के बावजूद हिन्दी में इन कर्मठ, ज़िंदादिल और जागरूक लेखकों ने धरती, अपने देश, अपने समाज और अपने परिवेश को खुली आँखों से निहारते हुये, नए भाव बोध तथा विज्ञान से जितना वे जुड़ सकते थे, जुडते हुये, एक जीवित सच्चाई के रूप में जो कुछ हमें दिया, वह कम महत्वपूर्ण नहीं।"[35]

निश्चय ही योगदान की दृष्टि से इन रचनाकारों का महत्व है किन्तु साहित्यकि दृष्टि से हमें लेखकों या उनकी रचनाओं से अभिभूत होने के बजाए उसे आलोचनात्मक ढंग से समझने का प्रयास करना चाहिए। अत्यधिक अभिभूतता से स्थगन आ जाने की आशंका रहती है और साहित्य के विकास के लिए यह कदापि अच्छा नहीं है। न सिर्फ एक रचनाकार के नजरिए से बल्कि एक पाठक के नजरिए से भी हमें अपनी दृष्टि को ज्यादा से ज्यादा विश्लेषणात्मक-आलोचनात्मक रखना चाहिए ताकि हम बदलते हुये समय के अनुसार रचना की प्रासंगिकता और उपादेयता को बदलते समय के बदलते मूल्यों के अनुसार समझ सके। साहित्य की परिभाषा देते हुये हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि साहित्य समाज का दर्पण है अतः समाज में आने वाले परिवर्तनों को साहित्य में भी लाना पड़ता है। साहित्य में पुराने पड़ चुके रूप, शैली, विधान, बिम्ब, प्रतीक आदि समाज में बन रही नई परिस्थितियों को अभिव्यक्त करने में सक्षम नहीं होते है इसीलिए नए फॉर्म और शैली की जरुरत होती है। यह जरुरत साहित्य की नए फॉर्म से लेकर उपन्यास के विकास के रूप में भी देख सकते हैं वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते है, "मानव जैसा अब है, अभावग्रस्त है, उसके दुख, दारिद्रता, अभावों को सुख, संपन्नता, समृद्धि में परिवर्तित करना यथार्थवाद की सच्ची विजय है।"[36] यथार्थवाद के सम्बन्ध में डॉक्टर रामअवध द्विवेदी कहते है, "यथार्थ निरूपण केवल इसी आकांक्षा से किया जाता है कि समाज के विरोधी शक्तियों पर अंतर्द्वंद का समुचित परिज्ञान हो सके और उसके फलस्वरूप समाज के दलित वर्ग का उठान और सामाजिक न्याय की प्रतिस्थापन संभव हो सके। यथार्थवाद साहित्य में हर विधा पर गहरा प्रभाव डालता है। और खासतौर पर यथार्थवाद का संदर्भ कथा साहित्य में ज्यादा ज़ोर देकर लिया जाता है।"[37]

हिंदी साहित्य में यथार्थ और आदर्श में क्या सम्बन्ध है यह स्पष्ट करना आवश्यक है। डॉ. गुलाबराय इसमें सम्बन्ध बताते हुए कहते हैं कि, "कवि या कलाकार संसार

को कहां तक जैसे का तैसा चित्रित करता है और कहाँ तक उसको मनोकूल बनाने के लिए परिवर्तन कर देता है। इसके आधार पर कवि संसार में दो वाद खड़े हो गए हैं। कुछ लोग यथा तथ्य अनुकृति को महत्व देते है और कुछ लोग मनोनुकूल हेर-फेर करने के पक्ष में रहते हैं। साहित्य में ये दोनों प्रवृत्ति देखी जा सकती है। एक को यथार्थवाद कहते है और दूसरे को आदर्शवाद ।"[38]

जहाँ डॉ. गुलाबराय यथार्थवाद और आदर्शवाद में स्थिति भेद को बताते है वहीं डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल इस के समन्वय पर बल देते है । वे कहते है कि, 'यथार्थ और आदर्श मन का द्वंद मानव जीवन के लिए इष्ट नहीं है, उनका समन्वय चाहिए। डॉ. गुलाबराय इस सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए आगे बोलते हैं कि इस दार्शनिक गुत्थी में न पड़कर हमें मोटे तौर से जहाँ तक मनुष्य की दृष्टि और अनुमान तक पहुँच सकते है उसको यथार्थ मानेंगे। कुछ लोग यथार्थवाद में उसकी अमित सम्भावनाओं को यथार्थ में शामिल कर लेते हैं । वहां पर यथार्थवाद और आदर्शवाद मिल जातें हैं। अतः संभावनाओं को आदर्शवाद में ही रखना ज्यादा उचित होगा।

यथार्थ और कल्पना का सम्बन्ध

यथार्थवादी दृष्टिकोण के अंतर्गत प्रकृति और भौतिक जगत को पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया जाता बल्कि यह मानता है कि कल्पना शक्ति द्वारा हम प्रकृति से परे जो एक सूक्ष्म और आकर्षक- तत्व विद्यमान है उससे तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं। प्रेमचंद ने अपने निबंध 'साहित्य का उद्देश्य' में लिखा है कि, 'जब साहित्य की सृष्टि भावोत्कर्ष होती है, तब यह अनिवार्य है कि उसका कोई आधा रहो। हमारे अंतःकरण का सामंजस्य तब तक बाहर की वस्तुओं या प्राणियों से न होगा, जागृति हो ही नहीं सकती।' यहाँ साहित्य के उद्देश्य का जिक्र करते हुए प्रेमचंद आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का समर्थन करते नजर आते हैं।

यथार्थवाद ने साहित्य-कला के क्षेत्र में आदर्शवादी प्रवृत्तियों को रोका और साहित्य रचना के लिए नवीन सामग्री और अभिनव क्षेत्र प्रदान किये। यथार्थवादी पद्धति से लिखे जाने वाला साहित्य एक भौतिकवादी लेखन का स्वरूप है। यह गैर यथार्थवादी साहित्यिक पद्धति से अलग है। यथार्थवाद एक गतिशील साहित्यिक लेखन पद्धति है। यह दिखने वाली घटनाओं पर ज्यादा ज़ोर देती है। दिखने वाली घटनाएँ किस प्रकार घट रहीं है, इनकी गति आदि का पता यथार्थवादी साहित्यिक लेखन से चलता है। यह

साहित्यिक पद्धति, एक पात्र के माध्यम से समाज की गति को मापने का भी काम करती है। रचना का पात्र और रचना किस दिशा में जाएंगे इसका अनुमान यथार्थवादी पद्धति से ही लगता है। चूंकि साहित्य में समाज ही अभिव्यक्त होता है इसीलिए समाज का क्या भविष्य होगा, इसकी क्या दिशा और दशा होगी इसका सही रूप में साहित्यिक यथार्थवादी लेखन ही अनुमान लगा सकता है। इसीलिए यथार्थवाद साहित्य लेखन में एक सशक्त शैली है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य में यथार्थवाद एक विचारधारा, एक शैली, एक फॉर्म और एक आंदोलन के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसके विकास प्रक्रिया में उपजे विभिन्न स्वरूप में मार्क्सवादी समाजवादी यथार्थवाद सबसे सटीक,यथार्थपरक है।

सन्दर्भ

[1]रामविलास शर्मा(संपादक):गुलाबराय (लेख)उपन्यासों में यथार्थ और आदर्श की सीमाएं, (समालोचना) पृष्ठ संख्या 156

[2]त्रिभुवन सिंह: हिंदी उपन्यास शिल्प और प्रयोग, पृष्ठ संख्या 141

[3]शिवकुमार मिश्र: यथार्थवाद, पृष्ठ संख्या 31

[4]यथार्थ और कला के सम्बन्ध पर विचार, पृष्ठ संख्या 95

[5]शिवकुमार मिश्र: यथार्थवाद,पृष्ठ संख्या 2

[6] रामविलास शर्मा(संपादक)हरिलाल शर्मा:सौन्दर्य की यथार्थवादी मीमांसा,(समालोचना) पृष्ठ संख्या27

[7]शिवकुमार मिश्र: यथार्थवाद, पृष्ठ संख्या188

[8]वही से, पृष्ठ संख्या 188

[9]वही से , पृष्ठ संख्या 26

[10]वही से पृष्ठ संख्या 28

[11]वही से पृष्ठ संख्या 36

[12]अनाटोली लुनार्चासकी: रुसी साहित्य में यथार्थवाद (समालोचना)1987, पृष्ठ संख्या 94

[13]कार्ल मार्क्स: कम्युनिस्ट घोषणापत्र, पृष्ठ संख्या 17

[14]बीसवीं शताब्दी का साहित्य : साहित्य और सौंदर्यशास्त्र भाग 1, (हिंदी अनुवाद),1987, निकोलाई कोनराद(लेख), यथार्थवाद और पूर्वी देशों के साहित्य,पृष्ठ संख्या379

[15]वही से, पृष्ठ संख्या 379

[16]वही से, पृष्ठ संख्या 378

[17]वही से, पृष्ठ संख्या 379

[18]डा रामविलास शर्मा(संपादक):डा रा. ग. हर्षे(लेख) फ़्रांसिसी साहित्य और वास्तावाद,(समालोचना) पृष्ठ संख्या177

[19]रामविलास शर्मा: समालोचना, पृष्ठ संख्या 80

[20]शिवकुमार मिश्र: यथार्थवाद,पृष्ठ संख्या 2

[21]रामविलास शर्मा(सम्पादक),यथार्थ जगत और साहित्य(लेख), रामविलास शर्मा, (समालोचना),पृष्ठ संख्या 80

[22]जार्ज लुकास:समकालीन साहित्य में यथार्थवाद,पृष्ठ संख्याख्या6

[23]यथार्थवाद:शिव कुमार मिश्र,पृष्ठ संख्या 115

[24] वही से, पृष्ठ संख्या 115

[25]वही से, पृष्ठ संख्या 93

[26]वही से, पृष्ठ 93

[27]ब्रतोल ब्रेख्त: रंगमंच खंड 5, पृष्ठ संख्या 169

[28]बीसवीं शताब्दी का साहित्य (भाग1):साहित्य और सौंदर्यशास्त्र: (अनुवादक) राधेश्याम दुबे, लेव तोल्सोय रुसी क्रांति के दर्पण के रूप में, व्ला.इ. लेनिन पृष्ठ संख्या 26

[29]बीसवीं शताब्दी का साहित्य : साहित्य और सौंदर्यशास्त्र भाग 1, (हिंदी अनुवाद), अनतोली लुनाचार्स्की(लेख), समाजवादी यथार्थवाद,पृष्ठ संख्या 93

[30] शिवकुमार:यथार्थवाद, पृष्ठ संख्या 69,

[31]वही, पृष्ठ संख्या 73

[32]त्रिभुवन सिंह: हिंदी उपन्यास: शिल्प और प्रयोग,पृष्ठ संख्या 144

[33]रामविलास शर्मा (संपादक), गुलाबराय (लेख), उपन्यास में यथार्थ और आदर्श की सीमाएं, समालोचना,पृष्ठ संख्या 157

[34] त्रिभुवन सिंह: हिंदी उपन्यास: शिल्प और प्रयोग,पृष्ठ संख्या 147

[35]शिव कुमार मिश्र: यथार्थवाद, पृष्ठ संख्या 181

[36] डॉ रामविलास शर्मा(संपादक) समालोचना, वासुदेवशरण अग्रवाल (लेख), यथार्थवाद पृष्ठ संख्या 78

[37] रामअवध द्विवेदी: समालोचना, पृष्ठ संख्या 137

[38] गुलाबराय:उपन्यास में यथार्थ और आदर्श की सीमाएं, पृष्ठ संख्या 158

अध्याय 2

कृषि अर्थव्यवस्था का ऐतिहासिक विकास

साहित्य तथा यथार्थ के संबंध पर पिछले अध्याय में पर्याप्त विवेचना की जा चुकी हैं। यह स्पष्ट किया जा चुका हैं कि साहित्य में यथार्थवाद न सिर्फ एक दृष्टि या विचारधारा हैं बल्कि साथ ही यह साहित्य का एक मापदंड भी हैं। हिन्दी साहित्य में किसान जीवन का कितना यथार्थपरक वर्णन उपलब्ध हैं, यह जानने के लिए पहले यह समझना आवश्यक हैं कि किसान जीवन के यथार्थ का वास्तविक अर्थ क्या हैं?बदलते समय के बदलते परिदृश्योमें इसमें आने वाले परिवर्तन को समझने के लिए हमें विषय की ऐतिहासिकता में जाना होगा। इस अध्याय में समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक उपागम के माध्यम से सैद्धांतिक अवधारणाओं को स्पष्ट किया जाएगा।किसान जीवन का यथार्थ मात्र एक सैद्धांतिक प्रश्न भर नहीं हैं बल्कि किसी राष्ट्र के विकास प्रक्रिया को समझके लिहाज से एक व्यावहारिक प्रश्न हैं।

प्राथमिक स्तर पर भारत के संदर्भ में किसान को एक वर्ग के रूप में समझने से पहले यह जरूरी हैं की हम यह स्पष्ट कर ले कि एक अवधारणा के रूप में किसान की क्या प्रकृति रही हैं?विद्वानों ने किस तरह से इसे परिभाषित, व्याख्यायित,विभाजित या वर्गीकृत किया हैं। किसान जीवन का यथार्थ क्या हैं या किसान जीवन की वास्तविक हालत क्या हैं? किसान किस दिशा में विकास कर रहा हैं, किसान के कितने वर्ग(श्रेणियां) हैं। इन वर्गों के आधार पर उनके यथार्थ की प्रकृति भी अलग होगी? किसान की श्रेणियों का विभाजन किस आधार पर किया जाता हैं? क्या किसान जीवन का यथार्थ कोई सार्वभौमिक यथार्थ हैं या फिर यह मूलतः किसी खास श्रेणी के किसान का यथार्थ हैं।

जैसा कि प्रथम अध्याय में यथार्थवाद की अवधारणा को स्पष्ट करते हुये बताया गया हैंकि यहाँ पर यथार्थवाद से आशय समाजवादी यथार्थवाद से हैं। जिसके मूल में मार्क्सवादी दर्शन स्थापित हैं। सैद्धांतिक अवधारणा में इसी को आधार माना गया हैं। सर्वप्रथम खेती के विकास की जड़ें मानव सभ्यता के विकास की गति के साथ देखते हुये खेती का उद्भव और विकास की विवेचना की गयी हैं।

किसानों की श्रेणियों के विभाजन के मापदंड को उनकी जमीन के मालिकाना हक़ तथा उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के आधार पर स्थापित किया गया हैं । प्राक ऐतिहासिक काल में राज्य के विकास के साथ, राजवंश और दास प्रथा के समय में भी जमीन के मालिकाना हक़ और उत्पादन के साधनों के विकास और स्वामित्व के आधार पर ही किसान की श्रेणी को स्पष्ट किया गया हैं।

किसान जीवन का वैचारिक यथार्थ परम्परावादी होता हैं। किसी भी समाज की वैचारिकी और सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना उस समाज की आर्थिक संरचना से मूल रूप से जुड़ी होती हैं। आर्थिक संरचना में होने वाले परिवर्तन राजनीतिक हस्तक्षेप से प्रमुख रूप से प्रभावित होते आये हैं। किसान सदियों से एक जैसा जीवन व्यतीत करते आ रहे हैं और एक जैसीपद्धति से ही खेती-किसानी करते हैं। उनके जीवन में बदलाव बहुत ही धीमी गति से आता हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक बदलाव तो और धीमी गति से आता हैं। जब खेती-किसानी की प्रक्रिया में बदलाव आता हैं तब उससे जुड़े सामाजिक-सांस्कृतिक संबंधों में भी बदलाव आता हैं।

कृषि परंपरा बहुत पुरानी रही हैं। कृषि की आरंभिक अवस्था से किसान जीवन की शुरुआत हुई। प्राचीन सभ्यताओं में कृषि करने की संस्कृति के प्रमाण मिलते हैं। प्राचीन काल में कृषि बहुत अविकसित अवस्था में थी। मनुष्य जानवरों को पालतू बना बनाकर खेती (कृषि) करने योग्य ज़मीन साफ़ करता था। ज़मीन पर जंगल और पत्थर होते थे जिन्हें साफ़ किया जाने लगा। पहले मनुष्य ज़रुरत के लिए शिकार करता था और संचय की अवधारणा नहीं थी। निजी संपत्ति की अवधारणा के उदय के साथ ही कृषि व्यवस्था में बदलाव सामने आते हैं। परिवर्तन की इस प्रक्रिया को हम श्रम विभाजन के प्रकार और स्तरों के रूप में समझ सकते हैं।

आदिम समाज के विकास के दौरान उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ श्रम का सामाजिक विभाजन पैदा हुआ। जिसमे पशुपालन का कृषि से अलग होना, दस्तकारी गतिविधियों का कृषि से अलग होना महत्वपूर्ण घटना थी। यह मानव इतिहास के बड़े सामाजिक श्रम विभाजन में से थे। कृषि, पशुपालन और दस्तकारी गतिविधियों के अलग-अलग विभाजन से उत्पादन का उद्देश्य आवश्यकता पूर्ति और उपभोग के साथ-साथ विनिमय के उद्देश्य से होने लगा ।

उत्पादन शक्तियों के निरंतर विकास ने उत्पादन को आजीविका के बुनियादी स्तर से ऊपर उठा कर 'अतिरिक्त' उत्पादन होने लगा। श्रम के दो बड़े विभाजनों ने श्रम की उत्पादकता बढाई और कृषि, पशुपालन तथा दस्तकारी गतिविधियों के विकास को प्रोत्साहित किया। इससे अतिरिक्त उत्पादन और सामाजिक सम्पदा में वृद्धि हुई। ऐसी परिस्थितियों में कुछ लोगों द्वारा दूसरे लोगों के श्रम के उत्पादों को हड़पने की संभावना भी पैदा हुई। दूसरी तरफ सुरक्षा की दृष्टि से विनिमय के विस्तार के साथ गोत्र के सरदार द्वारा कम्यून की संपत्ति को धीरे-धीरे अपनी निजी संपत्ति में बदल लेने की संभावना और प्रवृत्ति भी उत्पन्न हुई। आदिम समाज के अंतिम दौर में लोहे की खोज मानव समाज की एक उच्चतर अवस्था में प्रगति का प्रतीक थी। पर इस खोज के साथ ही आदिम समाज के पतन की उद्घोषणा भी कर दी।

धातु के औजारों-खासकर लोहे की कुल्हाड़ी, लोहे के कुदाल और लोहे के हल ने श्रम की उत्पादकता में उल्लेखनीय वृद्धि की और व्यक्तिगत गृहस्थी के आधार पर उत्पादन की परिस्थितियां तैयार कीं। गोत्र पर आधारित आरंभिक सामूहिक उत्पादन धीरे धीरे समाप्त हो गया और उसकी जगह गृहस्थी पर आधारित व्यक्तिगत उत्पादन ने ले ली। उत्पादन सामूहिक मामले से निजी मामले में बदल गया। उत्पादन के साधन और उत्पादन संबंध निजी संपत्ति के रूप में परिवर्तित होते गए। इसी तरह भूमि जो पहले सामूहिक स्वामित्व में होती थी, को व्यक्तिगत गृहस्थियों को कृषि के लिए सौंपी जाती थी, वह भी निजी संपत्ति में परिवर्तित होने लगी। इस तरह निजी स्वामित्व के अस्तित्व में आया और आदिम कम्यून छिन्न-भिन्न हो गया।

निजी स्वामित्व के उद्भव के साथ परिवारों के बीच संपत्ति के बंटवारे में असमानता पैदा हुई। गोत्र के सरदारों ने अपनी शक्ति का इस्तेमाल लगातार सामूहिक संपत्ति को अपनी निजी संपत्ति बनाने में किया और गोत्र के समृद्धतम परिवार बन गए। इसी समय इन धनी परिवारों की संपत्ति बढ़ने तथा उनका कार्यक्षेत्र विस्तारित होने के साथ श्रम की कमी अनुभव की जाने लगी। दूसरी तरफ उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ दासों के श्रम का इस्तेमाल संभव और लाभदायक हो गया। इसके परिणामस्वरूप युद्धबंदियों को मार डालने की बजाय दास बनाया जाने लगा। बाद में गोत्र के कुछ गरीब लोग भी धनी परिवारों के दास बन गए। पूंजी के आसमान, निजी वितरण के चलते कमजोर, गरीब लोगों के शोषण की शुरुआत हुई ।

उत्पादन के विकास और विनिमय के विस्तार के साथ तीसरा बड़ा श्रम विभाजन घटित हुआ। ऐसे व्यापारी सामने आये जो विशेष रूप से माल विनिमय ही करते थे। माल विनिमय के साथ मुद्रा अस्तित्व में आयी। मुद्रा के जन्म के साथ धनी परिवार सूदखोरी करने लगे और संपत्ति के संकेन्द्रण तथा असमान वितरण की प्रक्रिया तेज़ हो गयी। इसके परिणामस्वरूप संपत्ति तेज़ी से मुट्ठीभर दास स्वामियों के हाथों में सिमट गयी। दूसरी तरफ, मेहनतकशों की भारी आबादी गरीबी और कंगाली के कारण दास बनने पर मजबूर हो गयी और दासों की संख्या तेज़ी से बढ़ी। इस तरह समाज दो वर्गों में बंट गया: दास-स्वामी और दास। ये दो विरोधी वर्ग मानव इतिहास में पहली बार सामने आये। वर्गों की उत्पत्ति के साथ पुरानी गोत्र परिषद समाज के सार्वजनिक-सेवक से इसके मालिक में तब्दील हो गये और गोत्र परिषद् दास-स्वामियों द्वारा दासों के उत्पीड़न का एक उपकरण बन गयी। उसी समय 'राज्य'- एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के उत्पीड़न के तंत्र का जन्म हुआ। उस समय से लेकर अब तक "समस्त सामाजिक इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा हैं।"[1]

प्राक सामंती युग या दास युग में कृषि प्रणाली धीरे-धीरे विकसित हो रही थी। समाज में वर्ग बनने शुरू हो गए थे। सामंतीयुग पूर्व ज़मीन का मालिक कबीला या व्यक्ति होता था। इस युग में ज़मीन पर जिसका जितना प्रभाव था उसकी उतनी ज़मीन हो जाती थी। कबीलाई समाज घुमंतू होता था। वह जानवरों को पकड़-पकड़ कर पालतू बनाता था। कबीलाई समाज के स्थायी निवास स्थल नहीं होते थे। यह लोग प्राकृतिक संस्थानों पर निर्भर रहते थे और जानवरों को चराने के लिए चारागाह खोजते थे। धीरे-धीरे सभ्यता के विकास के साथ कृषि भी विकसित होने लगी और स्थाई निवास स्थल दिखाई पड़ने लगे। पहले मनुष्य जंगली जानवरों के शिकार पर निर्भर रहता था, आग के आविष्कार के साथ मांस को भूनकर खाया जाने लगा। इसके बाद तमाम धातुओं को खोजने के साथ मनुष्य शिकार, संसाधन का संचय करने लगा। उन संसाधनों का खुद को मालिक घोषित कर देता था। चीज़ों पर निजी स्वामित्व शुरू हो गया। यह स्वामित्व व्यक्ति, कबीले और क्षेत्र का होता था। यहाँ जिस व्यक्ति या कबीले ने जितनी ज़मीन साफ़ करके कब्ज़ा ली उतनी ज़मीन उसकी हो गयी। उस कबीले का मालिक उस ज़मीन का भी मालिक होता था। ज़मीन के अधिकार को लेकर विद्वानों में बहुत बहस हैं। ज़मीन पर एकाधिकार जमाने के मामले भी हर जगह अलग-अलग से रहे हैं। बहुत स्थानीय स्तर पर इसका अलग-अलग रूप देखा जा

सकता हैं। भारत के सन्दर्भ में भी एक जैसा नियम नहीं था। "भारत बहुत बड़ा देश हैं, जिसमें प्राकृतिक परिवेश, भाषा और ऐतिहासिक परिघटनाओं के प्रवाह के मामले में प्रचुर विविधता हैं, इसलिए प्राचीन काल में न तो उत्पादन के साधनों की दृष्टि से और न विकास के विभिन्न चरणों के नज़रिए से इस देश में समग्र समानता की कल्पना की जा सकती हैं।"[2]भारत में वैदिक काल में कुल (क्लैन) की सहमति के बिना किसी भी ज़मीन का हस्तांतरण नहीं किया जा सकता था और भू-हस्तांतरण का लगभग कोई प्रसंग उठता नहीं था। पूरी दुनिया में कहीं कहीं भूदास कृषक बनाये जाने लगे थे। उन्हें गुलाम बनाकर काम करवाया जाता था। समाज धीरे धीरे दो वर्गों में बंट गया: स्वामी और दास।

दास समाज में उत्पादन कैसे होता था और दास-स्वामी का कैसा रिश्ता था? दास समाज के उत्पादन पर किसका हक़ रहता था? दास और स्वामी की सामाजिक-आर्थिक दशा कैसी थी? भारत में दास युग की अलग अवधारणा हैं। अफ्रीका, लैटिन अमेरिका, यूरोप, एशिया आदि महाद्वीपों में दासों और स्वामी की अवधारणा भले ही अलग-अलग हो पर इन सभी जगहों पर एक बात सामान्य थी कि दासों पर स्वामी अत्याचार करते थे और उन्हें गुलाम बनाकर रखते थे। उनके जीवन पर पूरी तरह से स्वामी का नियंत्रण रहता था। "दास समाज में दास स्वामी उत्पादन के साधनों का ही नहीं, दासों का भी मालिक होता था। दास स्वामी के पूर्ण आधिपत्य में एक जीवित औजार के सिवा कुछ नहीं था। दास का केवल शोषण ही नहीं होता था, बल्कि उसके साथ जानवर, बलि की वस्तु और माल के तौर पर बर्ताव किया जाता था। उसका मालिक उसे जान से भी मार सकता था। दास श्रम का खुला जबरिया श्रम था। दास स्वामी दासों से काम करने के लिए निर्मम ढंग से ताक़त का इस्तेमाल करता था और अपने दासों को बुरी तरह यातनाएं देता था। भगोड़े दासों को पकड़ना आसान बनाने के लिए दास स्वामी दासों को गर्म धातु से दाग देते थे और उन्हें जंजीरों से बांधकर रखते थे। दासों से अतिरिक्त श्रम और उत्पादन कराने के लिए दास स्वामी क्रूरतम तरीके अपनाते थे। दास द्वारा पैदा किये गए सारे उत्पाद दास स्वामी के होते थे। दास को जानवर की तरह बस उतना ही भोजन दिया जाता था जिससे वह जिंदा रह सके। यह था दास समाज का उत्पादन सम्बन्ध। पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर दासों के सामूहिक नरसंहार की तस्वीर सामने आती हैं। दासों का स्वामी द्वारा धार्मिक कर्मकांडों में उनकी बलि देने की भी बात सामने आती हैं। चीन के चिन-सु में

मिट्टी की खुदाई में पता चला मिट्टी की मूर्तियों के हाथ बंधे हुए थे। पुरुष मूर्तियों के हाथ पीछे की ओर बंधे थे और स्त्रियों के हाथ आगे बंधे हुए थे। ये उस समय दासों के जीवन के प्रतिबिंब थे। कसाईओं की तरह दासों को क़त्ल तक कर दिया जाता था। यिन वंश के शासनकाल के दौरान कुछ अनुष्ठानों में एक हज़ार से ज्यादा लोग मार दिए गए थे।''[3]दास युग में ही नयी-नयी खोजे जारी थीं।जानवरों को पालतू बनाया जा रहा था। नए धातुओं के मिलने से समाज तेज़ी से विकसित हो रहा था। दास समाज में इन जानवरों के पालतू बनाने और धातुओं की खोजों से कृषि अर्थव्यवस्था भी तेज़ी से विकसित होने लगी थी। दूसरी तरफ स्वामी इस कृषि अर्थव्यवस्था से ताकतवर होने लगे थे। वह अन्य जगह पर दूसरे दास स्वामियों के यहाँ युद्ध करते और वहां के युद्धबंदियों को सामूहिक रूप से मौत के घाट नहीं उतारते थे। उन्हें जीतने वाला स्वामी अपने दासों के साथ मिलकर उनसे कृषि में काम करवाता था। इस कारण भी दासों की संख्या में भी इजाफा होने लगा था। उत्पादन भी ज्यादा होने लगा था। दास स्वामी के द्वारा दासों पर अत्याचार लगातार बढ़ रहा था। दास, स्वामी के अत्याचार से तंग आकर, अपने हित में भी सोचने लगे थे।

दासयुग में किसानों की स्थिति

भारत में दास समाज को इतिहासकारों ने अलग-अलग नाम से संबोधित किया हैं। कुछ लोग कबीलाई समाज की संज्ञा देते हैं, कुछ विद्वान पूर्व प्राक सामंतकाल और कुछ दास युग ही मानते हैं। इतिहासकार रोमिला थापर कहती हैं, "ऋगवैदिक समाज को अब तक 'कबीलाई समाज' की संज्ञा दी जाती रही हैं। किन्तु इसके लिए कबीलाई समाज की अपेक्षा 'वंश समाज' पद का प्रयोग अधिक उपयुक्त होगा। भारतीय सन्दर्भ में कबीलाई समाज का प्रयोग अस्पष्टता का प्रतीकहैं। इसमें पाषाणकाल में शिकारियों से लेकर जंगलों से फलमूल इकट्ठा करने वाले और जुताई करने वाले किसानों के समाज भी आ जाते हैं।"[4]भारत में प्राचीन व्यवस्था किस प्रकार जाति व्यवस्था में बदलती रही और फिर इस व्यवस्था के अंतर्विरोध से पैदा होकर सामंती व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ। भारतीय प्राचीन व्यवस्था में सामाजिक-आर्थिक स्तरों पर पैदा होने वाले अंतर्विरोध के चलते व्यवस्था में नए प्रकार के परिवर्तन आते हैं।

किस प्रकार दास व्यवस्था पतन की ओर जाने लगी? इसके क्या कारण थे? दास प्रथा मानव समाज की एक अपरिहार्य अवस्था थी। इसका जन्म मौजूदा उत्पादक

शक्तियों की ज़रूरतों के अनुकूल था। दास समाज में युद्धबंदियों को सामूहिक तौर पर मौत के घाट नहीं उतारा जाता था। इसके बजाय उन्हें काम के लिए जिंदा रखा जाता था। यह उत्पादन के विकास में सहायक था। दास-स्वामी के पास बड़ी मात्रा में उत्पादन के साधन और श्रम मौजूद होने से यह संभव हो गया कि बड़े पैमाने पर उत्पादन और सहकार को संगठित किया जाए। धातु के औजारों के इस्तेमाल के साथ कृषि पशुपालन और दस्तकारी उद्योग तेज़ी से विकसित हुए। समाज में कृषि अर्थव्यवस्था सबसे बड़ा घटक बन गयी। घोड़ा, भैंस, गाय, भेड़, मुर्गी, कुत्ता और सूअर आदि पालतू बनाये गए। दास समाज पैदा होने वाली चीज़ों और जिसके द्वारा पैदावार होती थी, उत्पादन करने वाली ताकतों को एक हद तक बढा दिया था। इस कारण उत्पादन शक्तियों और उत्पादन संबंधों के विकास से दास समाज में अंतर्विरोध पैदा हो गया। यह अंतर्विरोध ही दास समाज के पतन का कारण भी रहा। दासों ने अपनी बेगारी, अत्याचार, शोषण से तंग आकर विद्रोह करना शुरू कर दिया। ''भारत में वंश समाज ने जाति व्यवस्था को रूप और आकार दिया। वंश तत्व, जैसे गोत्र और विवाह के नियमों का जाति व्यवस्था के लिए अधिक महत्व हैं। जब स्तरीकरण के विभिन्न रूप उभरने लगे तो वर्ण व्यवस्था के माध्यम से उनको एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न होता हैं। बाद में उत्पादन के लिए विभिन्न व्यवसायों में लगे समूहों-शूद्रों को चतुर्थ श्रेणी के रूप में उनमें शामिल कर लिया जाता हैं। किन्तु उन्हें वंश का रूप नहीं दिया जाता और एक प्रकार से एकदम पृथक रखा जाता हैं। इसके साथ-साथ एक समूह के रूप में उनकी उत्पत्ति उनके व्यवसाय और स्थान के आधार पर निश्चित की जाती हैं। यह वर्ण व्यवस्था में एक प्रमुख अंतर हैं। जब वंश पर आधारित समाजों के स्थान पर राज्य का निर्माण हुआ तो संक्रमण काल में जो सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन हुए उनकी झलक अर्थव्यवस्था में भी मिलती हैं।''[5]

भारतीय सामंतवादी युग के पतन के मुख्य कारण सामाजिक-आर्थिक रूप में दोहरा अंतर्विरोध था। उत्तर वैदिक काल में जाति व्यवस्था अपने पूर्ण रूप में स्थापित हो गयी थी। सामाजिक रूप में श्रेणियां विभाजित होने लगी। खेती का काम शूद्र जातियां करती थीं पर ज़मीन का मालिकाना हक क्षत्रियों, ब्राह्मणों और राजा के पास रहता था। इस काल में व्यवस्था के साथ जनता के तीखे अंतर्विरोध पैदा हो गए।"इस बात की ओर ध्यान दिया गया हैं कि कलयुग की एक विशेषता वर्ण संकर थी,जिसका

मतलब यह हैं कि वैश्यों और शूद्रों ने या तो उत्पादन कार्य करने से इनकार कर दिया था। इनमें वैश्य किसानों ने कर देने और शूद्रों ने आर्थिक उत्पादन के लिए अपना श्रम देने से मना कर दिया। कलियुग के वर्णन का बारीकी से अध्ययन करने से मालूम होता हैं कि यह तीव्र सामाजिक संघर्ष और संकट का काल था, जिसका मुख्य कारण दोहरा सामाजिक अंतर्विरोध था- एक तो वैश्यों के साथ ब्राह्मणों और क्षत्रियों का विरोध और दूसरा शूद्रों के साथ ब्राह्मणों का विरोध। इससे पारंपरिक ब्राह्मणीय व्यवस्था कमज़ोर हुई और फलत: दास प्रथा के जो थोड़े बहुत तत्व शेष रह गए होंगे वे भी दुर्बल पड़ गए।"[6]

भारतीय इतिहास में दास युग के खात्मे की कहानी भी वैसी रही जैसी अन्य देशों में थी। चीन और इटली में भी दास युग तीखे अंतर्विरोध के संघर्ष से ख़त्म हुआ था। भारत में दासों जैसे शूद्रों की यज्ञ में बलि दी जाती थी। अत्याधिक अंधविश्वास, कर्मकांड बनने के कारण और बेगारी, शोषण-उत्पीड़न को असहनीय हो जाने के कारण भारत में भी दास युग ख़त्म हुआ।

"दासों की भारी आबादी दास स्वामी के क्रूर शोषण-दमन को अब और बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। वे अपना काम धीमा कर देते थे, बहुत से दास एक साथ भाग जाते थे और जानबूझकर उत्पादन के औजारों को नष्ट करते थे। एक ओर दास स्वामियों ने उनका दमन तेज़ कर दिया जिससे बहुत बड़ी तादाद में दासों की अकाल मौतें होने लगीं और दूसरी तरफ वे भारी-भारी औज़ार ले आये जिन्हें आसानी से नुकसान नहीं पहुँचाया जा सकता था। पर इससे उत्पादक शक्तियों का विकास अवरुद्ध होने लगा था। उत्पादक शक्तियों का विकास अवरुद्ध होने का एक कारण व्यवस्था द्वारा शारीरिक श्रम के प्रति पैदा किया तिरस्कार पूर्ण दृष्टिकोण भी था।"[7]

दुनिया के विभिन्न देशों में दासों की बगावतों ने अनेक शौर्यपूर्ण गाथाओं को जन्म दिया। उदाहरण के लिए रोमन काल में स्पार्टाकस के नेतृत्व में सबसे बड़ा विद्रोह हुआ जिसमें 1,20,000 दासों ने हिस्सा लिया। इस विद्रोह ने रोमन साम्राज्य की जड़ें हिला दी। हिंसक दास विद्रोह ने दास स्वामियों की राजनैतिक सत्ता पर जबरदस्त चोटें की और दास प्रथा के पतन को तेज़ कर दिया। दास प्रथा के टूटने-बिखरने के साथ सामंती उत्पादन सम्बन्ध धीरे-धीरे पुख्ता होते गए। सामंती उत्पादन संबंधों का प्रतिनिधित्व करने वाले सामंतवाद में शासक की जगह किसने ली थी?

दास युग की समाप्ति और सामंत युग के प्रारंभ के साथ और उसके बाद भी कृषि व्यवस्था में और कृषि के राज्य के साथ संबंधों में गुणात्मक परिवर्तन आया हैं। यद्यपि इस परिवर्तन के बावजूद किसानों के शासन व्यवस्था और राज्य के साथ सम्बन्ध मूलतः नकारात्मक ही रहे हैं। अलग अलग राजवंशों के काल में भूमि के स्वामित्व और कर के सम्बन्ध में किये जाने वाले प्रावधानों से इस बात की पुष्टि होतीहैं।दास युग में ज्यादा बर्बरता दिखाई पड़ती थी। जिसके पास जितनी शक्ति वह उतना बड़ा स्वामी बन जाता था। बिना किसी कारण, कानून, नियम उत्पीड़न और शोषण होता था। खुली बर्बरता थी। स्वामी दास से कोई भी काम करवा सकता था। दासों में धीरे धीरे चेतना का विकास हुआ। उन्होंने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष छेड़ दिया। दासों का नेतृत्व करने वालों को भी जीने का अधिकार हैं।

दासों का नेतृत्व करने वाले और मांगों को मानने वाले स्वामी आगे चलकर सामंतवादी युग में राजा और सामंत बने। नई सामाजिक मांगों को ध्यान में रखकर जो व्यवस्था बनी उसे हम सामंती व्यवस्था के रूप में जान सकते हैं। सामंती व्यवस्था दासयुगीन व्यवस्था से ज्यादा प्रगतिशील थी जहाँ समाज और कृषि ने थोड़ी बहुत उन्नत्ति की। समाज में तीव्र वर्ग विरोध के समाधान अधिग्रहण की कोई नई युक्ति निकालनी थी सो राज्य ने अपने अभिकर्ताओं (एजेंट) के ज़रिये करों की प्रत्यक्ष वसूली और फिर पुरोहितों, सैनिकों तथा अन्य अमलों के बीच उनके वितरण का पुराना चलन छोड़ दिया। उसके बदले अब वह पुरोहितों, सैनिकों, सरदारों, प्रशासकों आदि के भरण-पोषण के लिए उन्हेंसीधे राजस्व आवंटित करने लग गया। “दास युग के स्थान पर सामंती समाज का आना इतिहास में आगे का एक कदम था। सामंती उत्पादन सम्बन्ध सामंती समाज की आरंभिक अवस्था में उत्पादक शक्तियों को आगे बढ़ाने के लिए अनुकूल थे। कृषि उत्पादन की तकनीकें उत्पन्न हुई और उपकरणों में सुधार हुआ। उत्पादन में लोहे के उपकरणों का इस्तेमाल विस्तारित हुआ, फसलों का वैविध्य और मात्रा दोनों बढ़े तथा दस्तकारी उद्योग खूब फला-फूला। नमक बनाना, धातु विज्ञान, रेशमी वस्त्र, कताई-बुनाई, चीनी मिट्टी और मिट्टी के बर्तन तथा कसीदाकारी के काम चीनी सामंती समाज में काफी विकसित थे।कुतुबनुमा, बारूद, कागज़ और ब्लाक से छपाई का आविष्कार काफी पहले कर लिया गया था।”[8]

दास युग में ज़मीन पर दास काम करते हैं उनका श्रम और सेवा स्वामी के लिए होती थी। उन्हें जिंदा रहने भर के लिए अनाज दे दिया जाता था। पर सामंती व्यवस्था में

भी पुरानी दास युगीन व्यवस्था की समस्याओं को सही से हल नहीं किया गया। दास व्यवस्था के बादसामंती व्यवस्था नई व्यवस्था के रूप में सामने आयी थी। इससामंती व्यवस्था में भी क्रूर शोषण जारी रहा। यह क्रूर शोषण किसान वर्ग और सामंती सत्ता वर्ग के बीच लगातार संघर्ष होने से ख़त्म हुआ था। सामंत वर्ग ने एक नई सामाजिक आर्थिक संरचना पैदा कर दी थी। इस सामंती व्यवस्था ने अपने द्वारा किए जाने वाला शोषण और दमन, अत्याचार को तार्किक रूप से सही ठहराया जाने लगा था। ज़मीन पर लगान वसूलने की पद्धतिशुरू हो गयी थी। लगान वसूलने के तीन तरीके अपनाए गए। पहला तरीका था–श्रम से लगान वसूलना। सामंतवाद में राजा अपनी ज़मीन पर किसान से अपना काम करवाता था और बदले में किसान को ज़मीन का एक टुकड़ा दे देता था जिससे गरीब किसान अपना गुज़ारा करता था। इसलिए राजा/सामंत की ज़मीन पर किसान मन और मेहनत से काम नहीं करता था। इस कारण ज़मीन में अच्छी उपज भी नहीं होती थी। फिर उन्होंने लगान लेने का दूसरा तरीका ख़ोजा जिसके अनुसार खड़ी फसल का एक हिस्सा लगान के रूप में लेने लगे थे। फसल की उपज में 20 से 80 प्रतिशत तक लगान ले लिया जाता था और कभी-कभी खड़ी फसल के रूप में भी लगान ले लिया करता था। कभी पूरी फसल तैयार होने के बाद खेत खलिहान से राजा अपना हिस्सा मंगा लेता था। इससे किसान बचे हिस्से से अपना गुज़ारा करता था। तीसरा तरीका नकदी मुद्रा के रूप में भी लगान वसूला जाने का था। आपकी फसल चाहें जैसी भी हो, राजा को तय लगान जमा करना होता था। यह लगान मुद्रा में देना होता था। राजा के सिपहसलार, कारिंदे अक्सर तय दरों से थोड़ा बढ़ाकर ही किसानों से लगान वसूला करते थे। किसानों में लगान के नियम क़ानून प्रति जागरूकता भी नहीं थी। लगान चुकाने के डर से किसान फसल को औने-पौने दामों पर व्यापारियों को बेचना पड़ता था इससे उन्हें नकदी मिल जाती थी। इस नक़दी मुद्रा में लगान देने के कारण किसान और राजा के बीच तमाम बिचौलिए भी पैदा हो गए थे, जैसे साहूकार, महाजन, कारिन्दें इत्यादि। यहाँ दास प्रथा से ज्यादा शोषण दूसरे स्तर पर बढ़ गया था। पहले स्वामी का ही शोषण-उत्पीडन झेलना पड़ता था। अब स्वामी रुपी राजा के साथ-साथ उनकी पैदा की गयी नई फ़ौज भी किसानों पर ही अपना गुस्सा निकालती थी। राजा और उसके द्वारा पैदा की गयी राजकीय नौकरशाही और किसानों में तीखा संघर्ष देखने को मिलाताहैं।

सामंती समाज में उत्पादन मूलतः गृहस्थी के आधार पर जरूरत के लिए छोटे स्तर पर उत्पादन होताथा। छोटे स्तर का यह उत्पादन उत्पादक शक्तियों के और विकास के लिए अनुकूल नहीं था। सामंती उत्पादन संबंधों के तहत खासकर किसानों की बड़ी आबादी क्रूर शोषण-उत्पीड़न का शिकार थी। इस शोषण से किसानों और सामंतों के बीच अंतर्विरोध शुरू हो गया फ़िर यह उत्पादन संबंधों और उत्पादक शक्तियों के बीच का अंतर्विरोध के रूप में प्रतिबिंबित हुआ और यह सामंती समाज का प्रमुख अंतर्विरोध था। अंतर्विरोध की सर्वोच्च अभिव्यक्ति थे सामंतों के शासन के विरोध के लिए किसानों का विद्रोंह और यह विद्रोह और संघर्ष सामंतवाद की पूरी अवधि की एक लाक्षणिक विशेषता थी। ये किसान वर्ग संघर्ष, किसान विद्रोह और किसान युद्ध ही ऐतिहासिक विकास की वास्तविक प्रेरक शक्ति थे। हर बड़े किसान विद्रोह और किसान युद्ध ने तत्कालीन सामंती शासन पर आघात किये और इस तरह उन्होंने सामाजिक उत्पादक शक्तियों के विकास को कुछ हद तक आगे बढ़ाया। सामंतवाद वैश्विक स्तर पर एक जैसा नहीं था। पर हर जगह केसामंतवाद में उत्पादन स्थानीय ज़रूरतों को ध्यान में रखकिया जाता था। इस उत्पादन पद्धिती में बहुत से सम्बन्ध स्थानीय क्षेत्र विशेष तक सीमित रहते थे। इनकी सामाजिक-आर्थिक संरचना में स्थानीयता ज्यादा हावी रहती थी। कहीं ज़मीन का मालिक किसान होते हैं, कहीं पर राजा सारी ज़मीन का मालिक होता हैं। वह खेती करने के लिए अपनी जनता को ज़मीन देता था जिस पर अलग अलग तरह से लगान वसूलता था। इस तरह सामंतवाद के दौर में उत्पादन के संबंधों में परिवर्तन आया लेकिन उत्पादन शक्तियों में परिवर्तन आना बाकी था।

भारत के सामंतवाद और यूरोप के सामंतवाद में कुछ एक समानता और बहुत सी भिन्नता देखी जा सकती हैं। भारत में भूमि पर किसका मालिकाना हक हैं इस पर इतिहासकारों में बहुत मतभेद हैं। “प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में भूमि सम्बन्धी अधिकारों के सवाल पर अंग्रेजी हुकूमत के समय में साम्राज्यवादी और राष्ट्रवादी इतिहासकारों के बीच बड़ा तीव्र विवाद चलता रहा, जिसके कारण इस विषय का सही-सही निरूपण कर सकना कठिन हो गया हैं। अंग्रेजों के बनाये भूमि-सम्बन्धी कानूनों का औचित्य ठहराने के लिए कुछ प्रशासक इतिहासवेत्ताओं ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि प्राचीन भारत में सारी भूमि राजा की संपत्ति होती थी।1904 में विन्सेंट स्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध पाठ्य-पुस्तक में लिखा कि भारत के देशी कानून में

खेती की ज़मीन को सदा से राजा की संपत्ति माना जाता रहा हैं।"[9] भारत में भूमि के टुकड़े पर अलग अलग पक्षों का अधिकार भी हो सकता था और एक ज़मीन के टुकड़े पर एक साथ विभिन्न पक्षों के अधिकार होने के कारण प्रमाण मिले थे। यह कोई क़ानून नहीं था बल्कि रीति परंपरा भी हो सकती थी। जैसे एक ज़मीन पर किसान व्यक्तिगत रूप मेंवर्षों से खेती करते हैं और उन्हें किसी कोई लगन भी नहीं देना होता हैं,उस जमीन पर अपना हक भी मानते हैं। पर वह समुदाय कुल ही ज़मीन होती हैं। राजा भी अंततः सारी ज़मीन का मालिक खुद को मानता था। वैसे इतिहास में वैदिक काल से गुप्त काल में ज़मीन (भूमि) पर सामूहिक अधिकार का प्रमाण मिलते हैं। भूमि पर व्यक्ति का स्वामित्व किसी न किसी प्रकार के सामूहिक नियंत्रण के अधीन था।

इसी प्रकार जैमिनी के 'मीमांसा सूत्र' में भूमि पर सामुदायिक अधिकार के सिद्धांत की पुष्टि होती हैं। इस ग्रन्थ को चौथी से तीसरी सदी ई.पू. के बीच की कृति मान सकते हैं। इसमे कहा गया हैं कि विश्वामित्र यज्ञ में जिसमें जजमान को अपनी सारी संपत्ति दान कर देनी पड़ती हैं कोई सम्राट भी अपने साम्राज्य की सारी भूमि दान नहीं कर सकता क्योंकि धरती सबकी हैं। धरती सबकी हैं, इसका अर्थ विद्वानों ने यह लगाया हैं कि भूमि पर प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग अधिकार हैं लेकिन यहाँ भूमि पर किसी एक का अधिकार होने की बजाय सार्वजनिक अधिकार होने से अभिप्राय हैं।धीरे-धीरे सामंतवादी काल विकसित होने में ज़मीन में पैतृक विभाजन बँटवारा देखा जा सकता हैं। बाप अपने बेटे को संपत्ति बाँट रहा हैं। संपत्ति में भूमि भी आ जाती हैं। "गुप्त कालीन और गुप्तोत्तर काल में धर्मशास्त्रों में भू-संपत्ति के विभाजन की स्पष्ट व्यवस्था हैं। अतएव मध्यकालीन स्मृतियों में भूमि की अविभाज्यता का पुराना विधान असंगत मालूम पड़ता हैं। मिताक्षरा, मदनपरिजात में यह तर्क दिया गया की ब्राह्मण गोत्र के खेतों के अविभाज्य होने का नियम ब्राह्मण से उत्पन्न क्षत्रिय तथा अन्य पुत्रों पर ही लागू होता हैं।"[10] धीरे-धीरे भू संपत्ति का विभाजन लगभग पूरे समाज में होने लगा था। यह प्रथा पहले पुरोहित, ब्राह्मण और क्षत्रिय राजा के यहाँ शुरू हुई थी। आज भी आप ज़मीन के मालिक तो रहते हो कानूनी रूप में पर एक सामाजिक नैतिक दवाब रहता हैं कि ज़मीन कब कहाँ कैसे बेचे। मध्यकाल में भी चाहें निजी मालिक हो भूमि का फिर भी उसे बेचने के लिए परिवार, गोत्र, समुदाय, जाति की आज्ञा लेनी ही पड़ती थी। यद्यपि इसका कोई

कानूनी बंधन नहीं था पर यह नैतिक और सामाजिक रीति-परंपरा थी जो किसी कानून से भी ऊपर दिखती हैं। सीमा-विवाद के निर्णय और भूमि के क्रय-विक्रय में ग्रामीण समुदाय को कुछ अधिकार दिए गए हैं। धर्मशास्त्रों में व्यवस्था हैं कि सीमा-विवाद में कुटुंब (जाति) तथा पडोसी सामंती मध्यस्थता करें, किन्तु साथ ही किसानों, शिल्पियों और यहाँ तक कि आखेटकों के साक्ष्य को भी मान्यता दी गयी हैं। उनके अनुसार कोई भी व्यक्ति अपने गाँव, जाति की सहमति से ही अपनी ज़मीन बेच सकता हैं। ज़मीन बेचने में कुछ ख़ास तरह के खरीदारों को प्राथमिकता देनी पड़ती थी। पहले निकट सम्बन्धियों से पूछा जाता था, फिर पड़ोसियों से और तब धनिकों और इनके बाद अपने सामान्य कुटुम्बियों (सकुल्यों) से। जब इनमें कोई खरीदने के लिए तैयार न हो तभी उसे दूसरी जातियों के लोगों के हाथ बेचने की इजाज़त दी गई हैं।

भूमि के स्वामित्व को लेकर अलग-अलग युग में अलग-अलग मान्याताएँ हैं। भूमि के स्वामित्व को लेकर इतिहासकार काशीप्रसाद जायसवाल स्वामित्व को सामंतवादी प्रवृत्ति मानते हैं। जिस पर राजा सारी ज़मीन का मालिक होता हैं प्राचीन भारत में भूमि पर राजकीय स्वामित्व के सिद्धांत को सामंतवादी विधान का अंग मानते हैं। इसी सामंती विधान को उस युग में चीनी यात्री फाहयान, ह्वेन्सांग ने अपने अपने विवरणों में लिखा हैं कि भूमि राजा की थी।

भूमि पर राजकीय स्वामित्व के प्रबल साक्ष्य मिलते हैं। राजा को समाज के प्रतिनिधि के तौर पर भूमि सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे। भूमि पर राजा का मालिकाना हक़ और भूमि पर राजकीय अधिकार को क्या एक माना जा सकता हैं? ऐसा प्रतीत होता हैं कि इतिहास के युग में कहीं-कहीं पर राजा भूमि का पूर्णतः स्वामी हैं । उसकी मर्ज़ी से ही किसानों को भूमि स्वामित्व और हस्तांतरण किया जाता था। वह अपने तयशुदा कर वसूल करता होगा। यह कर ही उसके राज्य के मालिक होने का सबूत था। और दूसरा कर राज्य की रक्षा सुरक्षा के नाम पर लेना होगा। पर कहीं-कहीं पर वह आंशिक भूमि स्वामित्व होगा। जैसे आप खेती तो कर सकते हैं पर आपको बेचने-गिरवी रखने का हक नहीं हैं। ज़मीन किसान से भी नहीं ली जाएगी पर वह ज़मीन पर सिर्फ खेती करने का मालिक भर होता था। इस प्रक्रिया में किसान भी भूमि का स्वामी होने का भान रख सकता था। किन्तु बृहस्पति और व्यास के अनुसार ऐसी स्थिति में काश्तकार को न केवल भू-स्वामी को उसका हिस्सा देना पड़ेगा, बल्कि उसे

उतना ही दंड राजा को भी देना पड़ेगा। कृषि की उपेक्षा में राजस्व की हानि अवश्य होती होगी, लेकिन इसके लिए राजा भू-स्वामी के बजाय काश्तकारों को उत्तरदायी मानता हैं और इस प्रकार उनके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करता हैं। इससे प्रकट होता हैं कि राजा को उनकी ज़मीन पर सामान्य सत्ता प्राप्त थी।

"वैदिक तथा वेदोत्तर, मौर्य तथा मौर्योत्तर काल के साहित्य में सामान्य जन का कृषि योग्य भूमि के स्वायत्त करने का संकेत मिलता हैं। इसे हम व्यक्तिगत अधिकारों का प्रमाण मान सकते हैं। लेकिन प्रारम्भिक ऐतिहासिक सामग्री में धार्मिक प्रयोजनों के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य से व्यक्ति को अपनी ज़मीन को दूसरे को देने का अधिकार नहीं दिया गया था। खेती की ज़मीन बेचने, रखने, विभाजित करने आदि के अधिकार काश्तकार के पास नहीं थे।"[11] यहाँ काश्तकार के भूमि पर आंशिक हक़ के प्रमाण मान सकते हैं। ज़मीन को बेचने, गिरवी रखने के भी प्रमाण मिलते हैं। किसान जब महाजन का क़र्ज़ नहीं उतार पाते थे तब उन्हें क़र्ज़ चुकाने के लिए ज़मीन भी बेचनी पड़ती थी। यह व्यक्तिगत स्वामित्व के पूर्ण साक्ष्य माने जा सकते हैं। जब किसान ज़मीन का मालिक होता होगा, तभी तो वह अपनी ज़मीन को बेच पाने का अधिकारी होता होगा। "जब कोई व्यक्ति किसी से निश्चित ब्याज पर द्रव्य लेता हैं, ऋणदाता को ब्याज के बदले अपनी ज़मीन देता हैं और उस ज़मीन से ब्याज केबदले अपनी ज़मीन देता हैं और ज़मीन से ब्याज के अतिरिक्त जो लाभ हो उसे मूलधन में गिना जाने का निवेदन करता हैं तब इसे आधि या अप्रत्याय भोग्यांध: कहते हैं, और इस तरह जब मूलधन के दोगुनी राशि अदा हो जाती हैं तो कर्ज़दार को आधि वापस मिल जाती हैं। यदि ज़मीन बंधक न रखी गयी हो तो भी क़र्ज़ अदा करने के लिए उसे बेचा जा सकता हैं। भारद्वाज के अनुसार यदि कर्ज़दार क़र्ज़ चुकाने में असमर्थ हैं तो उसकी सम्पत्ति क़र्ज़ के भुगतान के लिए बेच दी जाए और इस संपत्ति में भूमि, खेत, बगीचा और घर सभी शामिल हैं।"[12]किसानों को पट्टे देने के जो नियम बने थे उनसे भी भूमि पर व्यक्ति के अधिकार सिद्ध होते हैं। ये तमाम नियम ज़मीन पर व्यक्तिगत हक के पर्याप्त सबूत माने जा सकते हैं। बंधक, बेदखली और बिक्री-सम्बन्धी कानून साधारण किसान भूस्वामियों की जगह बड़े-बड़े भूमिहारों के हित में जाते दिखाई देते हैं। पर सामंती राज्यव्यवस्था और उसकी आर्थिक संरचना में भूमि का असमान वितरण साफ़ दिखाई पड़ता हैं।

सामंती व्यवस्था से पहले या मध्यकाल के पूर्व में व्यक्तिगत भूमि होने के सिद्धान्त पर अधिक बल मिला हैं। राजकीय भू-स्वामित्व के आधार राजा अपने अधीनस्थ लोगों को सेवा के बदले भूमि दान में दे देता हैं। यह भूमि पुरोहितों, मंदिरों, सामंतों और राज्य विशेषाधिकारियों को मिलती थी। यह राजकीय भूस्वामित्व के कारण ही मध्यकालीन समय में राजाओं ने मनमाने तरह से किसानों पर कर लगा दिया थे। बेगारी भी भूस्वामित्व के दवाब में करायी जाती थी। कहीं हमें भूमि से राजा बेदखल न कर दे, इस डर से किसान राजा और उसके अधीनस्थ कर्मचारियों, सामंतो के जोर ज़ुल्म भी सहता था और उनकी खुली बेगारी करता था। "फिर भूमि पर राजकीय स्वामित्व के सिद्धान्त के कारण मध्यकालीन नरेशों को किसानों पर तरह-तरह के कर लगाने का वैधानिक आधार मिल गया।"[13]

भूस्वामित्व के दोनों अधिकारों के कारण किसान भूमिहीन कृषक दास बन गए। दोनों सिद्धांतोंने सामुदायिक भूमि को पंगु बना दिया और ऐसी स्थिति पैदा कर दी किजिसमें अनुदान भोगीतथा बड़े-बड़े भूमिपति विस्तृत-गोचर भूमि तथा उसी प्रकार की अन्य सामुदायिक भूमि को आसानी से अपनी निजी संपत्ति बना सकते थे। फलतः साधारण किसान या तो कृषि दासों की अवस्था में पहुँच गए या नए असहाय-निरुपाय आश्रित बनकर रह गए। इस तरह भूमि जिसे पुराणों और शास्त्रों में प्राकृतिक संपदा मान कर इसे सार्वजानिक उपभोग के प्रावधान थे, को राजा ने इसके संरक्षणकर्ता के रूप में अपनी निजी स्वामित्व का विषय बना लिया। इसके उपभोग, संरक्षण, स्वामित्व और लेन-देन के अधिकार भी राजा में ही केन्द्रित हो गए। जिसका वर्तमान, आधुनिक स्वरुप 'राज्य' द्वारा प्राकृतिक संसाधनों पर एकाधिकार के रूप में दिखता हैं। अलग अलग शासन काल में भले ही कृषि व्यवस्था अपने चरम पर हो लेकिन किसानों के भूमि सम्बन्धी अधिकार सदैव ही अनिश्चित रहे हैं। इस व्यवस्था में राजासबसे बड़ा भूमिपति था और बाकी लोग उसके अधीनस्थ भूमिपति थे। इस व्यवस्था में कई प्रकार के श्रेणीबद्ध भू-तत्व मिलते हैं जिसमें राजा, स्वामी और कृषक के अधिकार शामिल थे। एक ही खेत में विभिन्न पक्षों के अपने अलग-अलग हक हुआ करते थे। इसका पता अशरफपुर के ताम्रपट अनुदान से चलता हैं जो सातवीं-आठवीं शताब्दी काहै।

600 ईसा पूर्वसोलह महाजनपद और मगध साम्राज्य में भूमि पर तीनों प्रकार के भू स्वामित्व दिखाई पड़ता हैं और लगता हैं कि खेती-किसानी की हालत में सुधार हो रहा

हैं। अर्थव्यवस्था में कृषि का मुख्य योगदान कहा जाता हैं। "अर्थव्यवस्था ग्राम पर केंद्रित थी। सुरक्षा के लिएइसके चारों और दीवारों का घेरा बनाया जाता था। जिनमें ग्रामद्वार(ग्राम में घुसने का रास्ता) होता था। गांव का मुख्य ग्राम, भोजक कहलाता था। गांव के खेतों (ग्राम क्षेत्र) में खेती होती थी। जिन्हें झाड़-झाखड़ की बाढ़ लगाकर और रखवालों द्वारा पशु पक्षियों से बचाया जाता था। बड़े-बड़े फार्म भी थेजिनमें 500 हलों से खेती होती थीऔर मजदूर (भतिका) काम करते थे। किंतु समान्यतः काश्तकार अपनी खेती अलग-अलग करते थे।"[14]

इतिहास के उपरोक्त विकास क्रम को देखने से पता चलता हैं कि भले ही उत्पादन संबंधों में परिवर्तन हुए हो लेकिन किसानों के जीवन के हालात कमोबेश एक जैसे लगते हैं। मौर्य काल में भीराजकीय वगैर राजकीय भूमि की श्रेणी साफ दिखाई देते हैं। भाग, बलि, पिंडकार, षड़भाग, कर आदि अनेक प्रकार के करों की सूची से ऐसा संकेत मिलता हैं कि आंतरिक क्षेत्रों में अनेक प्रकार की काश्तकारी प्रथाएं प्रचलित थी। "कुछ मामलों में भूमिपर निजी स्वामित्व भी होता था और राज्य को करों की अदायगी की जाती थी। ऐसे इलाके आमतौर पर गंगा घाटी में आरंभिक राज्यों से जुड़े हुए थे। कुछ भूमिराजकीय नियंत्रण में अर्थात सीता भूमि थी जिस परकाश्तकारोंकी सीताध्यक्ष (कृषि अधीक्षक) की निगरानी में खेती का अधिकार दिया जाता था।"[15] राजा की भूमि पर खेती करने में राजकीय सुविधा मिलती थी। मसलन सिंचाई के साधन उपलब्ध कराए जाते थे। "सातवाहन और कुषाण कालीन राजव्यवस्था में किसानों पर बेगारी, अत्याचार,शोषण बढ़ गया था।विशेषकर सातवाहनकीमातृसत्तात्मक व्यवस्था में इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। यह बौद्ध और ब्राह्मणों को द्रव्य और भूमि अनुदान देने वाले प्राचीनतम शासक थे।यह भीअपने शासन में किसान पर खुली बेगार लेते थे।राज्याधिकारियों, पुलिस और सैनिकों को ठहराने का भार किसानों के सिर डाला जा सकता था। उनके संचालन का खर्च किसानों से वसूल किया जा सकता था ।"[16]

इसी तरह गुप्तकाल में भूमि व्यवस्था के सम्बन्ध में इतिहासकारों ने कई प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। "भारत के इतिहास में सामंतवाद का सबसे सशक्त रूप गुप्तकाल में दिखाई पड़ता हैं। गुप्तकाल में निजी भूमि रखने के स्पष्ट उदाहरण देखे जा सकते हैं।यहां भूमिदान की प्राचीन प्रथा गुप्तकाल में और मजबूत होती दिखाई पड़ती हैं। भूमि-अनुदानों की प्रथा से भारत में सामंती व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त हो गया।कई अभिलेखों में कृषि-दास प्रथा के उद्भव का उल्लेख मिलता हैं।जिसका अर्थ हैं कि

वृत्तिभोगियों को जमीन देने के बाद भी किसान उनकी जमीन से जुड़े रहते थे।फिर भी छठी शताब्दी के गुजरात, मध्यभारत और उड़ीसा के शिलालेखों से संकेत मिलता हैंकि यदि किसानों की जमीन दूसरों को अनुदान के रूप में दे दी जाती थी, तो भी वे अपनी जमीन से जुड़े रहते थे। इस प्रकार देश के कुछ भागों में किसानों की स्वतंत्र स्थिति की उपेक्षा गई और वे कृषि दास अथवाअर्ध कृषिदास की अवस्था में आ गएथे।"[17]इस समय भूमि स्वामित्व तथा भूमि वितरण व्यवस्था में कई परिवर्तन हुए। "गुप्तकाल में कृषि क्षेत्र काकाफी विस्तार हुआ। इसका प्रमाण इस युग में पिछड़े इलाके में ब्राहमणों को दिए गए भूमिदान से मिलता हैं। इस काल में जमीन पर निजी अधिकारों का विकास स्पष्ट रूप से हुआ। धार्मिक प्रयोजनों के लिए भूमि की खरीद बिक्री के प्रथम पुरालेखीय साक्ष्य हमें इसी काल में उत्तर बंगाल से प्राप्त होते हैं।"[18]इससे स्पष्ट होता हैं कि गुप्तकाल में किसान और राजकीय संबंध ज्यादा स्पष्ट हो गए थे। इस सम्बन्ध में किसानों का शोषण राजा, सामंतों द्वारा होता था और उनसे खुलेआम बेगारी ली जाती थी। इतिहासकार डी एन झा किसानों के हालातों को कुछ इस तरह व्यक्त करते हैं, "गुप्त काल से ही बेगार-प्रथा (विष्टि) और कई प्रकार की उगाहियों एवं लगानों से लगे रहने के कारण भी किसानों की स्थिति जर्जर होती गयी। मौर्यकाल में दासों और भाड़े के मजदूरों से बेगार लिया जाता था। इस काम की देखरेख के लिए एक वेतन भोगी अधिकारों को नियुक्त किया जाता था। लेकिन गुप्त काल में अन्य वर्णों के लोगों से भी हर तरह का काम लिया जाने लगा। वात्स्यायन के कामसूत्र से हमें ज्ञात होता हैं कि किसानों की औरतों को गांव के मुखिया की अनाज की कोठी भरने, घर की चीजों को बाहर और भीतर ले जाने, घर को साफ सुथरा रखने, खेतों में काम करने, रुई, लकड़ी, तीसी, सन और धागा खरीदने तथा विभिन्न वस्तुओं की खरीद-बिक्री एवं विनिमय करने से लेकर और सभी तरह के काम नि:शुल्क करने के लिए मजबूर किया जाता था।"[19]

गुप्त काल की तरह ही आगे भी किसान के हालातों में कुछ विशेष सुधार नहीं आया। हर्ष के समय में भी अधिकतर भूमि, राज्य की भूमि घोषित कर दी जाती हैं और भूमि को ही राजा द्वारा कर्मचारियों को वेतन के रूप में देता हैं। जिस भूमि पर काश्तकार खेती करते हैं उस पर राजा लगान के रूप में छठवाँहिस्सा लेता हैं। मंत्री और कर्मचारियों को वेतन नगद की बजाए भूमि के अनुदान के रूप में मिलता था। श्वान चाडने लिखा हैं कि, "राजा की भूमिका एक चौथाई भाग सरकारी कर्मचारियों के

वेतन के लिए सुरक्षित रखता था और एक चौथाई की आय से शासन और प्रशासन खर्च चलाता था उपज का छठा हिस्सा लगान के रूप में लिया जाता था।''[20]

मध्यकाल से पहले लगभग पूरी अर्थव्यवस्था में किसान की हालत जर्जर होती जा रही थी। भू-स्वामित्व पर वही तीन प्रकार के दावे थे। संक्षेप में, पाल, राष्ट्रकूट और प्रतिहार वंश में इनके प्रमाण दिखाई पड़ते हैं। इन तीनों की अर्थव्यवस्था में कुछ प्रमुख बिंदु हैं। एक तो यह कि भूमि पर राज्य और सामुदायिक स्वामित्व का ह्रास हो रहा था और व्यक्तिगत स्वामित्व का विकास हो रहा था। दूसरा उपसामंतीकरण, बेदखली, नए-नए करों के आरोपण तथा बेगार के कारण किसानों की दशा दासवत होती जा रही थी। तीसरे व्यापार तथा शिल्प कारीगरी से होने वाली राजकीय आय भी कुछ लोगों की जागीर बनती जा रही थी। चौथा-आत्मनिर्भर आर्थिक जीवन, जिसका अस्तित्व मुद्रा के अपेक्षाकृत कम उपयोग और व्यापार की कमी से सिद्ध होता हैं।

इसी प्रकार किसान लोग भी इन साम्राज्यों की स्थापना से पहले ही तरह-तरह के प्रतिबंधों और बोझों के कारण हीनावस्था में पहुंचते जा रहे थे। अब अंतर सिर्फ इतना पड़ा कि राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र में कर, पट्टी, बेदखली तथा बेगार का सिलसिला और भी जोरों से चल पड़ा। किंतु ग्रामीण लोगों के भूमि-विषयक तथा सामुदायिक आधारित अधिकारों का ह्रास और उसके परिणाम स्वरूप भूमि पर निजी अधिकारों का विकास, शिल्प-उद्योग तथा व्यापार का सामंतीकरण और मुद्रा का अभाव; येसब इस कामकाज की अर्थव्यवस्था की नई विशेषताएं जान पड़ते हैं। इनमें से कुछ को विशेषकर भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के विकास को अच्छी तरह से समझने के लिए पूर्व-मध्यकालीन में दिए गए अनुदानों का क़ानूनी आधार रहा हैं।

मध्यकाल में कृषि व्यवस्था और भूमि संबंधों की स्थिति

सामंतवाद के बाद मध्यकाल, सल्तनतकाल और मुग़लकाल में भूमि व्यवस्था में कई संस्थागत परिवर्तन किये गए। भारत में मध्यकाल, सल्तनतकाल और मुगलकाल का कृषि की दृष्टि से काफी महत्व हैं। कृषि व्यवस्था में प्रयुक्त होने वाले फारसी शब्दों का चलन (खसरा-खतौनी, रक़बा आदि) फारसी भाषा के शब्द हैं जिनका आज भी प्रयोग होता हैं। प्रशासन व्यवस्था के विकास के साथ खेती के सम्बन्ध इस दौर में जटिल होते गए।

मध्यकाल के आरंभ में राजपूताना के भू-भाग में गंगा यमुना का दोआब क्षेत्र के बीच की जमीन के उपजाऊ होने के प्रमाण और किसानों की कुशलता की तारीफ अनेक अरब यात्रियों के हवाले से मिलती हैं। भारतीय कृषि की फलती-फूलती रही मिट्टी की उर्वरता और भारतीय किसान की कुशलता की पुष्टि अनेक अरब यात्रियों ने की।''[21]ऐसा लगता है कि इस काल में कृषि फल-फूल रही हैं परकिसान पर तमाम नए-नए कर लगाए जा रहे थे उनसे बेगारी लेने की नई प्रथा भी आरंभ हो रही थी। ''पर सच्चाई यह हैं कि किसानों की हालत खराब होती जा रही थी। उनकी उपज का छठवाँ भाग राजस्व कर में ही जाता था साथ ही तमाम अन्य कर लगाए जाते थे। जैसे चढ़ाई कर, तालाब कर आदि किसान को यह कर मालगुजारी के अलावा देने पड़ते थे। किसानों को बेगार (विष्टि) भी देनी पड़ती थी।''[22] किसान की मुश्किल लगातार बढ़ रही हैं समय के साथ फसलों की संख्या और किसानों की श्रेणियां बढ़ने लग रही हैं इसके साथ ही किसानों की समस्याओं में इजाफा हुआ हैं। दिल्ली सल्तनत में भी किसानों की हालत में गिरावट दर्ज होती हैं। किसान उस अर्थव्यवस्था का मुख्य स्तंभ हैं, कठोर परिश्रम करने के बाद भी समस्याओं से ग्रस्त नजर आते हैं। उन्हें सही से भरपेट खाना भी नसीब नहीं होता हैं। सल्तनत काल में किसानों की स्थिति का उल्लेख करते हुए सतीश चन्द्र कहते हैं कि, ''पहले की तरह आबादी में विशाल बहुमत किसानों का था। वे कड़ी मेहनत करते और मुश्किल से दो जून की रोटी खाते थे। देश के विभिन्न भागों में अकाल और युद्ध किसान की मुश्किल बढ़ाते रहते थे। सभी किसान कठिनाई से गुजारा करने वालों में नहीं थे। गांव के दस्तकारों और बटाईदारों को छोड़कर गांव में एक अधिक समृद्ध किसान भी था जो अपनी जमीनों का मालिक था। वह गांव के मूलनिवासी माने जाते थे और पंचायतों पर हावी होते थे। गांव के मुखिया (मुकद्दम) और छोटे भूस्वामी का जीवन स्तर भी औरों से ऊंचा था।''[23] शासन काल और व्यवस्था में परिवर्तन के बावजूद कृषि के तौर तरीके कमोबेश पूर्ववत ही थे। इसका कारण बताते हुए इतिहासकार इरफ़ान हबीब कहते हैं कि, ''दिल्ली सल्तनत के साथ दक्षिण से महत्वपूर्ण राज्य विजयनगर की अर्थव्यवस्था में कृषि का अहम योगदान था। पर कृषि में दिल्ली सल्तनत से ज्यादा कुछ परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता हैं। अधिकांशतः इसका कारण यह हैं कि इस काल में खेती के तौर-तरीके में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं आया।''[24]

मुगलकाल में किसानों की तमाम श्रेणियां ज़्यादा अच्छे रूप में विकसित हो गई थी। यहां ऊपरी श्रेणी के किसान अपने निचले श्रेणी के किसानों का शोषण करते नजर आते हैं। इतिहासकार सतीशचन्द्र, इतिहासकार इरफ़ान हबीब की इस बात की पुष्टि करतें हैं। वे बताते हैं कि,"किसान की हालत इस काल में भी खराब ही रहती हैं। जिस किसान के पास अपने हल-बैल नहीं होते थे, वह प्राय जमींदारों या ऊंची जातियों की जमीन जोतता-बोता था और मुश्किल से निर्वाह कर पाता था। भूमिहीन किसान और मजदूर अक्सर उस श्रेणी के होते थे, जिसे 'अछूत' या कमीन कहा जाता था। कभी अकाल पड़ता और अकाल आम थे, तो सबसे अधिक कष्ट किसानों की इसी श्रेणी को और ग्रामीण दस्तकारों को उठाना पड़ता था। जो किसान अपनी जोती हुई जमीन के स्वामी थे वे ख़ुदकाश्त कहलाते थे। खुदकाश्त जो कि गांव के मूल निवासी होने का दावा करते थे अक्सरएक या अधिक प्रभुत्वशाली जातियों के होते थे। इन जातियों का ना सिर्फ ग्रामीण समाज पर वर्चस्व था, वे गरीब या कमजोर वर्ग का भी शोषण करते थे। फिर अक्सर जमींदारों द्वारा उनका भी शोषण किया जाता था।"[25]

इस काल में किसान जब तक मालगुजारी देता रहता था तब तक जमीनों से बेदखल नहीं किया जाता था। अगर उसे खरीददार मिलता हैं और बाकी किसान आपत्ति न करते तो वह अपनी जमीन बेच भी सकता था। उसकी मृत्यु के बाद उसके बच्चे अधिकारिक रूप से उसकी जमीन के वारिस होते थे। राज्य के हिस्से की दर ऊंची होती थी, कभी-कभी उपज का लगभग आधा हिस्सा होता था। जिसे चुकाने के बाद साधारण किसान के लिए सिर्फ इतना बचता था कि वह अपना जीवन चला सके। भूमि के सुधार या प्रसार के लिए वह कृषि निवेश की स्थिति में नहीं होता था। हालाँकि किसानों का जीवन कठोर होता था। भूमिहीनों, कमीन समेत दस्तकारों के एक वर्ग की दशा और भी कठोर रही होगी पर सभी किसानों का जीवन स्तर इतना नीचा नहीं था। भूस्वामी खेतिहरों (खुदकाश्त) के पास का आमतौर पर अधिक जमीन होती थी और कुछ लोगों के पास तो बड़े-बड़े भूखंड तथा कृषि के लिए अनेक हल, बैल होते थे।

मुगलकाल में खाने की जरुरत के अलावा खेती मुनाफे और फायदे के लिए होने लगी थी। अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि व्यापार के लिए खेती होने लगी थी। इस काल में गेहूं, चावल, चना, ज्वार, दाले, बाजरा आदि अनेक फसलों की खेती होती थी। उन फसलों का भी जिनका उपयोग वस्तु निर्माण के लिए किया जाता था जैसे कपास,

नील, चाय, गन्ना, तिलहन आदि। नकदी फसल का आरंभ भी इसी काल में शुरू हुआ। लाभ होने की स्थिति में नई-नई फ़सलें भी पैदा की जाती थी जिनमें नकदी फ़सलेंप्रमुख थी इन फसलों में लगान की दर भी ज्यादा रहती थी। इन फसलों पर अधिक मालगुजारी लगती थी और वह नगद मुद्रा ली जाती थी। इसलिए अक्सर इन्हें नकदी फसलें या उम्दा फसल कहा जाता था।

औपनिवेशिक शासनकाल में कृषि व्यवस्था

उपनिवेशकाल के दौर में अंग्रेजी शासन ने कृषि व्यवस्था में और परिवर्तन किये। भू-व्यवस्था और कानूनों के माध्यम से कृषि व्यवस्था में कई बदलाव किये गए।यह सभी बदलाव राज्य को लाभ पहुंचाने के उद्देश्य से किये गए। फिर चाहे वह रैयतवाड़ी, महलवाड़ी और जमींदारी प्रथा हो या फिर वन संरक्षण कानून हो।इस दौर में ब्रिटिश शासन, देशी जमींदार, साहूकार महाजन और छोटे, भूमिहीन किसान के अंतर्विरोध काफी तेज हो गए।नौकरशाही व्यवस्था ने किसानों के शोषण के नए स्तर विकसित कर दिए।इसीलिए इस काल में कृषि व्यवस्था में परिवर्तन के साथ किसानों का शोषण और प्रतिरोध के तत्व भी मिलते हैं।

किसान जीवन और कृषि व्यवस्था की वर्तमान स्थिति को समझने के लिए इतिहास में शासन-अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध को खंगालने से कृषि व्यवस्था के संस्थागत ढांचे को समझने में मददगार हैं। मध्यकाल से लेकर आधुनिक इतिहास में व्यवस्थागत तमाम परिवर्तन किये गए जिनकी झलक आज भी हमें अलग-अलग रूप में देखने को मिलती हैं। बात चाहे लगान व्यवस्था की हो, या भूमि सुधार अधिनियम या नकदी फसल पैदा करने का चलन, मुचलका लिखवाने का प्रावधान हो या फिर बेदखली का खतरा; ये सारे प्रावधान अपने शासनकाल के उद्देश्यों और राजनीतिक संबंधों के ताने-बाने की ही देन हैं। जैसा कि आने वाले अध्याय में अलग-अलग समय और क्षेत्रों की पृष्ठभूमि में लिखे गए उपन्यासों से इन व्यवस्थाओं के स्थानीय स्वरुप और स्थानीय आमजन या गरीब-छोटे किसानों पर होने वाले गहरे असर का वर्णन मिलता हैं। इन वृहद् व्यवस्थाओं के जटिल अंतर्संबंधों का गहरा और सूक्ष्म रूप हमें किसान जीवन की कहानी से पता चलता हैं। इसीलिए जरुरी है कि इन संस्थागत व्यवस्थाओं के विकास क्रम और नीतिगत प्रक्रियाओं में आने वाले परिवर्तनों का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जाये।

अंग्रेजों के भारत में पैर ज़माने के साथ ही नौकरशाही व्यवस्था के विकास के बीज़ पड़ गए थे। नौकरशाही व्यवस्था के विकास के साथ ही किसानों के शोषण के स्तरों में और भी वृद्धि हो गयी। नौकरशाह किसानों का उत्पीड़न करते थे और मौके-बेमौके पर उनसे बेगार भी लेते थे। छोटी-मोटी वसूलियों को परंपरा का ओहदा मिलने से आगे चलकर वसूलियों की इसी रस्म के दायरे और तीव्रता का विस्तार हुआ। ''अहम बात यह हैं कि इस प्रकार की वसूलियों में किसानों, दस्तकार और चाकरों के शोषण में यह तीव्रता लगभग हर उस शख्स के कारण आयी जो मांग कर सकने की स्थिति में था। फिर चाहे वह आलिम हो, फौजदार हो, जागीरदार हो, जमींदार हो या स्थानीय स्तर पर इजारेदार। लेकिन तीव्रता की इस प्रक्रिया में सबसे बड़ी भूमिका सरकारी अधिकारियों की थी।''[26]इसके बाद भारतीय अर्थव्यवस्था में अंग्रेजी साम्राज्यवाद का दखल बढ़ने लगा था। अंग्रेजों ने भारत में सब कुछ अपने फायदे के लिए किया था, उन्होंने वह रीति-परंपरा चलने दी जिसमें उन्हें फायदा होता दिख रहा था।

अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन के दौरान भू स्वामित्व भारतीय सामंतवाद में जमीन के स्वामित्व को लेकर कोई एक सर्वमान्य अवधारणा नहीं दिखाई पड़ती हैं। कहीं पर जमीन पर सामूहिक स्वामित्व दिखलाई पड़ता हैं और कहीं किसी दूसरे क्षेत्र में जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व दिखाई पड़ता हैं। कहीं तीसरे जगह में जमीन पर राजकीय हक दिखाई पड़ता हैं। कुछ एक क्षेत्रों में एक भूमि पर कहीं एक का मालिकाना हक एक साथ दिखाई पड़ता हैं। अंग्रेजों ने भारत को अपना उपनिवेश बनाने के साथ-साथ हमारी कृषि योग्य भूमि को अपना मुनाफा कमाने का एक साधन समझा था। इस कारण जहां उनको जो भी परंपरा चल रही थी और जैसी रैयतों की चेतना थी उसका विश्लेषण करके वैसे कानून बनाने की कोशिश की थी।जहां जमीन भूमि को राज्य के या राजा की संपत्ति समझा जाता था वहां उन्होंने जमीन कामालिक खुद अपने आप को समझा। भूमि को अपने हिसाब से ज्यादा से ज्यादा फायदा पहुंचे वैसे नीति बनाकर राजस्व वसूलना शुरू कर दिया।

इस सन्दर्भ में अंग्रेजों का कहना था कि भारत की कृषि, रोजगार की हालत बहुत खराब हैं उसे हम ठीक करेंगे। तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड कार्नवालिस कहते हैं, ''कृषि और व्यापार बड़ी बुरी हालत में हैं, जमींदार और राज्य दोनों गरीबी तथा तंगहाली से पीड़ित हैं। केवल महाजन समुदाय फल-फूल रहा इसका मुख्य कारण था राजस्व मामलों की तत्कालीन स्थिति और उनके अनुसार इसका समाधान जमींदारों के

साथ भू राजस्व का स्थाई बंदोबस्त या दमामी बंदोबस्त था।"[27]भूमि सुधार की इस अनिवार्यता ने किसानों को व्यवस्था पर और अधिक निर्भर कर दिया। इन संस्थागत सुधारों से किसानों की निर्भरता और उनके शोषण की सम्भावना भी बढ़ गयी।

उपनिवेशकालीन भू-राजस्व प्रबंधन

स्थाई बंदोबस्त व्यवस्था भूमि पर राज्य के या राजा के स्वामित्व की अवधारणा से पैदा हुई थी। मतलब अंग्रेजी किसी भी जमीन में हिस्से को एक तय राशि के आधार पर बोली लगाकर कोई भी जमींदार से ले सकता था। अंग्रेज सरकार को उस जमींदार से तय लगान समय पर मिल जाता था। अगर जमींदार लगान नहीं दे पाता था तो उसे बेदखल कर दिया जाता था। उसकी जगह पर नए जमींदारों को जागीर दे दी जाती थी। अब जमींदार तय लगान से ज्यादा लगान रियाया से ले सकते थे। अंग्रेज ज्यादा हस्तक्षेप नहीं करते थे। चाहे फसल अच्छी हो या बर्बाद किसान को उतना लगान तो देना पड़ता था। किसानों के शासक अंग्रेज नहीं जमींदार हुआ करते थेक्योंकि किसानों से जोर जबरजस्ती करके लगान लेना अंग्रेजों का नहीं जमींदारों का काम था। किसान अपनी जमीन से बेदखल होने से बचने के लिए कैसे भी करके समय पर लगान दे दिया करते थे। कई बार फसल अच्छी नहीं होती थी तो महाजन से ऊँची दर पर ऋण लेकर लगान देना पड़ता था। फिर उस ऋण को चुकाने के लिए अगली फसल का इंतज़ार और अगली फसल अच्छी नहीं हुई तो लगान और कर्ज दोनों का ही बोझ बढ़ जाता था। इस तरह यह चक्र चलता रहता था जिससे किसान कभी ही नहीं पाता था । जमींदार उनके कारिंदे, महाजन, सूदखोर और बिचौलिए यह पूरा वर्ग किसानों से ही अपनी आजीविका चलता था। यह तबका अंग्रेज और किसानों के बीच बिचौलिए का काम करता था। अंग्रेज भी जब कभी शिकार या मनोरंजन के लिए आते थे तो रियाया से बेगारी कराते थे। उनके साथ उस क्षेत्र का जमींदार आवभगत के लिए नियुक्त होता था। अंग्रेज, जमींदार, जागीरदारों के बीच काम करने वाले नौकर चाकर, कारिंदे, सूदखोर महाजन सब मिलकर किसानों पर जुल्म ढाते थे और उनका शोषण करते थे। उनसे बेगारी लेते थे। उनकी कच्ची फसल, मुर्गे, बकरी, भेड़ इत्यादि भोजन के लिए बिना कीमत दिए ले जाते थे। इस तरह से किसान त्रिस्तरीय शोषण-उत्पीड़न का शिकार हो जाता था।

अंग्रेज शासन व्यवस्था सोचती थी कि यहां अपना उपनिवेशिक शासन सिर्फ सेना की ताकत से स्थापित नहीं होगा। यहां देशी लोगों से सहयोग लेकर ही शासन किया जा सकता हैं यानी सहयोगात्मक नीति अपनानी पड़ेगी। अपने मित्र बनाने पड़ेंगे जिनके हित भी जुड़े हो और वह हम पर निर्भर भी रहे। जनता के आक्रोश का सामना वही लोग करे और जरूरत पड़ने पर हम जनता और उनके बीच समझौता भी कराएं। जिससे हमारी भूमिका तटस्थ और न्यायाधीश की दिखें। वैसे हम अपने बचाव के लिए 'जरूरी' मित्र का साथ देंगे पर किसान के सामने हम तटस्थ रहेंगे। जमींदार वर्ग ही अंग्रेजो को मित्र के इस रूप में मिल सकता था। ''कार्नवालिस के दिमाग में बहुत कुछ इस प्रकार की बातें थी कि जमींदारों के साथ स्थाई बंदोबस्त उन्हें कंपनी शासन के पक्के मित्र बना देगी। ग्रामीण क्षेत्रों में शांति और स्थिरता का वातावरण पैदा करेगी, जिसका कृषि अर्थव्यवस्था पर अनुकूल असर पड़ेगा। सरकार की भू राजस्व की मांग की स्थायी सीमा निर्धारित करने से जमींदारों को जंगल साफ करने तथा खेती की जमीन के क्षेत्रफल को बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा। साथ ही भू राजस्व के मामले में काफी निश्चिंतता और व्यवस्था आ जाएगी। स्थायी बंदोबस्त सरकारी राजस्व मांग का नियमित भुगतान की गारंटी करेगा और सरकार लगान की वसूली तथा इसके इंतजाम से मुक्त हो जाएगी।''[28] इस स्थायी बंदोबस्त में भू-स्वामित्व का अधिकार अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी के पास रहता था। पर पट्टा जमींदारों को देती थी और जमीनदार किसानों को। यह पट्टा तब तक मान्य रहता था जब तक कि किसान लगान देता रहे। वही हाल जमींदारों का भी था ।

इस बंदोबस्ती व्यवस्था से किसान और जमींदार के सम्बन्ध काफी जटिल हो गए। स्वयं जमींदार भी इस व्यवस्था के प्रत्यक्ष लाभार्थी नहीं थे लेकिन उन्हें किसानों की समस्याओं से कोई लेना देना भी नहीं था। जिन जमींदारों के साथ बंदोबस्त हुई उन्हें जमीन के ऊपर स्वामित्व के अधिकार दिये गये। यद्यपि पट्टा विनिमय का उद्देश्य इन अधिकारों को तब तक बनाए रखना था जब तक वह अपने लगान अदा करते रहे। अंग्रेजी शासन के जमींदारी प्रथा में हस्तक्षेप से जमींदारों को भी नुकसान हुआ था पर अंततः सारा बोझ किसानों पर ही आ पड़ा था। ''जमींदारों को एक निश्चित तारीख तक तयशुदा मालगुजारी देनी पड़ती थी। तथाकथित 'सूर्यास्त का नियम' और न दे पाने पर जमींदारी बिक जाती थी। अकसर उनके लिए लगान वसूल करना भी कठिन हो जाता था, क्योंकि माँगें बहुत भारी थी, और प्रक्रति का कोई भरोसा नहीं

था। फलस्वरूप ज़मीदारियाँ अकसर बिकती रहती थी; 1794 से 1807 के बीच बंगाल और बिहार में लगभग 41%मालगुजारी देने वाली जमीने नीलाम में बिकीं; उड़ीसा में 1804 और 1818 के बीच नीलामी के कारण 51.1 प्रतिशत मूल जमींदार तबाह हो गए।''[29] स्थायी बंदोबस्त ने मूलतः अंग्रेजी साम्राज्य को ही फायदा पहुंचाया था। अंग्रेजों को कृषि और जमीन से ज्यादा से ज्यादा दोहन करने का मौका मिला था। जमींदार तो उनके हाथ की कठपुतली ही साबित हुए थे। कंपनी इस प्रकार अपने राजस्व में बेहताशा बढ़ोतरी करती हैं, ''राजस्व में कंपनी में हिस्सा 89% तय किया गया। साथ ही लगान वसूली के लिए जमींदारों को खुली छूट दी गई। जॉन शोर द्वारा किए गए आंकड़े के अनुसार सन 1762-63 में बंगाल की कुल राजस्व वसूली 64.6 लाख रुपए थी जो 1765-66 में 147 लाख रूपए तथा 1790-91 में 268 लाख रुपए हो गई। कंपनी की बढ़ती मांगों को पूरा करने के लिए जमींदारों ने मनमाना लगान वसूला। वर्षों से चली आ रही कृषि व्यवस्था तहस-नहस हो गयी। यही नहीं कंपनी द्वारा अपने व्यापारिक हितों के कारण कुछ खास नकदी फसलों की जबरन खेती से खाद्यानों की उपज पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इसकी परिणीति बंगाल में 1770 में पड़े भयानक अकाल के रूप में हुई। जिसमें दस लाख लोग और हजारों जानवर मारे गए।''[30]

स्थाई बंदोबस्त से सबसे ज्यादा फायदा अंग्रेजी साम्राज्य का ही हुआ। इसके बाद दूसरा बड़ा फायदा जमींदारों को हुआ था। पर अंग्रेजी व्यवस्था जमींदारों को भी बेदखल कर सकती थी और अंग्रेज इन्हें मालगुजारी न देने पर बेदखल करते थे तो यह अपने आसामी को समय पर पूरा लगान नहीं चुका पाने से बेदख़ल कर देते थे। इस वजह से सबसे ज्यादा भार किसान ही झेलता था। अंततः किसान ही बुरे हालत में था। ''स्थाई बंदोबस्त ने जमीन का मालिकाना हक जमींदारों को दिया जिनको पहले केवल मालगुजारी वसूल करने का अधिकार था। इसलिए इस बंदोबस्त में जो लोग घाटे में रहे थे वह किसान जो अब जमींदार के रहमों-करम पर निर्भर हो गए। बाद में 1799 और 1872 के कानूनों के (रेग्युलेशन) ने जमींदारों को अधिकार दिया कि लगान नहीं अदायगी की स्थिति में किसी अदालत की अनुमति के बिना भी असामियों की संपत्ति जब्त कर सकते थे। जमींदारों की बेलगाम ताकत से काश्तकारों की हालत बिगड़ी थी।''[31]स्थायी बंदोबस्त की व्यवस्था का असर बंगाल बिहार उड़ीसा में ज्यादा स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता हैं। यह व्यवस्था पुरानी भू-स्वामित्व व्यवस्था

की निरंतरता में देखी जा सकती हैं। इस भू-भाग के क्षेत्र में राजा, जमींदार, सामंतों का ज्यादा दबदबा देखा गया था। यहां भूपति राजा को ही माना जाता था। अंग्रेजों ने भी 1757 के प्लासी के युद्ध में बंगाल के नवाब को हराकर बंगाल पर कब्जा किया था । बंगाल में भूमि के स्वामित्व को लेकर जैसी परंपरा और चेतना थी, उसी परंपरा और किसानों की चेतना के अनुरूप अंग्रेजों ने इस नई व्यवस्था को ईज़ाद किया था। इस व्यवस्था का प्रभाव और जमींदारों के अधिकार ग्रामीण क्षेत्रों में 1930 ईस्वी तक साफ़ देखे जा सकते थे।

रैयतवारी व्यवस्था के भू-स्वामित्व में रैयत और राज्य दोनों ही अपनी-अपनी तरह से भूमि पर स्वामित्व समझते थे। रैयत जमीन का मालिक खेती करने भर का होता था। राजा भूमि से राजस्व लेने भर का मालिक होता था, दोनों में ही इस प्रकार की आपसी समझदारी बनी हुई थी।रैयतवाड़ी बंदोबस्ती में अंग्रेजों ने दूरदृष्टि और सूझबूझ से अपने हित में रैयतवाड़ी बंदोबस्त लागू की थी। पुरानी स्थाई बंदोबस्त में उन्होंने देख लिया था कि जमींदार तो मनमाना राजस्व वसूलते हैं पर अंग्रेजों को एक तयशुदा लगान ही देते थे। हमइन बिचौलियों को हटाकर, किसान से सीधे राजस्व लिया जा सकता था। इस कारण रैयत से सीधा संबंध स्थापित किया गया। भू-राजस्व की दर और उसमें बढोत्तरी हर एक रैयत के साथ अलग-अलग और केवल एक सीमित अवधि के लिए तय की जाती थी और इस तय समय के बाद उसे संशोधित किया जाता था। इस व्यवस्था में किसी भी प्रकार के परजीवी बिचौलियों या मध्यवर्ती लोगों के लिए कोई स्थान नहीं था। रैयत का सरकार के साथ सीधा संबंध था, दरअसल यह संबंध अंग्रेजी व्यवस्था और किसानों के बीच में होता था। "इस व्यवस्था का एक-एक क्षेत्र मद्रास, मुंबई, सूरत, गुजरात में था। इसमें किसान को जमीन 30 साल के लिए दी जाती थी। जमीन की उर्वरा के अनुसार राजस्व होता था पर यह राजस्व 30 साल तक एक सा ही रहता था। पर फ़सल कीमतें बीच में कम हो जाती थी, पर तय लागन रैयत को देना ही पड़ता था। जिससे किसानों को बहुत नुकसान भी उठाना पड़ता था। किसान के साथ सरकार ने करार किया हैं पर किसान उस जमीन को बटाई पर दे देता था। बाद में पूर्व सूचना देकर खेती करना ही छोड़ देता था ऐसे में करार वाले किसान सरकार और किसान के बीच बिचौलियों का काम करते थे। यह व्यवस्था भारत में 1935 ईस्वी तक देखी जा सकती हैं। बिचौलियों का उदय मुख्यतः दो तरह से हुआ। यदि मूल स्वत्वाधिकारी या या उसका उत्तराधिकारी किसी

कारणवश जमीन पर खेती करना बंद कर देता या उसे बटाई पर लगा देता था तो नए रैयत खेतिहर का न तो सरकार से सीधा संबंध रह जाता था और ना ही भूस्वामी के ऊपर उसका कोई कानूनी अधिकार होता था ।"[32]

इस बंदोबस्ती की व्याख्या करते हुए महालवाड़ी प्रथा के बारे में गिरीश मिश्र आगे बताते हैं, "राजस्व वसूली के लिए अंग्रेजों ने महालवाड़ी प्रणाली को अपनाया था। इस प्रणाली को हम भूमि पर सामूहिक समिति के रूप में देख सकते हैं। जैसे प्राचीन और मध्यकाल में भूमि पर कबीला समूह का स्वामित्व होता था। इस प्रणाली को हम उस आधार पर समझ सकते हैं। यह भूराजस्व प्रणाली "बंदोबस्ती पर पूरे महल (गांव) के साथ की गई। गांव के सह-भागीदारी समूह को भू-स्वामी माना गया और उसे भूस्वामी के भुगतान के लिए जिम्मेदार बनाया गया। प्रत्येक गांव या प्रत्येक पट्टी अथवा हिस्से के लिए नीचे एक नामी और प्रतिष्ठा संपन्न भागीदारी ने मूल दायित्व लिया और उसने सारी समूह की ओर से राजस्व-आबन्ध पर हस्ताक्षर किया। ऐसे व्यक्ति को नंबरदार कहा गया।"[33] यह प्रणाली राजस्थान, अजमेर, पंजाब और पश्चिमी यूपी में लागू की गई थी। बंदोबस्ती में दो प्रकार के नाम शामिल थे। पहला, अधिकारों की छानबीन की गई और अभिलेख (रिकॉर्ड) तैयार किया गया। दूसरा, भूमि का मूल्यांकन और राजस्व की राशि का निर्धारण हुआ तथा रैयत के लगान समायोजित किए गए। स्थायी बंदोबस्त की तुलना में अन्य दो बन्दोबस्तियाँ कृषि के विकास में अधिक सहायक बनी। क्योंकि किसानों को अपनी जोतों पर सुनिश्चित अधिकार थे और भविष्य के प्रति असुरक्षा की उम्र में कोई भावना नहीं थी।

औपनिवेशिक शासन व्यवस्था के मजबूत होने से किसानों पर जोर जुल्म भी बढ़ गया। उपनिवेशी व्यवस्था की नीतियां, संस्थाएं और कानूनों ने किसानों की हालत को बदतर कर दिया। पहले राजस्व वसूली के अलग-अलग तरीके अपना कर किसानों का बेहताशा शोषण किया गया। इस राजस्व वसूली के दौरान भी किसानों को बहुत सी नई-नई समस्याओं का सामना करना पड़ा था। उपनिवेशी शासन में किसान और विशेषकर आदिवासी किसान दोनों भयंकर त्रासदी फंसते नजर आए थे। आदिवासियों ने अपनी चेतना और क्षमता के अनुसार अंग्रेजी व्यवस्था का पुरजोर विरोध भी किया था।

उपनिवेश व्यवस्था से किसान तीन तरह से ज्यादा प्रभावित हुए थे और आदिवासी किसान को इन तीन समस्याओं के साथ एक अलग से समस्या झेलनी पड़ी थी। ''पहले किसान की त्रासदी पूर्ण जीवन और संघर्ष की बात कर लेते हैं। पहला किसान पर औपनिवेशिक व्यवस्था को जोर जबरदस्ती करके फसलें पैदा कराती थी, जिसमें नील और अफीम की खेती प्रमुख हैं। बंगाल बिहार में इस उपनिवेश नीति का खुले तौर पर किसान प्रतिरोध भी करते थे, जिसे हम 1859-1860 का नील विद्रोह रूप में जानते हैं। किसान में नीलहे खेती करवाने वाले अंग्रेजों के एजेंटों पर भयंकर आक्रोश रहता था। निलहे साहबों के एजेंटों ने किसानों को नील बोने पर मजबूर करने की कोशिश की तो उनका बड़ा प्रतिरोध हुआ। उनके भारतीय कारिंदों का भी संगठित सामाजिक बहिष्कार हुआ।''[34]

कानून कोर्ट किस तरह से किसान को मजबूर करता था नील की खेती करने के लिए इसको एक उदाहरण से समझ सकते हैं कलकत्ता में नीलहों के बौखलाए हुए समर्थक ने मार्च 1860 में एक अस्थाई कानून बनवाया कि किसानों को नील बोने के अनुबंध के पालन पर मजबूर किया जा सके। अदालतों में ऐसे मुकदमे भी भरमार हो गई और कुछ अति उत्साही मजिस्ट्रेट ने किसानों को इस घृणित फसल की खेती करने पर मजबूर किया। ''दीनबंधु ने सितंबर 1860में अपना बंगाल नाटक 'नील दर्पण' प्रकाशित किया जिसमें यथासंभव साहस के साथ निलहों के अत्याचारों को दिखाया गया था। सुप्रसिद्ध बंगाल कभी माइकल मधुसूदन दत्त ने इस नाटक का अंग्रेजी अनुवाद किया जिसे भारत और लंदन के उदारवादी राजनीतिक हमले की जानकारी में लाने के लिए चर्च मिशनरी सोसायटी के रेवरेंड जेम्स लोंग ने प्रकाशित किया। इस कारण लोंग पर कोलकाता सुप्रीम कोर्ट में मानहानि मुकदमा चला और एकमाह की कैद के साथ 1000 रूपएका जुर्माना हुआ। उनकी सज़ा ने कलकत्ता में शिक्षित समुदाय को आग-बबूला कर दिया भारतीय प्रेस और खासकर हिंदू राष्ट्रभक्त और सोमप्रकाश ने नील के किसानों की मांग को उठाया था।''[35]

नगदी फसलों को उगाने के लिए किसानों को मजबूर किया था पर किसानों ने भी प्रतिरोध करके इस नीति का खुलेआम मखौल उड़ाया था दूसरा मालगुजारी की दरों में लगातार बढ़ोतरी करते रहना। जल्दी खुले टकराव की नौबत आ गई जब सरकार 1867 में मालगुजारी की दरें खेती के विस्तार और खेतिहर कीमतों में वृद्ध के आधार पर बढ़ा दी। यह बढ़ोतरी उपनिवेश सत्ता ही करती थी। पर मालगुजारी की वसूली

किसानों से जमींदार ही करते थे यह वसूली में अपना हिसाब जोड़ लेते थे। अपने खर्च बेगारी तो किसानों पर थोपना आम बात थी। इस समस्या के लिए किसान जमींदारों के खिलाफ ज्यादा मुखर होकर आंदोलन भी करते थे। फसल की कीमत बाजार में अच्छी मिले और बाज़ार में मंदी नहीं हो, ऐसा संयोग किसान के साथ कहां होने वाला था। इस कारण अकसर किसान परेशान हो कर अपनी जरूरत पूरा करने के लिए ऋण लेने लगा था। अगली फसल अच्छी होगी इस उम्मीद में किसान साहूकार से ऋण लेकर जरूरत पूरी करते और लगान चुकाते थे। ऋण पर ब्याज की दर बहुत ज्यादा होती। ऋण न चुकाने की स्थिति में साहूकार भी किसान की संपत्ति को ज़ब्त करने की फिराक में रहते थे। तीसरी टकराहट साहूकार और किसानों के बीच में होती थी। जब किसानों की संपत्ति जप्त होने लगी, ऋण भी मिलना बंद हो गया तब उन्होंने अपने लिए संघर्ष शुरू कर दिया। "संघर्ष 12 मई 1875 को भीममणि तालुका के गांव से शुरू हुए और जल्द ही पुणे और अहमदाबाद नगर जिले के दूसरे गांव में पहुंच गया। किसान सूदखोरों को खून चूसने वाला समझते थे सूदखोरों के ऊपर जिस्मानी हिंसा बहुत कम हुई केवल उनके ऋण पत्र छीनकर नष्ट कर दिए जाते थे। इसके अलावा हिंसा का सहारा तभी लिया जाता था जब इस कानूनी कागजात को देने के खिलाफ प्रतिरोध किया जाता था।यह तथ्य ध्यान मे रखने योग्य हैं कि 19वीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में सूदखोरों के खिलाफ किसानों के प्रतिरोध कि ये घटनाएँ पूरे भारत में आम थी। सूदखोरों पर हमले के अलावा मुंबई सरकार द्वारा 1860 और 1870 के दशक में मालगुजारी में की गई वृद्धि के जवाब में महाराष्ट्र, दमन के एक बड़े क्षेत्र में 1873-74 में लगानबंदी के अभियान भी चले।"[36] जब किसानों के आन्दोलन के आगे जमींदार और साहूकार लोग हारने लगते थे तब उन्हें बचाने के लिए अंग्रेजी फ़ौज आ जाती थी, और किसान, जमींदार साहूकार के बीच में सुलह-समझौता करा देती। "किसान के संघर्ष के दवाब में आकर मुंबई सरकार ने अब एक बड़ी रियासत दी कि मालगुजारी जमा न होने पर पहले किसान की चल संपत्ति को ज़ब्त की जाएगी उनकी जमीन तभी नीलाम की जाएगी जब चल संपत्ति अपर्याप्त होगी।"[37]

उपनिवेशिक काल में आदिवासी किसानों की स्थिति

19वीं और 20वीं शताब्दी के मध्य भारत में जितने भी किसान संघर्ष हुए उनके पीछे इन नीतियों को ही जिम्मेदार ठहराया जा सकता हैं। चौथा, आदिवासी किसान की

उपनिवेशिक सत्ता से टकराहट शुरू हो गई थी। आदिवासी का बहुत हद तक जीवन जंगलों पर निर्भर रहता था। आदिवासी जंगल से लकड़ी और अन्य जीवन की उपयोगी चीजें लेते थे। आदिवासी जंगल, वन और उसमें छिपी संपदा और उस पूरे वातावरण को अपना मानते थे। पर अंग्रेजी उपनिवेश की उस पर नजर जमी हुई थी पहले आदिवासियों को पकड़-पकड़ कर मजदूर बना उन्हें दास बनाकर बाहर भेजते थे। उन पर अपनी जरूरत के लिए जंगल साफ करा कर खेती कराते थे। जहां से जहां वे पहले खेती करते थे वहां पर उनसे जबरदस्ती नगदी व्यापार के उद्देश्य से फसलें उगाने को मजबूर करते थे।जिसका संथाल मुंडा आदिवासियों ने अपने स्तर से प्रतिरोध किया। इस क्रम में दो बड़े आदिवासी विद्रोह देखे जा सकते हैं। इन विद्रोह के निशाने पर भी पहले अंग्रेजी उपनिवेशी व्यवस्था और उनके चाटुकार देशी जमींदार और साहूकार ही रहा करते थे। भले ही आंदोलन सत्ता के खिलाफ पूरी तरह सफल नहीं रहे हो पर किसानों के हक अधिकार समझाने में सार्थक रहे थे। इसने अंग्रेजी हुकूमत में दहशत पैदा कर दी थी ।

अंग्रेजों ने वनों में रहने वालों को उनके परंपरागत अधिकारों से वंचित करने की रणनीति बनानी शुरू कर दी। जिससे आदिवासी समाज में बेचैनी पैदा हो गई। यह वनवासी इसलिए अशांत हुए कि सरकारी नियम कायदे उनको संसाधनों पर उनके परंपरागत अधिकारों से वंचित करने के खतरे पैदा कर रहे थे। ‘‘भारत के विशाल वन क्षेत्र की ओर अंग्रेजों का ध्यान 1806 में गया उसका प्रमुख कारण शाही नौसेना के वास्ते जहाजों के निर्माण के लिए आवश्यक लकड़ी की मांग थी। उसके बाद 19वीं सदी के मध्य में तेजी से रेल लाइन बिछाए जाने लगी और उसके लिए स्लीपरों की भारी मांग पैदा हुई। जिसके फलस्वरूप वनों का संरक्षण उपनिवेश की राजसत्ता का बड़ा सरोकार बन गया। 1864 में एक वन विभाग स्थापित हुआ और फिर 1865 में एक सरकारी वन कानून पारित किया गया। 1878 के भारतीय वन कानून ‘इंडिया फॉरेस्ट एक्ट’ ने इसे और भी सख्त बनाया इसने भारतीय वनों को पूरी तरह सरकार की संपत्ति बना दिया। कहने की जरूरत नहीं कि इमारती लकड़ी के व्यापारिक उत्पादन के वनों को आरक्षित करने की यह एक साम्राज्य का आवश्यकता उनके उपयोग के बारे में आदिवासी किसानों के पिछले बाद और परंपरागत अधिकारों के खिलाफ थी और उनकी जीविका के प्रमुख संसाधनों को उनसे छीनती थी इस कानून ने भारतीय वनों को तीन श्रेणियों में बांटा- ‘आरक्षित’,‘संरक्षित’ और

'अवर्गीकृत'।''[38]1900 ई. तक उपनिवेशी अंग्रेजी सरकार ने वनों पर 20 प्रतिशत अधिकार कर लिया था। जिससे आदिवासियों के इलाकों में संपत्ति को नए सिरे से परिभाषित किया जाएगा था। इन कारणों से आदिवासी किसान दो तरह से ज्यादा परेशान हुए। एक उनका परंपरागत पर्यावरण संतुलन बिगड़ने लगा था; दूसरा, आदिवासी समाज को वनों में भी जीविका चलाने में भी खतरा महसूस होने लगा था मसलन आखेट-संग्राहक भी रोक दिया गया था। जंगल से लकड़ी भी ले जाना बंद कर दिया गया था। बल्कि कुछ 'संरक्षित श्रेणियों' के वनों से दैनिक उपयोग के लिए लकड़ी ला सकते थे। पहले इस पर शुल्क नहीं लिया जाता था। धीरे-धीरे जंगलों से दैनिक उपयोग के लिए लकड़ी लेने पर भी शुल्क लगा दिए गए।'झूम खेती' करने पर भी सरकार ने प्रतिबन्ध लगा दिए थे, जबकि आदिवासी झूम खेती पर निर्भर थे। इन नीतियों से आदिवासी आंदोलन होने लगे थे 1850 ईसवी से भारत के लगभग सभी भागों में आदिवासी वन कानून के खिलाफ उनका प्रतिरोध आम हो गया था।

''वनों पर राज्य के एकाधिकार और उनके व्यापारिक दोहन के कारण आदिवासी क्षेत्रों में भारी घुसपैठिए भी आए; इनमें से अनेक ने तो आदिवासी किसानों के शोषण के लिए काफी कुछ बल प्रयोग किया। फिर इस स्थिति के कारण प्रतिरोध और तीव्र हुआ था। जैसे कि आंध्र प्रदेश के गुडेस और रम्पा पहाड़ी क्षेत्रों में हुआ,जहां कोया और कोंडा डोरा आदिवासी रहते थे।...इस क्षेत्र में पहली कुछ बगावतें (फितूरियां) 1839-1862 के बीच हुई। फितूरी का आरंभ पहले-पहल रंपा में मार्च 1879 में हुआ और फिर यह गुडेम के पड़ोसी क्षेत्रों में फैली हमलों के खास निशाने मनसबदार, अंग्रेज, उनके पुलिस थाने और मैदानों के व्यापारी ठेकेदार थे।''[39] इसी प्रकार भारत के अन्य इलाकों में आदिवासी प्रतिरोध जुझारू होने लगा था। हिमाचल वन क्षेत्रों में टिहरी गढ़वाल जो एक रजवाड़ों का हिस्सा था और कुमाऊं में जो ब्रिटिश प्रशासन वाला क्षेत्र था, यहाँ वनकानूनों के खिलाफ स्थानीय किसानों, आदिवासियों का प्रतिरोध बड़ा दिलचस्प था। गढ़वाल में किसानों ने ढ़ढ़क की पुरानी परंपरा का पालन किया था। पर अधिकारियों ने निरंकुशता दिखाई और इस निरंकुशता का विरोध किसानों ने किया था। उन्होंने राजा से न्याय की गुहार लगाई पर राजा ने और भी संख्या में वन संरक्षण कानूनों को लागू करने के प्रयास किए थे। इसका किसान ने और जोरदार ढंग से विरोध किया तब राजा ने कुछ रियायत दी थी पर किसान संतुष्ट नहीं हुए। 1906 में राजा ने हिंसक रूप से आंदोलन को कुचलना चाहा पर यह सफल नहीं हुआ। धीरे-

धीरे किसान प्रतिरोध का विरोध करने लगे थे। जिससे डर के राजा ने अंग्रेजी सत्ता से मदद मांगी थी। कुमाऊं का प्रतिरोध सीधे अंग्रेजों के खिलाफ हुआ था। क्योंकि किसानों ने बेगार (उतार) की व्यवस्था और निरंकुश वन प्रबंधों का विरोध किया। इस टकराव की प्रकृति अधिकतर टकराव से खाली रही जैसे कानून का उल्लंघन, इमारती लकड़ी की चोरी, भडकावा और अंत में अरक्षित वनों में जानबूझकर आगजनी। मध्यभारत के जंगलों में आदिवासियों के आबाद खेतिहरों को एक गुलामों जैसे श्रम शक्ति में बदलना अंग्रेजी शासकों की एक सोची-समझी चाल थी। अंग्रेजों की इन नीतियों का आदिवासियों ने बड़े ही रचनात्मक ढंग से प्रतिरोध किया था। इस प्रतिरोध के कई महत्वपूर्ण आन्दोलन देखे जा सकते हैं।

इनके साथ-साथ इनकी दमनकारी नीतियाँ भी कम जिम्मेदार नहीं थी, जिससे किसान आन्दोलन करने को मजबूर हो रहे थे। गुजरात के बारदोली, बिहार के चंपारण, और उत्तर प्रदेश में अवध किसान आन्दोलन, जैसे महत्वपूर्ण आन्दोलन हुए थे। इन आंदोलनों के पीछे मुख्य वजह ताल्लुकेदारों द्वारा कानूनन तय लगान से कहीं ज्यादा वसूल करना था। अंग्रेजी शासन से अवध में तालुकदारों, जमींदार को खुली छूट मिल गई थी। यह छूट अंग्रेजों ने अपने हितों को पूरा करने हेतु दी थी। अंग्रेज व शासन ने तालुकदारओं से कहा था कि हमारा तय लगान सरकारी खजाने में जमा करवा दो फिर चाहे आप जितना और जैसे चाहे किसानों से वसूल करों। जमींदारों के पास बेहताशा ताकत बढ़ गई थी इसका जिक्र एक अंग्रेज करता हैं। अंग्रेज किस हद तक तालुकदारों के प्रति प्रतिबद्ध हो गए इसका जिक्र एक अंग्रेज करता हैं, "अंग्रेज किस हद तक तालुकेदारों के प्रति प्रतिबद्ध हैं इसका संकेत इस बात से मिलता हैं कि 1890 के दशक में हाईकोर्ट बटलर ने यह तक कह दिया था कि राजनितिक दृष्टि से तो तालुकेदार ही अवध हैं।"[40] इस क्षेत्र को 1856 ईस्वी में अंग्रेजों ने अपने शासन में यह कहकर मिलाया था कि यहां बहुत ही अव्यवस्था, अराजकता फैल गई हैं।

जबकि अवध को अंग्रेजी शासन में मिलाने से अराजकता, शोषण, दमन, उत्पीड़न बढ़ गया था। जनता पर अत्याचार त्रिस्तरीय हो गए थे। एक तालुकदार जमींदार और उनके सिपहसलाहकार चौक बेगार कराते, इनसे संसाधन और संसाधनों की लूट करते थे। यही काम अंग्रेजी अफसर और उनके मातहत, काम करने वाले कर्मचारी अधिकारी भी करते थे। तीसरा साहूकार ऋण देने की शर्त के नाम पर किसानों का शोषण-उत्पीड़न करता था।

अवध की रियाया त्रिस्तरीय शोषण में पिस रही थी अवध में भूमिहीन खेत मजदूर किसान की 50% आबादी थी। जमीन का बड़ा हिस्सा छोटे से समूह तक सीमित था। अवध के 1880 में आसपास के कुछ महत्वपूर्ण आंकड़े इस प्रकार हैं। ‘‘लखनऊ जिले में खेतिहर आबादी के सिर्फ आधे प्रतिशत हिस्से के पास 50 बीघा से ज्यादा जमीन थी (एक बीघा बराबर 5\8एकड़),6 प्रतिशतके पास 20 से 25 बीघे,साढ़े ग्यारह प्रतिशत के पास 10 से 20 बीघे,पंद्रह प्रतिशत के पास 5 से 10 बीघे,और साढ़े उनतालीस प्रतिशत के पास 5 बीघे से कम ज़मीन थी। ये आंकड़े उस वक्त के हैं जब सरकारी अफ़सर, जिन इन मामलों में उदार होने का आरोप शायद ही लगाया जा सकता हो, समझते थे कि एक किसान को ‘ढंग से रहने के लिए’ कम से कम 5 बीघा ज़मीन ज़रूरी हैं। आबादी का बाक़ी साढ़े सत्ताईस प्रतिशत भाग (लखनऊ ज़िले में)भूमिहीन खेत मजदूर के रूप में दर्ज था।’’[41] लखनऊ जिले का यह हाल था।बाकी अवध की स्थिति इससे भी खराब थी। ऊपर से लगान के नाम पर किसानों का शोषण होता था उन्हें तालुकदार कभी भी उनकी जमीन से बेदखल कर सकता था। किसानों में भयंकर असुरक्षा का वातावरण पैदा हो गया था। तालुकेदार के 52 हाथ थे उनकी चाले भी अनगिनत थी और उनके पीछे अंग्रेजी राज की हिमायत थी।जाहिर हैं कि कागजी कानूनों की धमकी का खुद उन पर कोई असर ना होना था ना हुआ।वह कानून द्वारा तय रकम से कहीं ज्यादा वसूल करते थे और किसानों को पीछे देते समय या पट्टे की मियाद खत्म होने पर दोबारा पट्टा देते समय उनसे नाजायज नजराना वसूलते थे और अकसर कानून की कोई परवाह नहीं करते थे।तालुकदार सिर्फ अपनी कमाई पर ध्यान दे रहे थे उन्हें किसान और खेती के विकास की कोई चिंता नहीं थी।एक महत्वपूर्ण उदाहरण ऐसे देख सकते हैं जब प्रतापगढ़ जिले के तत्कालीन अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर ने 1920 में लिखा था कि, ‘‘उनको किसानों ने बताया कि जब किसी रयैत की मौत हो जातीहैं, तो मातम मना रहे उसके परिवार वालों के नाम पट्टा जारी करने के लिए तालुकेदाररैयत की लाश उठाने से पहले नज़राने की मांग करता हैं और नज़राना न मिलने पर पट्टा किसी और को देने की धमकी देता हैं। किसानों ने इस मुर्दाफ़रोशी क़ानून(मुर्दे को बेचने का क़ानून)बतलाते हुए तालुकेदारों को उस महाब्राह्मण (ब्राह्मणों में सबसे नीच) जैसा जैसा बतलाया जो लाश उठाने का भोग खाता हैं।’’[42]इस जुल्म के खिलाफ अवध का किसान उठ खड़ा हुआ था।इन आंदोलन में साम्राज्यवाद और साम्राज्यवाद जिन बैसाखियों पर टिका था वैशाखी रूपी उन सामंतों के विरोध में था। इस गठजोड़ ने अवध के किसानों को तबाह कर दिया था।

इनके अत्याचार शोषण उत्पीड़न से त्रस्त आकर किसान विरोध करने पर मजबूर हुए थे। अब समांतर जमींदार किसानों के आंदोलन से हारने लगे थे तब उनकी मदद के लिए अंग्रेजी सेना आ गई। तत्कालीन कांग्रेस पार्टी 'बड़े लक्ष्य' स्वाधीनता दिलाने के लिए सभी देशी शासक और शोषकों को एक साथ मिलाकर 'गोरी चमड़ी' का विरोध करने का आवाहन महात्मा गाँधी और 'आज़ादी' की लड़ाई लड़ने वाली कांग्रेस पार्टी ने किया। उसी दौरान किसानों से शांति से रहने की अपील की गई थी, पर जमींदारों से शोषण उत्पीड़न रोकने की कोई अपील कांग्रेस के द्वारा नहीं दिखाई पड़ी।

कांग्रेस ने स्वराज-स्वाधीनता के लिए भारतीय जनता का मोर्चा बनाने की अपील की थी। इस मोर्चे में मालिक मजदूर किसान तालुकेदार दोनों रहेंगे ऐसा तो कांग्रेस का मानना था। क्या किसान मजदूर अपने मालिक के साथ आजादी हासिल कर सकते हैं? यह आजादी या तो मालिकों की होगी या फिर गुलाम मजदूर किसानों की होगी ? दोनों, मालिक नौकरों की आजादी एक साथ नहीं हो सकती हैं । एक की गुलामी दूसरे की आजादी की पूर्व नियोजित शर्त हैं। कांग्रेस इस शर्त पर पर्दा डालकर झूठी एकता बना रही थी। एकता के नाम पर देशी-विदेशी शोषण उत्पीड़न को जिंदा रखना चाहती थी और सामंतों के हितों को अप्रत्यक्ष रूप से रक्षा करना इसका उद्देश्य जान पड़ता हैं। यह 1947ईस्वी के बाद प्रमाणित भी हो रहा हैं। उपनिवेशवाद विरोधी अभियान में भारतीय जनता का ऐसा मोर्चा जिसमें भूस्वामी भी हो और किसान भी, मिल मालिक भी हो और मजदूर भी, राजा नवाब भी हो और गरीब आदिवासी भी; शायद ही कभी संभव था। दुनिया में किसी भी बड़े संघर्ष में ऐसा संयुक्त मोर्चा दिखाई नहीं दिया। तब अगर हम इस आदर्श को थोड़ा और नीचे उतार लाए और अधिक से अधिक संभावित एकता की बात करे जिसके आधार पर सिर्फ उसी चीज की मांग करें जो अधिकांश भारतवासी समान रूप से चाहते थे- यानी स्वराज्य तब भी हम को एक सवाल का जवाब देना पड़ेगा।

स्वराज्य की मांग का मतलब क्या था? क्या औपनिवेशिक शासन से मुक्ति का तात्पर्य सिर्फ देश से गोरे लोगों को निकाल देना होता हैं? अगर राष्ट्रवादी मांग का कुल सारांश इतना भर होता तो शायद अंग्रेज इसे बहुत पहले ही मान गए होते। वास्तव में स्वराज की धारणा में व्यक्तिगत स्वतंत्रता, समानता और न्याय के आदर्श तथा राष्ट्रीय विकास और इसके परिणाम स्वरूप व्यक्तिगत विकास की आशा निहित थी। पर यह भारतीय मोर्चा इन मूल्यों को स्थापित करने में विफल रहा। अवध

किसान आंदोलन पर अंग्रेजी व्यवस्था और तालुकदार ने मिलकर हिंसक दमन किया। सैकड़ों किसानों की हत्या कर दी गई थी। कांग्रेस ने भी स्वाधीनता आंदोलन के लिए इन छोटे किसान मजदूर आंदोलनों का भटकाव किया था। कांग्रेसी भी चाहती थी पहले एक ही आंदोलन हो। जिसे कांग्रेस नेतृत्व दे सके। "कुछ हिचकिचाते हुए, फिर भी निश्चित रूप से कांग्रेस नेता किसान और उनके विरोधियों के बीच चल रहे झगड़े में खिंच आए। लेकिन अंत में वे इसी नतीजे पर पहुंचे कि अगर किसानों के संघर्ष को जारी रहने दिया गया तो यह अंग्रेजी राज के खिलाफ राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में एक रुकावट बन जाएगा। एक 'ज्यादा बड़े संघर्ष' के हित में और 'राष्ट्रीय एकता' की जरूरत के लिए इस तरह के-आंशिक़और वर्गीय-संघर्ष को कुछ समय के लिए ताक पर रख छोड़ना होगा। यह तर्क काफी शक्तिशाली प्रतीत होता हैं और हाल में कुछ इतिहासकारों ने इसे पूरी तरह से मान भी लिया हैं। ऐसा उन्होंने किस आधार पर किया,इसकी बारीकी से जांच करने की ज़रूरत हैं।"[43] क्या किसान वर्गीय संघर्ष छोड़कर स्वाधीन हो पायेंगे? अगर वह वर्गीय हित साम्राज्यवाद और सामंतवाद खिलाफ एक साथ चलता तो आज हम वास्तविक रूप में स्वाधीन हो सकते थे। उपनिवेश शासन के दौरान किसान की समस्या और बढ़ती गई थी। जिसे हम देश के अलग-अलग भागों में देख सकते हैं। उत्तर से लेकर दक्षिण और पूरब से लेकर पश्चिम तक किसान उत्पीड़न शोषण से कराह रहे थे। बंगाल, मद्रास, केरला आदि क्षेत्रों में भी उपनिवेश और सामंती सत्ता के खिलाफ किसान पीड़ित थे। यहां संपत्ति का अधिकांश हिस्सा सरकारी संपत्ति के रूप में होता था। जिस पर लगान के बहाने किसानों का भयंकर शोषण उत्पीड़न होता था। सरकारी संपत्ति से जो कुछ बचता था वह देसी तालुकदार सामंतों और जमींदारों' के हिस्सों में आ जाती थी।

तेलंगाना का 1947 से पहले निजाम और उसके कर्मचारियों का संपत्ति पर एक तरह से एकाधिकार दिखाई पड़ता हैं। "निजाम की कुल जमीन थी एक करोंड़ पचास लाख बीघा। पंद्रह लाख भूदास इस जमीन पर खेती का काम करते थे। उसमें निजाम की आय होती थी पांच करोंड़ रूपए प्रति वर्ष। उसके अलावा राज्य बजट के निजाम दस लाख रुपए प्रतिवर्ष पाते थे। इसके सिवाय हैंदराबाद के अधिकांश कल-कारखाने के बड़े हिस्से के मालिक निजाम बहादुर थे। निजाम के हीरा और सोने के आभूषण का दाम कम से कम 600 करोंड रुपए था। निजाम के इस मानवीय शोषण शासन के हिस्सेदारों की कुल संख्या भी ग्यारह सौ थी। निजाम अपने इन ग्यारह सौ लोगों से

मिलकर हैंदराबाद की एक करोंड़ दस लाख जनता का शोषण करता था। इस ग्यारह सौ जमींदार और देशमुखों के पास कुल एक करोंड़ बीघा जमीन थी। पूरे राज्य की कुल जमीन के पांच भाग में तीन भाग। इन ग्यारह परिवारों में से सिर्फ दस परिवारों की वार्षिक आय थी दस करोंड़ रूपए। हैदराबाद के किसानों पर कुल अस्सी करोड़ रूपए का कर्ज था। यह हैं भारत के सामंतवादी समाज के सबसे बड़े स्तंभ, हैदराबाद के सामंत वर्ग के शोषण का संरक्षित हिसाब।"[44]

तेलंगाना, तेभागा, श्रीकाकुलम, नक्सलबाड़ी यह सब किसान प्रतिरोध के बड़े उदाहरण हैं । यहां किसान सामंती शोषण के खिलाफ मुखर हो रहे थे। किसान भी सशस्त्र होकर जवाब दे रहे थे| किसानों पर बहुत ही निर्मम होकर जुल्म हुए थे। इस कारण उनमें भयंकर प्रतिरोध इच्छा जागृत हुई थी। उत्पीड़न जुल्म की एक छोटी सी घटना से अंदाजा लगाया जा सकता हैं किसानों के मन की क्या दशा रही होगी।"हर इंसान किसानों को सहानुभूति नजरिए से देखता होगा अगर उन्होंने वस्तुनिष्ठ तरह से तस्वीर को देखा होता। निजाम के गुंडे ने गांव के गांव जला दिये हैं, जिंदा आदमियों को जलाकर मार दिया। पति के सामने स्त्री का, संतान के सामने मां और भाई के सामने बहन का बलात्कार किया, कई लोगो ने एक स्त्री के ऊपर एक के बाद एक अत्याचार कर उसे मार दिया। ऐसी असंख्य घटनाएं हैं।उन्होंने यादव रेड्डी के शरीर से चमड़ी उधेड़ कर उसकी नमक से किल्ली ठोक कर उसे मार दिया।तेलंगाना में कई हजार आदमी इन अत्याचारों के कारण मारे गए।सैकड़ों स्त्रियां का शील हरण व चीर हरण किया गया।करीब 30 गांव पूरे के पूरे जलाकर खाक कर दिए गए इसलिए वहां आम शत्रु के लिए क्षमा नहीं हैं।उन्होंने देखा हैं मद्रास की कांग्रेसी पुलिस ने निजाम की पुलिस के साथ समझौता करके किसान नेताओं को पकड़वा दिया।हैंदराबाद के कांग्रेसियों ने निजाम के लिए जासूस करके किसान गोरिल्ला और उनके नेताओंs को पकड़कर निजाम की बंदूक के सामने खड़ा कर दिया। यह सब उन्होंने देखा हैं इन सब कामों के किसानों के मन में जो प्रतिहिंसा की आग लगाई वह सहज में बुझ नहीं जाएगी।"[45]किसान में अपने अधिकारों के प्रति चेतना बढ़ और फैल रही थी। जिसका अलग-अलग अंचल में प्रभाव देखा जा सकता हैं।

संदर्भ

---

[1]मार्क्स और एंगेल्स, कम्युनिस्ट घोषणापत्र, पृष्ठ संख्या 1

[2]डी.डी. कोशाम्बी: ऑन अ मार्क्सिस्ट एप्रोच टू इंडियन क्रोनोलॉजी, पृष्ठ संख्या 258-66

[3]सत्यम वर्मा(अनुवादक):राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धांत, खंड1,पृष्ठ संख्या19-20

[4]रोमिला थापर:वंश से राज्य तक,पृष्ठ संख्या 14

[5]वही से,पृष्ठ संख्या15

[6]द्विजेंद्रनारायण झा: भारतीय सामंतवाद: राज्य, समाज और विचारधारा,पृष्ठसंख्या 7

[7]वहीँ से, पृष्ठ संख्या 21

[8]सत्यम वर्मा(अनुवादक):राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूतसिद्धांत खंड1,पृष्ठ संख्या 25

[9]रामशरण शर्मा: भारतीय सामंतवादराजकमल प्रकाशन,पृष्ठ संख्या 121

[10]वही से, पृष्ठ संख्या 121

[11]वही से, पृष्ठ संख्या 128

[12]वही से,पृष्ठ संख्या131

[13]वही से पृष्ठ संख्या133

[14]राधा कुमुद मुखर्जी: प्राचीन भारत,पृष्ठ संख्या 54

[15]रोमिला थापर(अनुवाद प्रदीपकान्त चौधरी): मौर्य साम्राज्य का पुनरावलोकन, पृष्ठ संख्या 17

[16]रामशरण शर्मा:प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार तथा संस्थाएं, पृष्ठ संख्या 271

[17]डी. एन. झा. (अनुवादक) कन्हैया: प्राचीन भारत:एक रुपरेखा,पृष्ठ संख्या109

[18]आर.एस. शर्मा:प्राचीन भारत में राजनितिक विचार एवं संस्थाएं, पृष्ठ संख्या303

[19]डी. एन. झा. (अनुवादक) कन्हैया:प्राचीन भारत: एक रुपरेखा, पृष्ठ संख्य 109-10

[20]राधा कुमुद मुखर्जी: प्राचीन भारत,पृष्ठ संख्या 120

[21]सतीशचंद्र(अनुवादक)नरेश नदीम:मध्यकालीन भारत: राजनीतिक समाज और संस्कृति आठवीं से सत्रहवीं सदी तक,पृष्ठ संख्या 38

[22]वही से, पृष्ठ 39-40

[23]वहीँ से, पृष्ठ संख्या 123

[24]इरफ़ान हबीब: मध्यकालीन भारत का आर्थिक इतिहास: एक सर्वेक्षण, पृष्ठ संख्या 45

[25]सतीशचन्द्र: मध्यकालीन भारत, पृष्ठ संख्या 291-92

[26]मध्यकालीन भारत: नए आयाम: हरबंश मुखिया(अनुवाद नरेश नदीम)राजकमल प्रकाशन प्रथम संस्करण 1998, पृष्ठ संख्या 175

[27]गिरीश मिश्र:आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास,पृष्ठ संख्या 147

[28]वही से, पृष्ठ संख्या 147

[29]शेखर बंदोपाध्याय (अनुवाद) नरेश नदीम:प्लासी से विभाजन तक आधुनिक भारत का इतिहास, पृष्ठ संख्या 92-93

[30]अशोक कुमार पाण्डेय: शोषण के अभयारण्य भूमंडलीकरण के दुष्प्रभाव और विकल्प का सावल, पृष्ठ संख्या 157-58

[31]शेखर बंदोपाध्याय (अनुवाद) नरेश नदीम:प्लासी से विभाजन तक आधुनिक भारत का इतिहास, पृष्ठ संख्या 92

[32]गिरीश मिश्र: आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास, पृष्ठ संख्या 152

[33]वही से, पृष्ठ संख्या 152-53

[34]शेखर बंदोपाध्याय (अनुवाद)नरेश नदीम:प्लासी से विभाजन तक आधुनिक भारत का इतिहास,पृष्ठ संख्या 210-12

[35]वही से, पृष्ठ संख्या 211

[36]वही से, पृष्ठ संख्या 216

[37]वही से, पृष्ठ संख्या 215

[38]वहीँ से, पृष्ठ संख्या 219

[39]वहीँ से, पृष्ठ संख्या220

[40]वहीँ से, पृष्ठ संख्या 130

[41]शाहिद अमीन, ज्ञानेंद्र पाण्डेय(संपादक):निम्न वर्गीय प्रसंग, भाग-1, पृष्ठ संख्या131

[42]वही से, पृष्ठ संख्या 132

[43]वही से,पृष्ठ संख्या 165

[44]वीर भारत तलवार:इतिहास के दस्तावेज नक्सलबाड़ी के दौर में, पृष्ठ संख्या 433-34

[45]वही से, पृष्ठ संख्या 438-439

अध्याय 3

समकालीन भारत की आर्थिक व्यवस्था में कृषि की स्थिति

अर्थव्यवस्था के विभिन्न विकास क्षेत्रों के साथ ग्रामीण विकास प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ है जिसके केंद्र में कृषि व्यवस्था है। आर्थिक जीवन का आधार, रोजगार का प्रमुख स्त्रोत और विदेशी मुद्रा अर्जन का माध्यम होने के नाते भारत में कृषि अर्थव्यवस्था की रीढ़ कही जाती रही है। बहुत से ऐसे उद्योग हैं जो सीधे–सीधे कृषि पर आधारित हैं और उन्हें कच्चे माल की आपूर्ति कृषि क्षेत्र से ही होती है। भारत में कृषि पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर उद्योगों में सूती और पटसन वस्त्र उद्योग, चीनी-वनस्पति बागान उद्योग, हथकरघा, बुनाई, पशुपालन, डेयरी उद्योग आदि शामिल हैं। किसी भी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में उसके विकास में कृषि की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए प्रो. मायर एवं मल्द्विन कहते हैं, ''कृषि राज्य की समस्त संपत्ति तथा समस्त नागरिकों के धन का स्त्रोत है। अतः कृषि का लाभप्रद होना सरकार तथा राष्ट्र के लिए अनुकूल बात होगी।''[1]इसी क्रम में केने का कहना है कि, ''औद्योगिक तथा वाणिज्य दोनों ही कृषि के अधीन हैं क्योंकि इन्हें कच्चा माल कृषि से ही प्राप्त होता है।''[2] कृषि व्यवस्था के विकास पर प्रकाश डालते हुए कॉल तथा हूबर ने कहा है, ''अर्थव्यवस्था के विकास के लिए कृषि का विकास पहले होना चाहिए।''[3]एक आधारभूत क्षेत्र होने के नाते कृषि क्षेत्र का हमेशा से अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। ब्रिटिश साम्राज्य की शोषणपूर्ण नीतियों ने भारतीय अर्थव्यवस्था की इस रीढ़ को बुरी तरह से तोड़ दिया था। दो शताब्दियों तक चले ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में दूरगामी असर वाले परिवर्तन किए गए।

आज़ादी के बाद, जहाँ एक तरफ आज़ादी के साथ विभाजन का दंश था तो वही दूसरी तरफ विरासत में मिली अनेक आर्थिक समस्याएं जैसे बंगाल अकाल के पश्चात के प्रभाव, निम्न कृषि उत्पादकता, ऋणग्रस्तता, व्यापक बेरोजगारी आदि सामने थी। इसीलिए शुरुआत के नियोजन काल के दौरान भारत ने कृषि क्षेत्र को बजट में प्रमुखता देते हुए सिंचित क्षेत्र बढ़ाने और अन्य भूमि सुधार उपायों के माध्यम से कृषि उत्पादकता में सुधार लाने की कोशिश की। साठ के दशक में कृषि मूल्य नीति को लागू करने के साथ ही भारतीय कृषि में हरित क्रांति के आगमन की पृष्ठ भूमि तैयार हुई। आजादी के बाद से लेकर अब तक (वर्ष 2015) आर्थिक विकास के

इतिहास को दो प्रमुख चरणों में बाँट सकते है। पहला-आज़ादी के बाद 45 साल का समय और दूसरा मुक्त बाज़ार अर्थव्यवस्था के तीन दशक। इस अध्याय में हम भारत के आर्थिक विकास के इन चरणों का मूल्यांकन कृषि व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों, प्रभावों को केंद्र में रखते हुए किया गया है। दूसरे चरण में अर्थव्यवस्था में हो रहे इन नीतिगत परिवर्तनों का कृषि क्षेत्र पर प्रभाव को समझने के लिए इन्हें वैश्विक राजनीतिक अर्थव्यवस्था से जोड़ते हुए देखने की आवश्यकता है।

भारतीय अर्थव्यवस्था वर्ष 1947 से 1990 के दौरान

कृषि प्रधान देश होने के चलते भारत की अधिकांश जनसँख्या कृषि पर निर्भर है। वर्ष 1951 में भारत की कामकाज़ जनसंख्या का 69.5 प्रतिशत भाग कृषि में लगा हुआ था। जो की वर्ष 2001 में घटकर 64 प्रतिशत रह गया। वर्तमान में सकल घरेलू उत्पाद में भले ही वृद्धि हुई है, लेकिन इसमें कृषि का प्रतिशत घट गया है। यही नहीं भारत के निर्यात व्यापार में भी कृषि का योगदान प्रतिशत घट गया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद में आर्थिक विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए पंचवर्षीय योजना के माध्यम से तमाम सुधार और परिवर्तन लाये गए। कृषि प्रधान देश होने के नाते इन आरंभिक योजनाओं के केंद्र में कृषि क्षेत्र ही रहा था। इसीलिए कृषि और सामाजिक आर्थिक क्षेत्र में पिछड़ेपन को तमाम कानून लाकर दूर करने का प्रयास किया गया। साठ के दशक में देश को युद्ध का सामना करना पड़ा, लगातार होने वाले सूखे के चलते खाद्यान संकट की स्थिति में अमेरिका से अनाज आयात करना पड़ा था।

अगर 70 के दशक के बाद से 2010 तक के आकड़ें उठा कर देखे तो पता चलता है कि ये कोशिश नाकाम साबित हुई हैं। जिस गरीबी असमानता को हटाने का वादा किया गया उस असमानता का ही समाज में शासन चल रहा था। शासकों के हित इस असमानता और गरीबी से नकारात्मक रूप से जुड़े हुए है। समांनतर उपनिवेशी सत्ता का गठजोड़ आजादी के बाद भी बना रहा है। इस सत्ता के भागीदारी सत्ता संचालन और हितों में थोड़ी बहुत ही कमी आयी थी; जिसे 'बदलाव', 'आजादी', 'सुधार' और 'विकास' का नाम दिया गया है।

विकास की केंद्रीकृत अवधारणा से देश में असमानता, गरीबी, अन्याय घटने की बजाय बढ़ने लगा था। इसी कारण से हम देख सकते हैं कि क्यों सामंतो की भूमि उनके

पास सुरक्षित रह गई थी, क्यों उसमें सुधार के नाम पर भूमिहीनों में नहीं बल्कि उन्ही सामंतों-जमींदारों में बांट दिया गया। इसके तमाम जीवंत उदाहरण साफ देखे जा सकते है। यह देखा गया है कि खेतिहर क्षेत्रों में भूमि सुधार दूरवासी जमींदारों के एक छोटे से हिस्से को तो छांट देता है। पर वह आधुनिक कृषि को बढ़ावा नहीं देते, न वे भू स्वामियों का ऐसा वर्ग तैयार करते हैं जो सक्रिय रूप से कृषि से जुड़ सके। उन्होंने पट्टेदारी और छोटे किसानों, बटाईदारों और खेतिहर मजदूरों की विशाल संख्या को जमीन उपलब्ध कराने की समस्या का भी बुनियादी हल नहीं निकाला है। वास्तव में भूमि सुधारों ने तो छोटे कृषि कर्मियों की दशा सुधारी नहीं बल्कि और बिगाड़ी ही है। क्योंकि इन्होंने उन्हें पुराने पट्टेदारों कानूनों के अंतर्गत मिलने वाली सुरक्षा और आवश्यकताओं से भी वंचित कर दिया है। इसने किसानों को असुरक्षित कृषि कर्मियों के विराट समूह में बदल दिया है। जिन्हें या तो पिछले दरवाजे से पट्टेदारों का काम करना पड़ता हैया खेतिहर सर्वहारा की नियति स्वीकार करनी पड़ती है, भूमि सुधारों तथा अन्य उपायों के परिणाम स्वरूप भूस्वामी कृषकों की संख्या में वृद्धि होनी चाहिए, इसके विपरीत वास्तव में भूमिहीन खेतिहर सर्वहारा की संख्या में चिंताजनक दर से वृद्धि हुई है।

भूमि सुधार, सीलिंग एक्ट, जमीदारी उन्मूलन कानून, चकबंदी आदि कृषि से जुड़े कानून को सही से नहीं लागू किया गया। उसका यही कारण समझ में आता है कि यह सामंती और उपनिवेश के शासन को वर्तमान परिस्थिति में बनाए रखना चाहते हैं। कानून और व्यवस्था में जो भी सुधार और बदलाव किए गए थे,उन्हें वह तत्कालीन समय की जरूरत लगी थी। भूमि सुधार की असफलता के कारणों के मूल्यांकन के लिए सरकार ने कमेटी बनाई गयी थी जिसकी रिपोर्ट 1973 में पीएस अप्पू की अध्यक्षता में कृषक संबंधों को लेकर गठित कार्य समूह द्वारा प्रस्तुत की गई थी। भारत में भूमि सुधार के सफ़ल असफ़ल होने को लेकर कई कारण बताए गए पर इनमें मुख्य कारण निम्न हैं-

‘‘1. राजनीतिक संकल्पशक्ति का अभाव।

2. प्रशासनिक संगठन: नीति निर्वाह के अपर्याप्त उपकरण।

3. क़ानूनी बाधाएँ।

4. सही एवं उद्यापन अघतन अभिलेखों का अभाव।

5. भूमि सुधार को अब तक आर्थिक विकास की मुख्यधारा से अलग-थलग करके देखना।

उदाहरण के लिए, इस रिपोर्ट के अनुसार, बिचौलिया पट्टेदारी का उन्मूलन, पट्टेदारी से संबंद्ध सुधार और जोत की उच्चतम सीमा के निर्धारण, जैसे कार्यक्रमों के मुख्य संघटकों को असम्बद्ध कार्यक्रमों के रूप में देखा गया और उनका कार्यान्वयन भी इसी तरह से करने की कोशिश की गई। चकबंदी की योजना बनाने और उसे लागू करने में गांव की सड़कों, सिंचाई और जल-निकास के लिए नहरों और नालियों, भूमि विकास, मृदा संरक्षण आदि के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी गई।''[4] देश में निजी स्वामित्व को खत्म करने से ही वास्तविक बराबरी आ सकती है। निजी स्वामित्व खत्म करने से पहले निजी स्वामित्व के लिए संपत्ति और संसाधनों का एक समान बंटवारा सुनिश्चित करना आवश्यक है तभी निजी संपत्ति को खत्म कर समतावादी व्यवस्था की स्थापना की जा सकती है।

एक नजर कृषि उत्पादन वृद्धि दर पर डालते है।

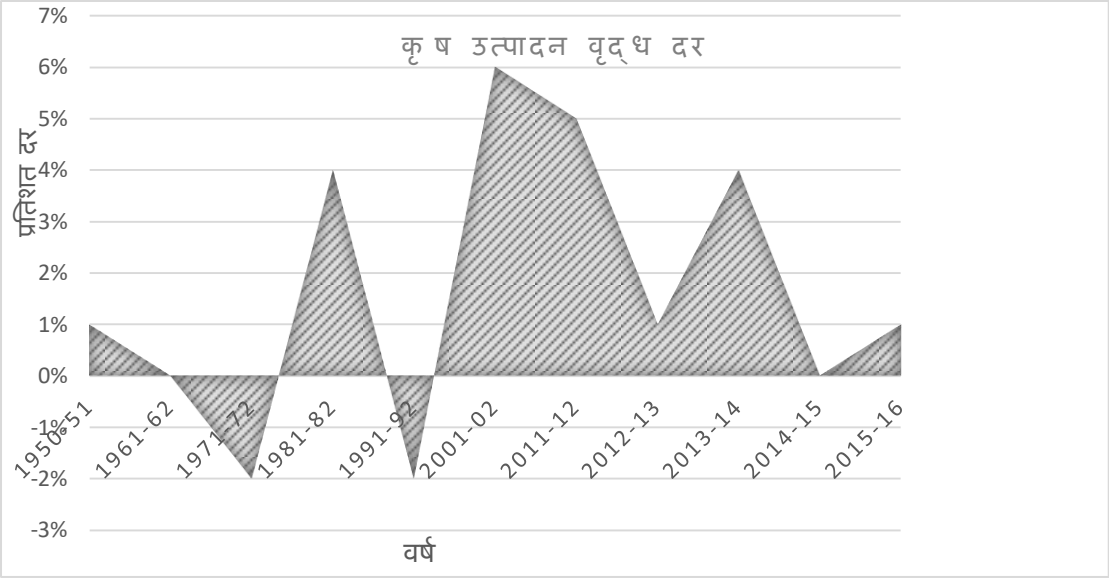

पिछले कुछ दशकों के दौरान कृषि क्षेत्र की वृद्धि दर अस्थिर रही है। कृषि क्षेत्र की वृद्धि दर में इतना अंतर आय को तो प्रभावित करता है साथ ही खेती में निवेश करने के लिए किसानों की ऋण लेने की क्षमता को भी प्रभावित करता है। स्त्रोत: एक नजर में कृषि सांख्यिकी 2015 पीआरएस

भारतीय अर्थव्यवस्था में सुधार और विकास के नाम पर यह भूमि बंटवारा, भूमि सुधार करने के लिए भूमंडलीकरण उदारीकरण की प्रक्रिया अपनाई जा रही है। भूमि-सुधार गरीबों में भूमि वितरण सामान रूप से न करने से समाज में गरीबी बढ़ने लगी थी। विशेषकर ग्रामीण भारत में बहुत ज्यादा गरीबी असमानता बढ़ी। आजादी के बाद भूमि संबंधित तमाम कानून देश में लागू किए गए थे। जब इन कानून को लागू किया गया उसके तीस-चालीस वर्षों में ग्रामीण समाज में गरीबी असमानता कम होने की जगह बढ़ने लगी।

एक नजर राष्ट्रीय आय में कृषि क्षेत्र के योगदान पर डालते है –

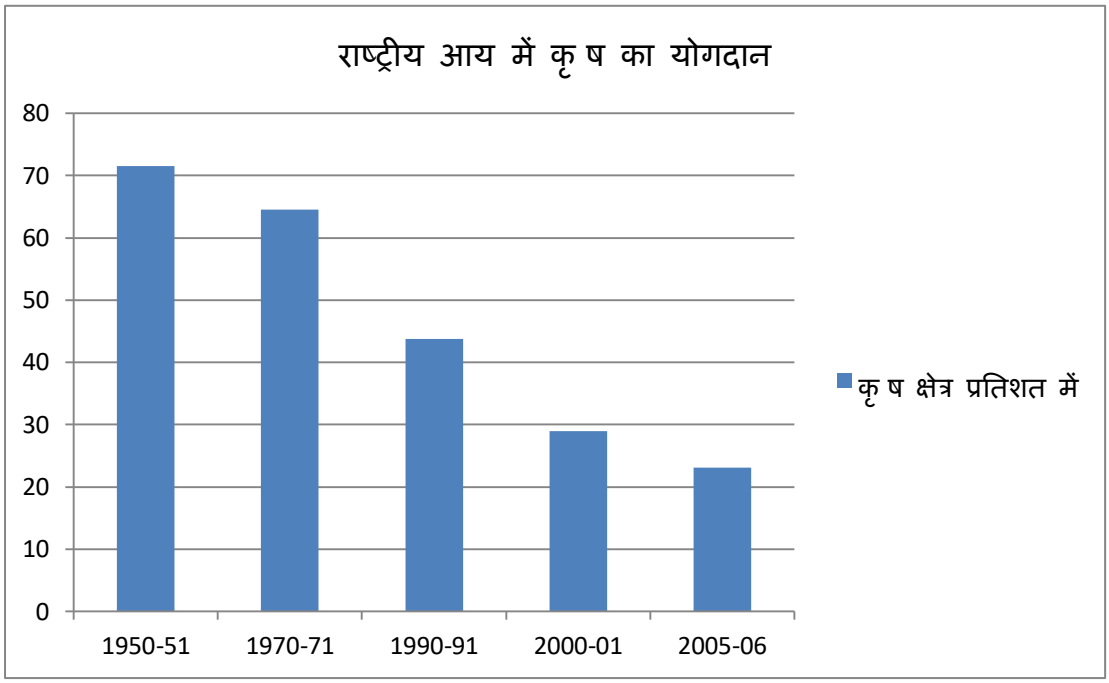

स्त्रोत : भारत सरकार आर्थिक सर्वेक्षण, वर्ष 2006-07

उपरोक्त आकड़ों से पता चलता है कि राष्ट्रीय आय में कृषि का प्रतिशत प्रतिवर्ष लगातार घटा ही है। चूँकि राष्ट्रीय आय आर्थिक विकास का प्रमुख सूचक माना जाता है। इस हिसाब से राष्ट्रीय आय में कृषि क्षेत्र का योगदान महत्वपूर्ण है।

इन तीस-चालीस वर्षों के बाद फिर एक बार दूसरे तरह से गरीबी, असमानता मिटाने की बात की जाने लगी। इस गरीबी, असमानता को हटाने के लिए दूसरे तरह के कानून लाए गए थे। इन कानूनों को हम उदारीकरण के रूप में देख सकते हैं। इन नई नीतियों को भारतीय अर्थव्यवस्था में 1980 से लागू कराने की वकालत की थी। इससे

पहले वाली नीतियों में पंचवर्षीय योजना के तहत ग्रामीण अर्थव्यवस्था केंद्र में थी। इन नए कानूनों के अंतर्गत पूरी अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों को ध्यान में रखा गया। ये आकड़े बताते हैं कि कृषि व्यवस्था की वृद्धि दर में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है।

विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन एक तरह से औपनिवेशिक नीतियों को ही कानूनी रूप से देशों में लागू करा रहे हैं। कृषि व्यवस्था में आधारभूत सुधार के लिए संरचनागत बदलाव जरुरी है। अर्थशास्त्री प्रभात पटनायक कहते हैं कि, औपनिवेशिक तथा अर्ध-औपनिवेशिक खेतिहर देशों को विकसित देशों में बदलने के लिए जरुरी है की खेती पर निर्भर जनसंख्या का प्रतिशत काफी घटा दिया जाये। देश की कम से कम पचास प्रतिशत जनसँख्या को कृषि से भिन्न किसी अन्य धंधे पर निर्भर रहना चाहिए। इसका अर्थ है खेती करने वालों से लगभग 20-30% लोगों को हटा दिया जाए और उन्हें कोई अन्य वैकल्पिक रोजगार दिया जाए। लेकिन इस ज्वलंत समस्या को सार्वजनिक रूप से संज्ञान में लेने के बावजूद ये समस्याएं आज भी बरक़रार हैं।

इन 25 साल में समाज पर इन नीतियों का क्या प्रभाव पड़ा क्या समाज में गरीबी या असमानता कम हुई? क्या देश की जनता का विकास हुआ जब हम इस तरह के सवालों को देखते हैं तब समझ आता है इन का प्रभाव देश पर बहुत ही नकारात्मक रूप से पड़ा रहा; अमीर वर्ग अमीर बनता जा रहा था गरीब और गरीब होता जा रहा है। गरीब की संख्या भी बढ़ती चली जा रही है, इन नीतियों का फायदा विदेशी कंपनियों के मालिक और उनकी वफादारी करने वाले देसी मालिकों को ही मिलता नजर आ रहा है। उदारीकरण की नीति से देश में अन्याय, गरीबी, असमानता ही बढ़ी है। ग्रामीण समाज में तो इनका प्रभाव ही बहुत ख़तरनाक पड़रहा है, जहां लाखों किसान आत्महत्या कर चुके हैं और उससे भी ज्यादा आत्महत्या करने की कगार पर पहुंच रहे हैं।

इस दौरान अगर हम आकड़ें उठा कर देखे तो पता चलता है की किसानों की संख्या में गिरावट आई है लेकिन कृषि श्रमिकों की संख्या बढ़ी है। इस तरह से देखने में तो राष्ट्रीय आय में कृषि का योगदान घटा है पर यह आज भी सबसे अधिक रोजगार देने का क्षेत्र है।

वर्ष	कुल श्रमिकों की हिस्सेदारी प्रतिशत में		
	श्रमिकों में किसानों का कुल हिस्सा	कुल श्रमिकों में कृषि मजदूर	कुल श्रमिकों में कृषि श्रमिक
1951	50.11	19.57	69.68
1961	52.78	16.69	69.48
1971	43.35	26.33	69.68
1981	37.82	22.69	60.51
1991	35.24	23.75	58.99
2001	31.65	26.55	58.20
2011	24.65	29.94	54.60

स्त्रोत : विभिन्न मुद्दों पर कृषि सांख्यिकी

इन आकड़ों को देखने से साफ़ पता चलता है की भारत में भूमिहीन कृषि मजदूरों की संख्या में इजाफा हुआ है। कृषि में लगे श्रमिकों की संख्या में लगातार वृद्धि हुयी है वही किसानों की संख्या में लगातार कमी आयी है।

उदारीकरण के दौर में कृषि अर्थव्यवस्था: प्रावधान और प्रभाव

उदारीकरण की प्रक्रिया और इसमें संलग्न कई अंतर्राष्ट्रीय संगठन, राज्य और इसके प्रावधानों को आलोचनात्मक रूप से समझना कई लिहाज से जरुरी है। भारत जैसे-राष्ट्र राज्य के संस्थानों का नीतिगत क़ानूनी क्रियान्वन के मूल्यांकन के लिए उदारीकरण के व्यापक प्रावधानों को गहराई से समझना आश्यक है।

विश्व व्यापार संगठन, भारत में 1980 के दशक उदारीकरण, भूमंडलीकरण, निजीकरण (एलपीजी) के नाम से लायी गयी में नई आर्थिक नीति का हिस्सा है। उदारीकरण नीतियों के तहत होते हुए कृषि व्यापार से संबंधित विश्व व्यापार संगठन के तीन ऐसे दस्तावेज है जो सीधे-सीधे कृषि से सम्बन्धित हैं। ''पहला 'व्यापार सम्बन्धी बौद्धिक सम्पदा अधिकार समझौता (ट्रिप्स)। दूसरा है 'स्वच्छता एवं वानस्पतिक स्वच्छता समझौता (एस.पी.एस.ए.) और तीसरा कृषि पर समझौता' (ए.ओ.ए.)।''[5]

इन प्रावधानों पर एक नजर डालते हैं। ट्रिप्स के तहत बीजों को बौद्धिक संपदा घोषित करके इनके आदान-प्रदान पर रोक लगाने की व्यवस्था है। पेटेंट का प्रावधान भी इसी समझौते के अंतर्गत है। पेटेंट के प्रावधान का लाभ उठाकर 'मोसेन्टो' और 'सिंजेंटा' जैसे बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ दुनिया भर के बीजों पर एकाधिकार जमा रहीं है। छल-कपट और वर्षों से स्थानीय प्रशासन के साथ साठ-गांठ कर इन्होनें वर्षों से किसानों द्वारा उनके श्रम तथा अनुभवों से विकसित फसलों का पेटेंट करा लिया है। यहां तक कि फसल से बीज बचाकर प्रयोग करने के पारंपरिक विधि भी अब अपराध की श्रेणी में आ गई है। इन कंपनियों ने अब ऐसे बीज उत्पादित किए हैं जिनका दोबारा उपयोग नहीं किया जा सकता। मकसद साफ है हर बार किसानों को नए बीज खरीदने के लिए बाजार में आने पर बाध्य करना तथा बीजों के बाजार को हमेशा ज़िंदा और एकाधिकार स्थापित करना।

जीएम फसलों को लेकर हमारी नीतियां पारदर्शी नहीं है इसमें नीति क्षेत्र का अंदाजा इससे लगता है कि 40% शोध 'मोसेन्टो' के बीटी जीन पर ही हो रहा है। विदेशी वित्तीय मदद से स्थापित अनुसंधान केंद्र में बीजों का पेटेंट निजी कंपनियों के हित में किया गया। यह बीज देश, पर्यावरण, किसान और मनुष्य के लिए भी घातक साबित हो रहे है। जिस भी देशी वैज्ञानिक ने इसका विरोध किया उसे हटा दिया गया। ''भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (आईसीएआर) ने चावल के अधिक उत्पादन के लिए अंतर्राष्ट्रीय चावल अनुसन्धान संस्थान (आईआरआरआई, इर्री) मनीला, फिलिपीन्स, जो रॉकफेलर और फोर्ड प्रतिष्ठान की वित्तीय सहायता से स्थापित किया गया था; द्वारा विकसित जैपोनिका और 'इंडिका' चावल की अधिक उपजाऊ आईआर किस्मों को भारतीय कृषि प्रणाली में अपनाने का प्रस्ताव दिया। लेकिन तत्कालीन निर्देशक, केंद्रीय चावल अनुसंधान संस्थान, कटक, और प्रखर चावल विशेषज्ञ डॉक्टर आर.एच.रिछारिया ने चावल की बौनी आईआर किस्म का देश में प्रवेशन का इस आधार पर विरोध किया कि यह विदेशी किस्मे भारतीय परितंत्र और पर्यावरण के अनुकूल नहीं हैं और इसका कुप्रभाव चावल की अति समृद्ध जैव विविधता पर पड़ेगा। उनका कहना था कि देश के अंदर भी चावल की कई अधिक उपजाऊ और रोग प्रतिरोधी किस्में उपलब्ध हैं। अतः बिना परीक्षण के इन विदेशी किस्मों का प्रवेश चावल की खेती के लिए घातक सिद्ध होगा। यह रोग ग्रस्त हो जाएगी। भारत इसकी उत्पत्ति और विविधता का केंद्र है। अतः इस महत्वपूर्ण खाद्य फसल के साथ कोई भी

छेड़खानी आत्मघाती होगी। अपने छह दशकों के कार्यकाल में ग्रामीण और आदिवासी तथा अपने सहायकों के सहयोग से इस देशभक्त कृषि विज्ञानी ने चावल की 19,000 किस्मों का संग्रह अध्ययन और प्रलेखन किया, अधिक उत्पादन के लिए 'कृतक प्रचार क्लोनल प्रोपेगेशन तकनीक' की खोज की और कई अधिक उपजाऊ, कीट प्रतिरोधी, पर्यावरण हितैषी और सुगंधित किस्मों का विकास किया, उनका चावल का अमूल्य आनुवंशिक धरोहर आज भी इंदिरा गांधी कृषि विश्वविद्यालय, रायपुर में संरक्षित और सुरक्षित है। हालांकि कृषि बायोटेक कंपनियों की बुरी नजर इस पर लगी हुई है। लेकिन उनकी चेतावनी को अनसुना कर उन्हें अपमानित और प्रताड़ित किया गया; उन्हें केंद्रीय चावल अनुसंधान संस्थान के निर्देशक के पद से जबरन हटा दिया गया, यह थी उनकी देशभक्ति की कीमत! उन्हें दृश्य से ओझल कर दिया जाने के बाद पारस्परिक सहयोग के नाम पर इर्री, मनीला से आई. आर. और यहां की देशी किस्मों का बड़े पैमाने पर आदान-प्रदान किया जाने लगा और विदेशी बौनी किस्मों की खेती की जाने लगी। वस्तुतः यह चावल के समृद्ध भारतीय जर्मप्लाज्म जीन की भीषण डकैती थी।''[6]

उदारीकरण ग्रामीण जीवन के अस्तित्व को गंभीरता से नहीं लेता है। जितना भी अस्तित्व को स्वीकारता है वह मुनाफा कमाने और विदेशी पूंजी के फायदे के लिए ही ग्रामीण भारत का नाम लेता है। ''आर्थिक उदारीकरण पर तमाम बहसें यह मानकर चलती हैं कि भारत में कृषि या ग्रामीण क्षेत्र है ही नहीं, और अगर इसका अस्तित्व है भी तो इसकी परवाह करना बेकार है। एक ऐसी अर्थव्यवस्था में ऐसा सोचना हिमाकत ही कहा जाएगा, जहां दो तिहाई श्रम-शक्ति कृषि में लगी हो और जिसकी तीन-चौथाई आबादी गांव में रहती हो।''[7] उदारीकरण की नीतियों ने हमारे देश की आयात-निर्यात की नीतियों में बड़े पैमाने पर फेर-बदल भी करवाया है जिनका असर निर्यात पर पड़ा है ।

	1991-92	1992-93	1993-94	1994-95	1995-96	1996-97	1997-98	1998-99	1999-00	2000-01	2001-02
आयात	3.9	9.54	3.18	6.6	4.8	4.76	5.7	8.17	7.45	5.31	6.56
निर्यात	17.8	16.84	18.05	15.99	19.18	20.33	19.1	18.25	15.91	14.28	14.04

स्त्रोत–कृषि एवं सहकारिता विभाग, जी.ओ.आई.

उपरोक्त तालिका में उदारवादी नीतियों में बाहरी माल में लगातार बढ़ोत्तरी देखी जा सकती है। और अपने यहाँ उत्पादित माल को बहार भेजने वाली मात्रा में गिरावट देखी जा सकती है। विदेशी देश भारत पर दबाव बनाकर अपना उत्पादित माल बेचना चाह रहे हैं। इस कारण आयात शुल्क में भारी गिरावट भी देखी जा सकती है जहाँ बड़े देश अपना माल बेचकर फायदा कमाना चाह रहे हैं और गरीब देश अपना माल उन देशों में भेज ही नहीं पाते हैं, क्योंकि उन पर आयात शुल्क बहुत ज्यादा बढ़ा देते हैं। यह नीतियाँ किस प्रकार बड़े देशों के पक्ष में जाती हुयी दिखाई देती हैं। ''जहाँ विकसित देशों ने अपने यहाँ चीनी, चावल, दुग्ध उत्पादों, मांस, फल सब्जी जैसे अनेक उत्पादों पर 350-900% तक आयात शुल्क कायम रखा है वही भारत जैसे देशों पर इन्हें समाप्त करने के लिए हर तरह के दबाव बनाये जा रहे हैं। हालत यह है कि1999 में जब इन्डियन एयर लाइंस का एक विमान अपहृत हुआ था तो अमरीका ने भारत पर समझौते के बदले आयात प्रतिबंध हटाने के लिए दबाव डाला और राष्ट्रभक्ति के ढोल पीटने वाली तत्कालीन राजग सरकार ने घुटने टेकते हुए गुप्त समझौता के तहत 714 मदों से अप्रैल 2000 तक तथा शेष 715 मदों पर से अप्रैल 2001 तक सारे प्रतिबंधों को समाप्त किया जाना स्वीकार कर लिया था। इन नीतियों को लेकर सभी दलों में आम सहमति है, यह इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि किसी दल ने संसद के बाहर या भीतर यह मुद्दा नहीं उठाया,जबकि यह समर्पण कांधार से कम नहीं था।''[8] अंतर्राष्ट्रीय व्यापार एवं निर्यात पर उत्पादन सम्बन्धी अनुदान जो कि विकसित देशों द्वारा दिया जाता है, उनका हमारे कृषि निर्यात पर प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई देता है। कुल निर्यात में कृषि-निर्यात का सापेक्ष अनुपात कम होता गया है। ऊपर दी गई तालिका के अनुसार 1996-97 में जहाँ वह 20.33 प्रतिशत था, वर्ष 2001-02 में वह घटकर 14.04 रह गया। वैसे कृषि निर्यात से होने वाली आमदनी में भी कमी आयी है। इसके विपरीत देश के कुल आयात में कृषि आयात का हिस्सा उसी दौर में बढ़कर 4.76 प्रतिशत से बढ़कर 6.56 प्रतिशत हो गया।

इससे पता चलता है कि विश्व व्यापार संगठन के बाद के दौर में कृषि-निर्यात में गिरावट आयी है। कम उत्पादकता और ऊँची उत्पादक दर के कारण भारत में कृषि उत्पादों की कीमतें उतनी प्रतियोगी नहीं हैं। विश्व व्यापार संगठन के प्रावधानों को देखे तो साफ़ पता चलता है कि इसकी नीतियाँ गैर बराबरी पर आधारित हैं। इसके प्रावधानों की चर्चा करते हुए प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रभात पटनायक बताते हैं कि, कुछ

विकसित देश अपने देश में बाहरी वस्तुओं के आयात पर भारी शुल्क लगा देते हैं जिससे उन देशों की कृषि उत्पादित वस्तुओं को निर्यात करना मुश्किल हो जाता है। ''विश्व व्यापार संगठन डब्लू.टी.ओ. खंड 18ख का इस्तेमाल करने से हमें रोक कर हमारी अर्थव्यवस्था को कृषि जिंसों खासतौर पर खाद्यानों के आयात के लिए खोलना चाहता है। उल्लेखनीय है कि खंड 18ख का उपयोग भुगतान संतुलन की कठिनाइयों के आधार पर हमें कुछ राहत दे सकता है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, लम्बे समय से घरेलू मूल्य को वैश्विक मूल्य के समतुल्य रखने के पक्ष में तर्क देता रहता है।''[9] उदारीकरण की नीतियों के कारण कृषि क्षेत्र में दी जा रही सब्सिडी में भारी कटौती करने के प्रावधान है। यह कटौती पहले प्रत्यक्ष सब्सिडी और न्यूनतम समर्थन मूल्य में कमी करने के रूप में सामने आयी। ''भारत में यह सब्सिडी दो प्रकार से दी जा रही थी एक कृषि लागतों को काबू में रखने के लिए खाद, बीज, डीजल, पानी आदि कृषि निवेशों पर और दूसरे,किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाना तथा उन्हें साहूकारों और दलालों के चंगुल से बचाने के लिए सस्ते कृषि ऋणों तथा न्यूनतम खरीद मूल्यों के निर्धारण के रूप में ।''[10] बाकी सब्सिडी अप्रत्यक्ष रूप में खाद, उर्वरक बनाने वाली कंपनियों को दी जाती है। जिससे सब्सिडी लेकर किसानों को सस्ते में खाद बीज उर्वरक बेच सके। पर किसानों पर अप्रत्यक्ष सब्सिडी बढ़ रही है। प्रत्यक्ष सब्सिडी में लगातार गिरावट आ रही है। अप्रत्यक्ष सब्सिडी का फायदा देशी-विदेशी कंपनियों को ही मिल रहा है। कृषि एवं खाद अनुदान सरकार कि प्रमुख चिन्ता रही है। जबकि कृषि में सार्वजनिक निवेश कम होता जा रहा है जबकि कृषि अनुदान अथवा सब्सिडी बढ़ रही है। जहाँ तक उर्वरक अनुदान की बात है तो ''उर्वरक अनुदान का प्रतिशत 1980 के दशक में जहाँ 35 प्रतिशत था, 1990 के दशक में दूसरे हिस्से में बढ़ाकर 49.8 प्रतिशत हो गया है। उर्वरक अनुदान जो कि 1990-91 में 4389 करोड़ था, 2003-04 में बढ़ाकर 11009 करोड़ हो गया है। अनुदान का एक बड़ा मुद्दा खाद अनुदान है। क्योंकि 1996-97 के 6066 करोड़ से बढ़ाकर 2002-03 में 24200 करोड़ हो चुका है। कुल उर्वरक एवं खाद अनुदान 35209 करोड़ था।''[11]

इन नीतियों ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव डाला साथ ही पूरी दुनिया में गरीबी, भुखमरी, असमानता और अन्याय ही पैदा किया है। पूंजी और संसाधन का बहुत ज्यादा केन्द्रीयकरण किया है। जिससे सीमित अमीर लोग ही शक्तिशाली लोग

होते जा रहे हैं। पूंजीवादी वैश्वीकरण की इन उदारवादी नीतियों ने दुनिया को क्या दिया है? इसका जवाब फिदेल कास्त्रो कुछ इस प्रकार देते हैं, ''300 वर्ष के पूंजीवाद के बाद भी विश्व में 800 मिलियन लोग भूखे हैं, अब इस समय 1 बिलियन लोग अनपढ़ हैं, 4 बिलियन लोग गरीब हैं, 250 मिलियन बच्चे रोज काम पर जाते हैं, और 130 मिलियन लोग शिक्षा प्राप्त करने में सक्षम नहीं हैं,100 मिलियन लोग ऐसे हैं जिनके सिर पर छत नहीं है और 5 वर्ष से कम के 1 मिलियन बच्चे ऐसे हैं जो प्रति वर्ष गरीबी, कुपोषण या बीमारी से मरते है।''[12] पूरी दुनिया के साथ तीसरी दुनिया के देशों को भी तबाही, बर्बादी खुले आम देखी जा सकती है। इन देशों की सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक हर क्षेत्र को तबाह करके रख दिया है। यह कह सकते हैं कि उदारीकरण, वैश्वीकरण की नीतियों ने पूरे देश की व्यवस्था को तबाह किया है। इनका कहाँ-कहाँ पर ज्यादा प्रभाव पड़ा है? हमारे देश में इनका व्यापक रूप में प्रभाव पड़ा है इस पर एक नजर डालते हैं। यह प्रभाव भी इन्होंने कानून और अपने संस्थानों के माध्यम से डाला है। ''पहला, इस 'भूमंडलीकरण' की वजह से तीसरी दुनिया के मजदूरों और किसानों के रहन-सहन में जबर्दस्त गिरावट आनी तय है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उदारीकरण (यानी आयात पर से तमाम प्रतिबन्ध हटाने) की वजह से इन देशों के उद्योग-धंधे बंद-बर्बाद होंगे।...इस भूमंडलीकरण का दूसरा नतीजा है कि यह तीसरी दुनिया के देशों की आर्थिक और राजनीतिक संप्रभुता का हनन करता है। तीसरा विनाशकारी नतीजा है कि 'पूंजी निवेशकों के भरोसे' को बनाये रखने के लिए उपायों के साथ देश के प्राकृतिक संसाधनों और संपत्ति को कौड़ी के मोल विदेशी पूंजीपतियों और कंपनियों को सौंपा जाने लगता है। चौथा-विनाशकारी नतीजा होता है कि अनिवार्यतया लोकतंत्र को भी कमज़ोर किया जाता है। इसका एक बहुत असरदार तरीका यह है: विभिन्न बुर्जुआ और निम्न बुर्जुआ राजनीतिक पार्टियों पर पूंजी की उड़ान का खौफ इस कदर छाया रहता है कि वे 'उदारीकरण' कि नीतियों के प्रति अपने समर्थन को बार-बार दुहराती रहती हैं। पांचवा विनाशकारी नतीजा होता है कि, तीसरी दुनिया के देश अपनी अर्थव्यवस्थाओं का 'उदारीकरण' कर देने और अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय प्रवाहों के भंवर में फंस जाने के बाद अनिवार्यतया जातीय झगड़ों, अलगाववादी आंदोलनों, सांप्रदायिक फसादों और कट्टरवादी गतिविधियों में उलझ जाते हैं। 'उदारीकरण' से पनपी आर्थिक मंदी, अपस्फीति और बेरोजगारी तरह-तरह से उग्र जातीय-धार्मिक-सांप्रदायिक-नस्लीय और अंधराष्ट्रवादी आन्दोलनों के पनपने के लिए माकूल माहौल मुहैया करती हैं।''[13] यह उदारीकरण की सभी नीतियाँ विश्व बैंक,

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन के माध्यम से तीसरी दुनिया के देशों में लागू की जाती है। इन संस्थाओं के गठन, कार्य और आज तक होने वाले प्रभाव देख सकते है। इस प्रकार इन नीतियों ने तीसरी दुनिया के देशों को तबाह करके रख दिया है।

विश्व बैंक के द्वारा खर्च की जाने वाली पूरी राशि के आधार पर विचार करे तो विश्व बैंक, समूह की अन्य संस्थाओं को पीछे छोड़ देता है। विश्व बैंक अपने जन्म से लेकर 1992 तक अपने अधिकार क्षेत्रों में 290 अरब यू एस डालर का लेन-देन कर चुका है। आज वह प्रतिवर्ष 20 अरब डालर के लेन-देन के लिए प्रतिबद्ध है। बैंक ने अपने को जन संसाधन के नजरिये से कभी नहीं देखा विश्व बैंक हमेशा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की रणनीति का पूरक रही है। इसनेग्रुप 7 देशों और अमरीका हुकूमत के पक्ष में काम किया है। वैसे तीसरी दुनिया के देशों में ढांचागत विकासवादी परियोजना के रूप में अपने को गहरे से जोड़ने का दिखावा किया है। जबकि सच है कि विश्व बैंक इन शक्तिशाली अमरीकी परस्त देशों के एजेंट के रूप में काम करती है। बहुराष्ट्रीय/अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों के माध्यम से तीसरी दुनिया के देशों की पूंजी के घुसपैठ को सहयोग देती है। विश्व बैंक की पूंजी किस तरह से तीसरी दुनिया के प्राकृतिक संसाधन, कृषि और श्रम शक्ति तबाह करती नजर आती है। ''खनन के क्षेत्र में बैंक का हस्तक्षेप पारराष्ट्रीय निगमों के हस्तक्षेप के साथ सीधे तौर पर जुड़ा है। बैंक ने राष्ट्रीकरण के खतरों के खिलाफ एक तरह का आश्वासन दिया और संरचनात्मक परियोजनाओं (सड़क, बिजली, खान, रेल, बंदरगाह) का जिम्मा लेकर परोक्ष रूप से उन्हें सब्सिडी दी। कृषि क्षेत्र में बैंक ने किसानों की स्वायत्तता को तहस नहस करने में अपना ध्यान केन्द्रित किया। इसके लिए उसने समुचित कर्ज की नीति का समर्थन कर और हरित क्रांति के माध्यम से देहाती क्षेत्रों की अलग पहचान विकसित कर कृषि के भरण-पोषण की अर्थव्यवस्था को तोड़ डाला।''[14] इन तथ्यों से पता चलता है कि विश्व बैंक की नीतियाँ एक सामान नहीं हैं। यह अंतर्राष्टीय तटस्थ संस्था की जगह पर विकसित और शक्तिशाली देश की संस्था बनकर रह गयी है। यह संस्था तीसरी दुनिया के देशों को ऋण देती हैं, पर इस ऋण की भारी कीमत भी लेती है। ऋण के माध्यम से शक्तिशाली देशों की नीतियाँ इन देशों पर लागू करने को मजबूर करती हैं। यह देश वहां से सम्पदा, श्रम लूटते हैं और उन गरीब राष्ट्रों का भयंकर शोषण करते हैं। यह शक्तिशाली देश बेतहाशा मुनाफा कमाते हैं। यह मुनाफा

कमाने का माध्यम बहुराष्ट्रीय कम्पनी फिर इस मुनाफे से शक्तिशाली देश और शक्तिशाली होते जा रहे है।

विश्व बैंक की तरह का ही काम अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष करता है। समय-समय पर अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की तटस्थता पर सवाल उठते रहे है। ''अमुको को मूल रूप से यह कार्य भार सौपा गया था कि खुली विश्व अर्थव्यवस्था में वह मौद्रिक स्थायित्व सुनिश्चित करे। इसे सोने को मानक मनाने की प्रणाली के स्थान पर लाया गया था। उस प्रणाली ने पहले विश्वयुद्ध तक इस ज़िम्मेदारी को बख़ूबी निभाया था। इसका मतलब यह हुआ कि अंमुको का हस्तक्षेप सभी पक्षों पर भुगतान संतुलन थोपने के लिए था, चाहे उनका भुगतान संतुलन अधिशेष सरप्लस में हो या घाटे में। अपने अस्तित्व के पहले दौर में अमुको ने कार्य क्षमता कि एक निश्चित छाप छोड़ी, क्योंकि उसने यूरोपीय मुद्राओं की पुनर्परिवर्तनीयता को फिर से कायम करने में मदद की (1948-1957) और फिर यूरोपीय अर्थव्यवस्था में भुगतान संतुलन कायम करने में मदद पहुँचाई (1958-66)। 1967 से आगे की अवधि में एसडीआर के गठन के बावजूद कोष स्थायित्व बरकरार रखने में असफल हो गया।''[15]

ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व बैंक की तरह अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना अमरीका का तीसरी दुनियाँ के देशों पर पूर्ण नियंत्रण कायम करने के लिए हुई थी। ''उनके आदेश पत्र में बताये गए तर्कों के बावजूद अमुको बड़ी-बड़ी पूंजीवादी शक्तियों को खासकर अमरीका को ढांचागत समायोजन लागू करने के लिए अपनी कठोरता के साथ बाध्य नहीं कर सका जितनी कठोरता के साथ उसने तीसरी दुनिया के देशों पर इसे थोपा। विश्व व्यापार संगठन के गठन से पहले भी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं में शक्तिशाली साम्राज्यवादी देश ही अपने अनुकूल व्यापार और सम्पदा का इस्तेमाल करते थे। जब गरीब विकसित देश इन मंचों पर अपने हितों में कोई कानून लाते हैं तब यह देश उन कानूनों को मान्यता ही नहीं देते है। ''गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने 1975 में दुनिया में नई आर्थिक नीति का मसौदा रखा था जिन्हें इन विकसित देशों ने ख़ारिज कर दिया। यह प्रस्ताव निम्न प्रकार हैं-

1. विकासशील देशों केऔद्योगिक उत्पाद के लिए विकसित देशों के बाजार खोले जाएं,(जवाब में विकसित देशों ने कपड़ों को गैट-विश्व व्यापार संगठन के नियमों-क़ानूनों से मुक्त कर दिया);

2. गरम देशों में कृषि उत्पादों और खनन उत्पादों के व्यापार की शर्तों में सुधार किया जाये (पर्यावरण की सुरक्षा का अच्छा तरीका होगा, लेकिन गैट - विश्व व्यापार संगठन इस बिंदु पर मौन साधे रहा);

3. अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय व्यवस्था तक बेहतर पहुँच उपलब्ध करायी जाये (जवाब में गैट-विश्व व्यापार संगठन ने बैंक व्यवस्था के नियम-कानूनों को उदार बना दिया इससे विकासशील देशों से विकसित देशों में पूंजी हस्तान्तरण आसन हो गया);

4. प्रोद्योगिकी हस्तानान्तरण के लिए ज्यादा समान स्थिति बानायी जाए (गैट–विव्यासं ने इसके जवाब में तथाकथित 'बौद्धिक' सम्पदा के नाम पर एकाधिकार को सुद्रढ बना लिया)। जैसा कि हमें मालूम है कि अंतर्राष्ट्रीय ने आर्थिक व्यवस्था (एनआईईओ) परियोजना को विकसित देशों ने एकमत से ख़ारिज कर दिया।''[16]

पहले हवाना चार्टर में विकासशील देशों ने कुछ नियम जोड़ने को कहा था , यह नियम चार्टर 11- 12 के अंतर्गत रखे गए थे। यह नियम व्यापार में बराबरी की मांग करते थे। इन नियमों में प्रतिबंधित व्यापारिक गतिविधियां, उपभोक्ता समझौते, रोज़गार और कृषि- संबंधी नियम समाहित थे। यह नियम विभिन्न गरीब देशों की निवेश-नीतियों को सुरक्षा दे सकते थे। पर विकसित देशों ने इस चार्टर को ख़ारिज कर दिया था। ''संयुक्त राज्य अमेरिका का हाथ था, अमरीकी संसद ने इसे स्वीकृति नहीं दी। परिणामस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय व्यापार मंच(आईटीओ) स्थापित करने का प्रस्ताव ठन्डे बस्ते में चला गया और उसकी जगह गैट(जनरल एग्रीमंटऑनटेरिफ़एंडट्रेड- गैट) वैकल्पिक उपाय के रूप में सामने आया। इसके प्रारंभ होने के चार दशक बाद भी गैट के शीर्षक के अंतर्गत कभी निवेश-मुद्दा नहीं आया और सावधानीपूर्वक व्यापार और निवेश के मुद्दों पर विभाजक रेखा निर्धारित की गई। ऐसा केवल 1986 से 94 के बीच गैट के मुद्दे पर उरुग्वे दौर की वार्ताओं में हुआ कि निवेश का मुद्दा भी इसकी चर्चा के अंतर्गत आया।''[17]

निष्कर्षतः विश्व व्यापार संगठन का दावा न्याय संगत होने से कोसो दूर है। सच तो यह है कि यह ऐसा संगठन है जो पराराष्ट्रीय कंपनियों के पूर्णतः अधीन है। जैसा कि हमें मालूम है कि वह कल्पना जगत की सबसे गूढ संस्था है जो इंटरनेशनल चैम्बर्स

ऑफ़ कामर्स(सबसे बड़ी पराराष्ट्रीय कंपनियों का क्लब)की क्षत्र-छाया में गुप्त रूप से बैठक करती है। तब यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि स्थायी विकास के मुद्दों पर गैट-विश्व व्यापार संगठन बिलकुल भुलक्कड़ बन जाता है... ये सब भविष्य की कीमत पर हो रहा है। गैट–विश्व व्यापार संगठन द्वारा अनुमोदित विनिमय का सहज उद्देश्य पररा्ष्ट्रीय कंपनियों के एकाधिकार को लाभ पहुँचाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह प्रबंधन में राज्य (खासकर तीसरी दुनिया में) की भूमिका को शून्य तक पहुंचने का अनुमोदन करना है। इन नीतियों को पूरा करने के लिए डबल्यूटीओ का गठन भी किया गया था। डबल्यूटीओ का साफ़-सुथरा उद्देश्य है कि बाधाओं से मुक्त होकर विश्व व्यापार को बढ़ाया जाये लेकिन किसके व्यापार को? विकसित देशों के व्यापार को या विकासशील देशों के व्यापार को या विश्व व्यापार को।

डबल्यूटीओ मुख्यत विकसित देशों के हक को ध्यान में रखकर बनाया गया एक नीतियों का ढांचा है। जिसके तहत यह विकसित देशों की अर्थव्यवस्था को मजबूती देने का काम करता है। 1947 के आस पास ज्यादातर गुलाम देश स्वतंत्र राष्ट्र बनने लगे और मानव सभ्यता को ध्यान में रखकर इस बात की होड़ लग गयी कि अब कोई देश किसी दूसरे देश को गुलाम नहीं बनाएगा। अतः इस काम को अब नीतियों के सहारे किया जाने लगा कि दूसरे देश की अर्थव्यवस्था को कैसे अपने हक़ में प्रयोग करे। इसी को ध्यान में रखकर 1948 में गैट का निर्माण किया गया जो लगभग पांच दशक के बाद डबल्यूटीओ में बदल दिया गया।

यह समझना आवश्यक है कि डबल्यूटीओ किस प्रकार विकासशील देशों को प्रभावित करता है। ज्यादातर विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था का बड़ा हिस्सा कृषि क्षेत्र पर निर्भर रहता है और उनके यहाँ कृषि कार्य रोजगार का बड़ा माध्यम है। डबल्यूटीओ की नीतियाँ इस प्रकार की होती हैं कि विकासशील देशों को कृषि के क्षेत्र में लाभ न मिलने पाए। विनिर्माण क्षेत्र में तकनीकी आभाव के चलते तो लाभ मिलता ही नहीं है। 1994 में एक कृषि से सम्बंधित समझौता तैयार किया गया जिसको डबल्यूटीओ के साथ ही 1 जनवरी 1995 से लागू किया गया। लेकिन इसको विकासशील देशों में लागू करने के लिए दस वर्ष और विकसित देशों में पांच वर्ष का समय दिया गया। यह समझौता मुख्यतः कृषि को तीन स्तर पर प्रभावित करता है– (□) उत्पादन के स्तर पर, (□ ▯) विदेशों को बेचने के स्तर पर और (□ □)□दूसरे देशों से खरीदने के स्तर पर क्रमशः समझौते के अनुसार तीन अहम हिस्से हैं। घरेलू सहायता

(डोमेस्टिकसपोर्ट), निर्यात सहायता (एक्स्पोर्ट सब्सिडी) खुला बाजार (मार्केट एक्सैस)। किसानों को घरेलू सहायता वाला वर्ग प्रभावित करता है।

घरेलू सहायता डबल्यूटीओ के समझौते के अनुसार मोटे तौर पर दो हिस्सों में विभाजित है- घरेलू सहायता जो व्यापार को नकारात्मक रूप से प्रभावित करे और दूसरा जो घरेलू सहायता से विश्व व्यापार को प्रभावित ही ना करे और यदि करे भी तो बहुत कम। समझौते के आर्टिकल , 6 के साथ annexure 2, 3, 4 इसी से सम्बन्ध रखते है। घरेलू सहायता को आगे तीन हिस्सों में विभाजित किया है। यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें यह देखा जाये कि कौन से सहायता नकारात्मक और कौन से नहीं हैं, उन्हें क्रमशः ग्रीन बॉक्स, एम्बर बॉक्स व ब्लू बॉक्स कहते है। ग्रीन बॉक्स और ब्लू बॉक्स वह घरेलू सहायता है जिसका व्यापार पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता और जिसको हटाने की आवश्यकता नहीं है। कोई भी देश इस घरेलू सहायता को किसी भी मात्रा में दे सकता है। ब्लू बॉक्स मुख्यतः ऐसी घरेलू सहायता है जो कृषिगत उत्पादन की सीमा निर्धारित करती हैं कि इससे ज्यादा उत्पादन न किया जाए और उसकी क्षति पूर्ति सरकार घरेलू सहायता के तहत किसानों को मुआवजा देकर करती है। एम्बर बॉक्स वह घरेलू सहायता है जो व्यापार को नकारात्मक रूप से प्रभावित करती है। यह आगे दो भागों में विभाजित है। कृषि को सामान्य रूप से सहायता और एक उत्पाद को विशेष रुप से सहायता। इनकी सीमा कुल उत्पादन का 10 प्रतिशत विकासशील देशों के लिए और 5 प्रतिशत विकसित देशों के लिए निर्धारित है। एक उत्पाद के लिए विशेष सहायता उसके लिए न्यूनतम निर्धारित मूल्य के रूप में और बजट में प्रावधान करके दिया जाता है। उदहारण- गेंहूँ को सहायताएमएसपी-फ़िक्स्ड एक्सटर्नल रिफ्रेन्स प्राइस (FERP-Fixed External Reference Price) (सरकार द्वारा ख़रीदे गए गेंहूँ की मात्रा) यह 10 प्रतिशत से ज्यादा नही होना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि विकासशील देश ग्रीन बॉक्स और ब्लू बॉक्स घरेलू सहायता देने में समर्थ नहीं हैं, न ही उनकी आर्थिक स्थिति ऐसी होती है कि वे जो सब्सिडी देते हैं। वह एम्बर बॉक्स के लिए मान्य होती है और विकासित देश जो सब्सिडी देते हैं वो व्यापार को प्रभावित नहीं करती है। ऐसा समझौते के प्रावधान के हिसाब से फिट बैठता है, जो ठीक नहीं है। ज्यादातर व्यापार को नकारात्मक और अपने हक में फायदे के लिए विकसित देश ग्रीन बॉक्स और ब्लू बॉक्स के तहत सब्सिडी देते है।

किसान जीवन की आर्थिक संरचना काफी जटिल है किसान जीवन की वैचारिक परंपरा काफी व्यापक और लम्बी रही है। स्वतंत्रता आन्दोलन के समय कृषि व्यवस्था में सुधार के तमाम वादे किये गए थे। आजादी के बाद कृषि सुधार के कानून भी लाये गए लेकिन क़ानूनी जामा पहने इन सुधारों ने किसानों की आर्थिक-सामाजिक स्थिति में कोई सकारात्मक परिवर्तन नहीं ला सके उल्टे उनके शोषण और उत्पीड़न के नए संस्थागत तरीकों के रूप में उभरे। वर्ष1980 के लगभग खुलकर साम्राज्यवादी नीतियों को लागू किया जाने लगा जिसका प्रभाव पूरी अर्थव्यवस्था पर पड़ा। कृषि में उत्पादन, इन साम्राज्यवादी ताकतों की जरुरत को पूरा करने के लिए होने लगा।

भारत में वैश्वीकरण और नवउदारवाद आगमन के साथ ही खेती का उद्देश्य साम्राज्यवादी पूंजी की जरुरत को पूरा करना हो गया। आज भी साम्राज्यवादी पूंजी की जरुरत के लिए ही पैदावार हो रही है। इस व्यवस्था के अंतर्गत अगर अंतर्राष्ट्रीय बाजार को इन फसलों की जरुरत है तभी इन्हें अच्छे दाम मिलने की उम्मीद है अन्यथा फसलों को सडकों पर फेंकने की भी नौबत आती है। सही मायने में देखा जाये तो खेती करने के उद्देश्यों में आने वाले बदलाव असल में सामंती और विदेशी पूंजीवादी व्यवस्था के हितों को ध्यान में रखकर करवायें जा रहे हैं यह बात अर्थव्यवस्था की संरचनागत नीतियों को देखने से साफ़ मालूम चलती है । भारत के बजट में कृषि क्षेत्र का हिस्सा भी लगातार घटा है ।

कृषि मंत्रालय एवं किसान कल्याण के तहत कुल बजट आवंटन और कुल व्यय

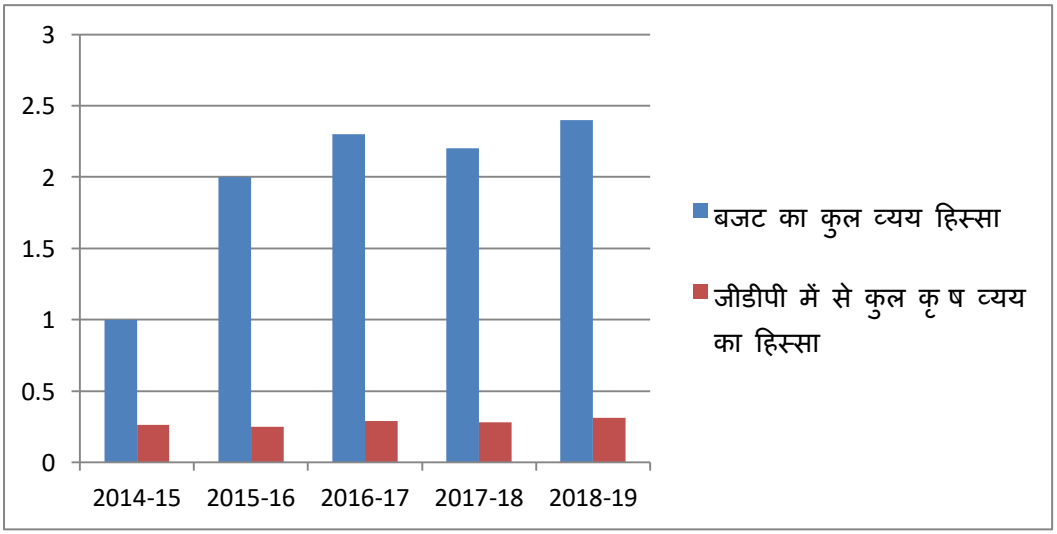

स्त्रोत-कृषि मंत्रालय एवं किसान कल्याण, 2019

एक तरफ विकास के ऊँचे आकड़े है जो ऊँची निवेश दर, सब्सिडी, सहकारी समिति व्यवस्था, किसान ऋण सुविधा आदि के बड़े दावे कर रहे है। वही दूसरी तरफ किसान आत्महत्याओं की संख्या प्रति वर्ष तेजी से बढ़ रही है, कृषि क्षेत्र में लगातार उत्पादन में कमी सामने आ रही है। किसान आत्महत्या के मामले 1990 के बाद से ही सामने आये है, लगभग प्रतिवर्ष दस हज़ार से अधिक किसानों के आत्महत्या की रिपोर्ट दर्ज की गयी है। बहुत से किसान खेती छोड़ कर मजदूर बनने को विवश है। आर्थिक विकास के चमकीले आंकड़े खेती की जमीनी हकीकत को छुपा कर आधुनिक, तकनीकीगत खेती के दंभ भर रहे है। आर्थिक विकास के ये तमाम प्रावधान आज भी खेती की मानसून पर निर्भरता कम नहीं कर पाये है। नवउदारवाद और भूमंडलीकरण की अर्थव्यवस्था का यह विरोधाभास इतना गहरा और तीखा है जो विकास का विनाशकारी चेहरा को कई मुखौटे प्रदान करता है और सरकार, प्रशासन, नीति-नियंता के राजनीतिक फैसलों को अनदेखा कर देता है ।

मुद्रास्फीति, अर्थव्यवस्था के बढ़ते आकार, और विदेशी निवेश, आदि का छोटे किसानों पर नकारात्मक असर पड़ा है। 'हरित क्रांति', 'सफ़ेद क्रांति', 'नीली क्रांति' आदि तात्कालिक लाभ देकर मुख्यतः बाजार व्यवस्था के तहत बड़े उद्योगों को ही फायदा पहुचने का काम कर रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में मूलभूत संस्थागत संरचनात्मक विकास के नाम पर शुरू की गई बैकिंग व्यवस्था, सहकारी समिति आदि शोषण के नए माध्यम बन कर उभरें है।

कृषि व्यवस्था से जुड़े इन तमाम मुद्दों को केंद्र में रखकर लिखे गए चयनित हिंदी उपन्यास इसी सामाजिक वास्तविकता की व्यापकता और गहराइयों को बारीकी से दिखाते हैं जिनकी विवेचना हम आने वाले अध्याय में कर रहे है ।

सन्दर्भ

[1]जी.एम.मेयर एवं आर.ई. ब्लाद्वींन: इकोनोमिक ग्रोथ एंड डेवलपमेंट,पृष्ठ संख्या 25-26

[2]एरिक रोल: ए हिस्ट्री ऑफ़ इकोनोमिक थॉट,पृष्ठ संख्या 27

[3]क्रूस डब्लू: प्राब्लम ऑफ इकनोमिक ग्रोथ,पृष्ठ संख्या 72

[4]ऐ.आर.देसाई: भारत के विकास मार्ग,पृष्ठ संख्या 231

[5]अशोक कुमार पाण्डेय:शोषण के अभ्यारण्य: भूमंडलीकरण के दुष्प्रभाव और विकल्प का सवाल, पृष्ठ संख्या 23

[6]नरसिंह दयाल:भारतीय कृषि की दशा और दिशा,(कथादेश)पृष्ठ संख्या 61-62

[7]अमित भादुड़ी,दीपक नायर(अनुवाद):उदारीकरण का सच, पृष्ठ संख्या 90-91

[8]अशोक कुमार पाण्डेय:शोषण के अभ्यारण्य,पृष्ठ संख्या 25

[9]प्रभात पटनायक(अनुवादक: तरुण कुमार): गुलामी के चक्रव्यूह में भारतीय अर्थव्यवस्था, पृष्ठ संख्या 217-18

[10]अशोक कुमार पांडेय:शोषण के अभ्यारण्य,पृष्ठ संख्या 25

[11]एम.पी.सिंह:भारतीय अर्थव्यवस्था: एक आकलन, पृष्ठ संख्या 49

[12]फिदेल कास्त्रों(अनुवादक:जीतेंद्र गुप्ता):साम्राज्यवादी वैश्वीकरण,पृष्ठ संख्या 59

[13]वी.वी.लेनिन(अनुवादक: चैतन्य कृष्ण):साम्राज्यवाद-पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था,पृष्ठ संख्या 54

[14]समीर अमीन(अनुवादक: राम कवीन्द्र सिंह)भूमंडलीकरण के युग में पूंजीवाद, पृष्ठ संख्या 38

[15]वही से, पृष्ठ संख्या 31

[16]वही से,पृष्ठ संख्या 42

[17]कंवल जीत सिंह:वैश्वीकरण(अनुवादक:जीतेंद्र गुप्ता)पृष्ठ संख्या 62

अध्याय 4

'समकालीन हिन्दी उपन्यास और किसान जीवन का यथार्थ'

हिन्दी साहित्य और विशेष रूप से हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद में परस्पर संबद्ध की विवेचना पहले अध्याय में की गयी है। दूसरे अध्याय में सैद्धांतिक आधार पर किसान जीवन का यथार्थ का विश्लेषण किया गया हैं। प्रस्तुत अध्याय में कुछ चयनित उपन्यास को आधार बनाकर किसान जीवन के यथार्थ का विश्लेषण किया गया हैं और यह जानने का प्रयास किया गया है कि उपन्यासों में किसान जीवन का वर्णन कितना यथार्थवादी तरीके से किया गया है।

प्रस्तुत अध्याय में हम समीक्षा कर रहे हैं कि विगत 40 वर्ष 1970 से 2015 तक के बीच में समकालीन हिन्दी उपन्यासों का प्रारूप कैसा रहा है? समकालीन हिन्दी उपन्यासों में किसानो पर केन्द्रित या आधारित उपन्यास की क्या स्थिति है? अथवा किसानों पर केन्द्रित कितने उपन्यास लिखे गए हैं और ऐसे उपन्यासों की प्रकृति/शैली किस प्रकार की हैं? ऐसे उपन्यास किसान जीवन का यथार्थ किस हद तक सच्चाई के साथ रेखांकित करते हैं ? उपरोक्त सवालों पर ध्यान देने से पहले इस बात पर भी गौर करना जरूरी है कि समकालीन हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन के यथार्थ का अध्ययन करने की जरूरत ही क्यों हैं?

सबसे पहले समकालीन हिन्दी उपन्यास में किसी भी विषय के 'यथार्थ' के अध्ययन की बात करते हैं। हिन्दी साहित्य में और विषशेषकर उपन्यास जैसी विधा में 'किसान जीवन' जैसे विषय पर लेखन से पहले रचना के 'यथार्थवादी' स्वरूप का महत्व कई मायने में बढ़ जाता है। कोई भी रचना चाहे अपनी रचना पद्धति/शैली में ऐतिहासिक हो, प्रयोगधर्मी हो या उसमें आवश्यकतानुसार जो भी कल्पना का तत्व हो किन्तु उस रचना का यथार्थ के अधिक से अधिक निकट होना साहित्य के सौंदर्यशास्त्र के पैमाने की दृष्टि से महत्व रखता है साथ ही उस रचना में चित्रित समाज को उसके वास्तविक रूप में दिखाने की कसौटी पर खरा उतरने के लिहाज से भी जरूरी है।

दूसरा बिन्दु है किसान जीवन पर आधारित/केन्द्रित समकालीन हिन्दी उपन्यासों के अध्ययन का महत्व। यदि 1970 के बाद से लेकर अब तक या 2015 तक के दौरान प्रकाशित हुये प्रमुख उपन्यासों पर नजर डालें तो हम पाएंगे कि इस बीच उपन्यासों के

विषय में काफी विविधता आयी है। रचना शैली में विविधता के साथ-साथ रचनाओं के केंद्रीय विषय भी पहले की तुलना में काफी बदले हैं। शहरी जीवन की विविध समस्याएं- एकाकीपन, शहरी जीवन का संत्रास, तेजी से उभरते स्त्री विमर्श, बेबाक और मुखर होते दलित-आदिवासी साहित्य का आगमन, वर्तमान-आधुनिक जीवन के बदलते मूल्य आदि उपन्यास का आधार रहीं हैं ।

किसान जीवन पर आधारित रचनाओं के नाम पर ग्रामीण या किसान जीवन की समस्याएं और उनका राष्ट्रीय स्तर पर अंतरसंबंध और इसके साथ-साथ गांवो के पुराने परंपरागत-सामंती मूल्यों का नए शहरी जीवन शैली के मूल्यो के साथ टकराव आदि हम देखते आए हैं। किन्तु 70 के दशक के बाद से और 21वीं सदी के बीच इन चार दशकों ने काफी व्यापक और गहरे परिवर्तनों को देखा है। देश में उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी नीतियों का प्रभाव स्वतन्त्रता प्राप्ति के दो दशकों बाद भी देखा जाता रहा हैं और खास तौर पर ऐसी नीतियों का प्रत्यक्ष व तात्कालिक प्रभाव छोटे-कमजोर समुदाय-वर्ग पर स्पष्ट तौर पर देखा जाता रहा है। लेकिन इन सबके बावजूद जो एक बड़ा परिवर्तन हैं, वह 90 के दशक के बाद से अपनाई गयी राजनीतिक-आर्थिक नीतियों के चलते दिखना शुरू हुआ हैं। भूमंडलीकरण, निजीकरण, उदारीकरण जैसी नयी आर्थिक नीतियों ने समाज के सभी वर्ग-समुदाय पर व्यापक असर डाला हैं जिसके कई परिणाम तुरंत ही दिखाई देने शुरू हो गए और आने वाले समय में भी दिखाई देते रहेंगे। राष्ट्रीय स्तर पर अपनायी गयी कोई भी राजनीतिक-आर्थिक नीति का उसके क्षेत्र विशेष के अलावा भी अन्य क्षेत्रों पर व्यापक असर पड़ता हैं। जिसका असर समाज के अन्य वर्गों के आपसी अंतरसंबंधों पर भी दिखाई देता है। आधुनिक तकनीकी से लैस नयी बाजारवादी-उपभोक्तावादी संस्कृति ने समाज के लगभग सभी वर्ग समुदाय को प्रभावित किया हैं और जीवन मूल्यों में भी काफी परिवर्त्तन आया है।

व्यापक सामाजिक परिवर्तन के इस चक्र में किसान जीवन जैसा विषय काफी पुराना प्रतीत होता है। लेकिन ध्यान देने योग्य बात ये हैं कि नए दौर में पुराने विषय की समस्याएं और भी ज्यादा जटिल हो गयी हैं। साहित्य में नए विषयों की भरमार के चलते इस पुराने से प्रतीत होते किसान जीवन जैसे विषय की प्रासंगिकता कई मायने में बढ़ जाती हैं। एक वर्ग समुदाय के रूप में किसान जीवन को उसके अपने परिवेश में होने वाले परिवर्त्तनों को समझना तो जरूरी हैं ही इसके साथ ही यह भी देखना जरुरी है कि किस प्रकार अर्थव्यवस्था व कृषि उत्पादन के बीच संबंध और आर्थिक नीतियों

संबंधी लिए जाने वाले फैसले कृषि क्षेत्र को और साथ ही समाज के अन्य क्षेत्र को भी प्रभावित करते हैं। अर्थव्यवसथा में परिवर्तन सामाजिक संरचना के ढांचे को भी परिवर्तित करता है।

इसी व्यापक आर्थिक-राजनीतिक संदर्भ को ध्यान में रखते हुये इस अध्याय में वर्ष 1970 से लेकर 2015 तक के बीच में हिन्दी उपन्यासों में से किसान जीवन को केंद्र में रखकर लिखे गए कुछ चुनिंदा उपन्यासों का चयन किया गया है।

हिन्दी उपन्यास और किसान का प्रश्न

वर्त्तमान राष्ट्र-राज्य में शासन की बागडोर बड़े पूंजीपति, उद्योगपतियों के हाथों से होकर गुजरती है। बाजारवाद ने देश भर को वस्तुओं से भर रखा हैं। नए बाजार और विकास के नए मॉडल की तर्ज पर वैश्विक गाँव बनाने का सपना व्यक्ति से लेकर राष्ट्रीय स्तर पर लोक-लिभावने तरीके से बेचा जा रहा है। सूचना प्रौद्योगिकी और इंटरनेट के विस्तार ने कृषि क्षेत्र की खबरों को भी मीडिया के लिए उपलब्ध कर दिया है। नए सामाजिक मूल्यों के आगमन से पुराने सामंती मूल्यों का लोप हो गया हो ऐसा भी नहीं हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायती राज ने विकेन्द्रीकरण के द्वार खोले हैं। इसके बावजूद आज के समय में भी सरपंच होने के बावजूद दलित होने के चलते जातीय भेदभाव की घटनाएं आए दिन सुर्खियों में आती रहती हैं।

वर्त्तमान 21वीं सदी के कृषि समाज में एक साथ कई तरह के परिवर्तन, प्रक्रियाएं और प्रयोग दिखाई दे रहे हैं। इन परिवर्त्तनों से किसान जीवन में अनेक प्रकार की विसंगतियों, विरोधाभासों देखे जा सकते है। किसान जीवन का द्वंद्व और अंतर्विरोध को वर्तमान संदर्भ में समझना जरूरी है। हिन्दी साहित्य में किसान जीवन पर आधारित प्रमुख रचनाओं और उनके रचनाकारों जैसे प्रेमचंद, फणीश्वरनाथ रेणु, महाश्वेता देवी, श्रीलाल शुक्ल, राही मासूम रजा जैसे कथाकारों का ग्रामीण समाज भी अब पहले जैसा नहीं रहा और न ही उनकी समस्याएं भी पहले जैसी रही है। साहित्यिक दृष्टि के अलावा समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी किसान जीवन पहले की अपेक्षा काफी बदल गया है। एस.सी. दुबे, एम.एन.श्रीनिवास, ए.आर.देसाई का विश्लेषण भी तेजी से बदलते समय की गति के आगे काफी पीछे छूट गया है। एक समय में उपन्यासों में अपनायी जाने वाली विकासवादी-करुणावादी यथर्थावादी दृष्टि वर्तमान परिवर्तन के विविध आयामों को समुचित रूप से रेखांकित कर पाने में न तो समर्थ हैं न ही साहित्यिक दृष्टि से वैध।

अगर तुलनात्मक रूप से देखें तो 19वीं और 20वीं सदी की अपेक्षा 21वीं सदी में किसान जीवन के अंतर्विरोध, समस्याएं अपेक्षाकृत अधिक जटिल हैं, आक्रामक हैं। क्योंकी राष्ट्र-राज्य का कल्याणकारी चेहरा किसान जीवन की इन समस्याओं को दूर कर पाने में असफल रहा हैं। बल्कि उल्टा सुनियोजित तरीके से राज्य ने निजी क्षेत्रों को बढ़ावा देते हुये अहस्तक्षेपवादी भूमिका निभाई है। शहर और गाँव के बीच बढ़ती खाई और विषमता ने अंतर्विरोधों को और तीव्र ही किया हैं । इस संदर्भ में किसान जीवन के आपसी अंतर्विरोध और राज्यव्यवस्था के साथ उनके अंतर्विरोध को समग्रता से समझना काफी अहम हो जाता है। इन नवीन परिवर्तनों और यथास्थिति का वर्णन अपने सबसे सही रूप में यथार्थवादी नजरिए से ही हो सकता है।

चयनित उपन्यासों का आधार

इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुये किसान जीवन पर आधारित बारह प्रमुख उपन्यासों का चयन अध्ययन के लिए किया गया है। जिसके तहत यह देखने का प्रयास किया गया हैं कि इन उपन्यासों में वर्णित कहानी का अंत किस नजरिए से किया गया हैं? किस वर्ग के किसानों का वर्णन, कितनी समग्रता में किया गया है? उसकी कहानी कितनी यथार्थवादी वास्तविक हैं? उसकी परिणिती क्या रही है?

हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन का यथार्थ प्रेमचंदयुगीन उपन्यासों से शुरू माना जाता हैं। प्रेमचंद ने अपने कथा साहित्य में किसान जीवन का बहुत ही सूक्ष्मता के साथ विवरण दिया है। शैली की दृष्टि से प्रेमचंद अपने शुरुआती उपन्यासों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का प्रयोग करते है। धीरे-धीरे आगे चलकर उनके अंतिम उपन्यासों में यथार्थवादी विश्लेषण दिखाई देता हैं। इसका बेजोड़ उदाहरण 'गोदान' उपन्यास के रूप में देख सकते हैं। इसी यथार्थवादी रुप के कुछ अन्य उदहारण हम फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आंचल', रामदरश मिश्र का 'पानी के प्राचीर', भैरव प्रसाद गुप्त का 'सती मैय्या का चौरा', विवेकी राय का 'लोकऋण' और 'बबूल' आदि उपन्यासों में देख सकते हैं।

चयनित उपन्यास निम्न प्रकार हैं-

(i) जगदीशचंद्र 1972 , 'धरती धन न अपना',

(ii) जगदीशचंद्र 1976, 'जमीन तो अपनी थी',

(iii) विवेकी राय 1977, 'लोकऋण

(iv) वीरेन्द्र जैन 1991, 'डूब'

(v) वीरेन्द्र जैन 1994, 'पार'

(vi) कमलाकांत त्रिपाठी 1997, 'बेदखल',

(vii) मधु कांकरिया 2000, 'खुले गगन के लाल सितारे'

(viii) विद्यासागर नौटियाल 2006, 'यमुना के बागी बेटे',

(ix) बनाफरचंद 2004, 'जमीन'

(x) मधुकर सिंह 2005, 'बाजत अनहद ढ़ोल',

(xi) पुन्नी सिंह 2010 ,'सहरना',

(xii) संजीव 2015, 'फांस'

जैसा कि पहले बताया गया हैं कि किसान जीवन के यथार्थ के अध्ययन के लिए किसान की उस श्रेणी को केंद्र में रखा जाएगा जो कि सबसे छोटे, भूमिहीन किसान हैं। जिनके पास भूमि बहुत कम हैं य न के बराबर अथवा नहीं ही हैं। और वे अन्य बड़े या मँझोले किसानों के खेतों में मजदूरी आदि करके अपना गुजारा चलाते हैं। इस श्रेणी में जनजातीय समुदाय के वे लोग भी शामिल हैं जो प्रछन्न रूप से अपनी जीविका के लिए खेती संबंधित कार्यों पर निर्भर हैं चाहे वे मुख्य रूप से पशुपालक ही क्यों न हो।

दरअसल किसान वर्ग में सबसे छोटे किसानों का यह तबका भूमि के स्वामित्व के अलावा उत्पादन के साधनों के लिहाज से भी गरीब और पिछड़ा हुआ है। साथ ही खेती-बारी के काम में लगा हुआ है। यह तबका आमतौर पर फसल की कटाई-बुवाई के समय पर बतौर मजदूर काम करता है। ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि सामाजिक-संसस्कृतिक हैसियत के लिहाज़ से ऐसा तबका ज़्यादातर दलित जाति, जनजाति या पिछड़ी जाति से आता है। चूंकि भारतीय समाज की संरचना में दलित-पिछड़ा व अनुसूचित वर्ग हमेशा ही संसाधन विहीन रखा गया हैं इसीलिए जीवन-यापन के लिए रोजगार के तौर पर इस तबके के पास बहुत ही सीमित विकल्प बचते हैं। उपरोक्त उपन्यास में ऐसे ही तबके के जीवन, उनकी समस्याओं को समय के साथ बदलते पैमाने पर रख कर दिखाया गया हैं। आजादी के बाद से राष्ट्रीय फ़लक पर होने वाले राजनैतिक

व आर्थिक परिवर्तन का असर धीरे-धीरे किसानों के इस तबके पर भी पड़ता दिखता हैं। हालांकि परिवर्तन व चेतना की दर बहुत असहमति हैं लेकिन उससे भी बड़ी बात यह हैं कि अपने अधिकारों के प्रति उभरती चेतना व शोषण के विरुद्ध असंतोष प्रखर हो रहा है। इस असंतोष को व्यवस्था हर तरह से दबा के रखना चाहती हैं और दमन को नयी व्यवस्था में कानूनी रूप में जमा पहना कर खुले तौर पर संस्थानीकरण करके रोक दिया जा रहा हैं।

भारतीय राज्य आजादी के बाद से देश में लोककल्याणकारी राज्य की भूमिका निभाने की अपनी प्रतिबद्धता की घोषणा हर पाँच साल पर नए-नए वादों के साथ ज़ोर शोर से करता हैं। अपनी इन्ही 'लोककल्याणकारी, प्रगति और विकासवादी नीतियों से समाज के हाशिये के लोगो को और ज्यादा बहिष्कृत करता चलता है। आखिर यह कैसी नीतीयां हैं जो जिस समुदाय-वर्ग के कल्याण के लिए बनाई जा रही हैं उसी को निगलती जा रही हैं ? एक बड़े पैमाने पर छोटे किसानों का भूमिहीन किसान हो जाना, किसानों का मजदूर में परिवर्तित होना; यह प्रक्रिया कोई नियति की देन या अकर्मण्यता नहीं हैं बल्कि इसके पीछे सरकार- शासन व्यवस्था की सोची-समझी नीतीयां व दोषपूर्ण भ्रष्ट प्रशासन व्यवस्था जिम्मेदार हैं। 'विकास' का जामा पहने शोषण की इस पूरी व्यवस्था और इसकी पूरी प्रक्रिया की बारीकी को इन उपन्यासों के माध्यम से समझा जाने का प्रयास किया गया हैं।

हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन पर आधारित तमाम उपन्यास लिखे गए हैं। लेकिन हर रचनाकार अपनी कहानी में एक खास वर्ग को केंद्र में रखता है। कहानी का यह केंद्र कुछ खास पात्र, वर्ग, घटनाएँ, विचार या समय, कुछ भी हो सकता है। यह लेखक के अपने विषय के चुनाव पर निर्भर करता हैं। किन्तु वह अपनी कहानी को किस वर्ग के नजरिए से दिखाता हैं यह महत्वपूर्ण हैं।

पहले दो अध्याय में स्थापित किया गया हैं कि किसी भी रचना का यथार्थवादी वर्णन ही उसका वास्तविक वर्णन हैं। जो कि काल्पनिकता और आदर्शवाद से परे हटकर स्थिति का जस का तस वर्णन करे और साथ ही उसकी भौतिक परिस्थितियों के अनुसार आगे का रास्ता भी यथार्थवादी दृष्टि के सुझाए खास नजरिए से कथानक और पटकथा को आगे बढ़ाये। अतः हम शोध में चयनित उपन्यासों का मूल्याङ्कन समाजवादी यथार्थवादी दृष्टिकोण से करेंगे।

किसान से मजदूर बनने की यात्रा: 'धरती धन ना अपना'

यथार्थवादी उपन्यासों की इसी कड़ी में जगदीशचंद्र के कई उपन्यासों को रखा जा सकता हैं। जिसमें 'धरती धन न अपना', 'जमीन तो अपनी थी' उपन्यास का इस अध्याय में बारीक़ रूप से अध्ययन किया गया हैं। 1972 में प्रकाशित 'धरती धन न अपना' उपन्यास में पंजाब के दोआब क्षेत्र के दलित समुदाय से आने वाले छोटे दलित भूमिहीन किसानो पर गांव के उच्च जाति के ज़मीदार जैसी हैसियत रखने वाले चौधरी, बड़े किसानो द्वारा किया जाने वाला शोषण, उत्पीड़न को दिखाया गया है| इन दोनों वर्ग समुदायों का आपसी संघर्ष भी दिखाया गया हैं। जगदीशचंद्र के उपन्यासों में पंजाब के किसान जीवन का यथार्थ दिखाई पड़ता हैं। इन उपन्यासों का काल कथा का समय-क्रम बींसवी शताब्दी के पांचवे दशक से सातवें दशक तक दिखाया गया हैं।

'धरती धन न अपना' उपन्यास में दलितों की चमार जाति केंद्र में हैं जिनमें से लगभग हर व्यक्ति गाँव के जमींदारो का भूदास या श्रमिक हैं। गाँव के इस वर्ग के पुरुष जमींदारो के खेत में परिश्रम करते हैं और स्त्रियां जमींदारो के घरों में साफ-सफाई का काम करती हैं। गाँव का ये वर्ग अपने दैनिक जीवन और अस्तित्व से लेकर आत्म सम्मान व अपनी मजदूरी के वाजिब हक़ के साथ दैनिक जीवन कि समस्याओं के खिलाफ लिए संघर्ष करता दिखाई देता हैं।

इस संघर्ष में दोनों पक्ष के किसान अपने हित को लेकर संघर्ष करते हैं| यह संघर्ष देखने में बिना हार-जीत के समाप्त होता है| इस उपन्यास का केंद्रीय पात्र काली हैं। वह कानपुर शहर में एक मिल (कारखाना) में छः साल मजदूरी करके गाँव वापस लौटा हैं। वह आत्मसम्मान के साथ अपने गाँव में रहना चाहता हैं। उसकी एकमात्र महत्त्वकांक्षा अपना खुद का पक्का मकान बनवाने की हैं। काली जिस सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि से आता हैं वहाँ पक्का मकान बनवाना एक सपने जैसा हैं। मकान बनवाने के दौरान उसे तमाम मुश्किलों का सामना करना पड़ता हैं। उससे उसके अपने जैसे किसान गाँव के उच्च जाति-वर्ग के उकसावे और बहकावे में आकर ईर्ष्या करने लगते हैं एवं मकान न बनने देने में अनेक प्रकार से रूकावट डालते हैं। शहर में छह साल रहकर काली चेतनाशील हुआ हैं तथा आर्थिक रूप से अपेक्षाकृत मजबूत होने के चलते गाँव-समाज में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती हैं। काली की ये सामाजिक प्रतिष्ठा और चेतना शील जागरूकता गाँव के साहूकार महाजन और चौधरियों की आँख में किरकिरी बन जाती

हैं। इसीलिए वे मिलकर काली को दबाकर रखना चाहते हैं किन्तु राजनीतिक रूप से चेतनाशील काली अपना आत्मविश्वास नहीं खोता। काली का जीवन एक संघर्ष के रूप में बदल जाता हैं। हालांकि दलित चमारो के इस वर्ग को किसान श्रेणी में रखकर देखना पूर्णतः सही नहीं हैं किन्तु लेखक ने इस उपन्यास में वर्ग-संघर्ष के साथ ही जातीय समीकरण को बखूबी दिखाया हैं।

काली का संघर्ष दो स्तरों पर देखने को मिलता हैं। एक अन्य ऊँची जाति-वर्ग के लोगो की प्रतिक्रिया एवं उनके द्वारा उत्पन्न किये गए तमाम अवरोध। दूसरा-उसके अपने ही बिरादारी के द्वारा उसका मार्ग अवरुद्ध किया जाता हैं। चौधरी-साहू के मन में उपजे अहंकार, काली के अपनी जाति वालों के मन में उपजी ईर्ष्या, यह व्यक्तिगत भावना एक लम्बी सामाजिक संरचना की देन हैं। जिसका प्रभाव विविध रूप में देखने को मिलती हैं। काली जो कि अपने गाँव में परिवर्तन का प्रतीक हैं साथ ही साथ वह औरों के लिये चुनौती भी हैं। उपन्यास की महत्वपूर्ण घटना गाँव के जमींदार चौधरियों व दलित छोटे भूमिहीन किसानों के बीच वर्ग-संघर्ष की हैं। छोटे दलित भूमिहीन किसानो द्वारा दिहाड़ी की मांग कर लेने पर जमींदार उनकी नाकेबंदी कर देते हैं । छोटे भूमिहीन किसान दलित छोटी जाति सभी काली के साथ मिलकर चौधरियों की इस नाजायज बेगारी का विरोध करते हैं और बाईकॉट की स्थिति में शोषण के विरुद्ध घुटने न टेकते हुए संघर्ष करते हैं। इस पुरातन मालिक-सेवक के रिश्ते का लिहाज करने की रस्म के चलते काली एवं उसके साथियों की हड़ताल समझौते की भेंट चढ़ जाता हैं।

'धरती धन न अपना' यह शीर्षक दिखाता हैं कि जिस धरती पर किसान मेंहनत-मजदूरी करते हैं, अन्न उपजाते हैं,वह जमीन कैसे उनकी होकर भी उनकी नहीं हैं। अपने इस उपन्यास में जगदीशचंद्र किसान और जमीन से उसके सम्बन्ध को बारीकी से दिखाने में सफल रहे हैं। बेगारी के विरूद्ध बाईकाट निश्चय ही एक माहत्त्वपूर्ण घटना हैं। यह बाईकाट छोटे किसान बड़े किसानों की बेगारी के खिलाफ करते हैं। इस बाईकाट से गरीब किसान पर गाँव में नाकेबंदी लागू कर दी जाती हैं। किसानों के सार्वजिनक रास्तों को छोड़कर कर कहीं और आने-जाने पर भी रोक लगा दी जाती हैं। बड़े किसान चौधरी किसी भी तरह का सहयोग नहीं करने का निर्णय लेते हैं। छोटे किसानों पर सामाजिक-आर्थिक बहिष्कार जारी रखा जाता हैं। सारे चौधरी एकता बनाकर बैठे थे। उन्हें अपने खेतो में काम करने से लेकर घरों में होने वाले दैनिक कार्य स्वयं ही करने पड़ रहे थे। यह चौधरियो की परेशानी थी। गरीब किसान भी सामाजिक आर्थिक बहिष्कार का जवाब

बेगारी का बहिष्कार कर रहे थे। यह बाईकाट लम्बा चलने के कारण गरीब किसानों को रोटी के लाले पड़ते नजर आ रहे थे। इन गरीब किसानों ने अप्रत्यक्ष रूप से काली को अपना नेता मान लिया था। काली चौधरियों के बहिष्कार के बावजूद हरसंभव तरीके से हड़ताल जारी रखना चाहता था। उसने अपनी जमा पूंजी, खाद्य सामग्री सब कुछ बाईकाट के दौरान फांके झेल रहे अपने साथी परिवारों में बाँट दी। बाईकाट के दौरान संघर्ष जारी रखने के लिए सहयोग पाने की आस से काली कई जगह भाग-भाग के मदद मांगने के लिए जाता हैं। पहले वह डाक्टर बिशन दास के पास जाता है। डाक्टर बिशनदास बहुत ही मशीनी तरह से मार्क्सवाद की व्याख्या करता है पर संघर्ष के व्यवाहरिक आयामों पर चुप्पी साध लेता हैं और कोई मदद नहीं करता है। उसको लगता हैं के बाईकाट जितनी मुश्किलों से भरा होगा उतनी ही जल्दी क्रांति होगी ।

'काली- ''कुछ लोगो के पास चूल्हे में जलाने के लिए ईधन और पकाने के लिए अनाज नहीं हैं। उनके हौसले टूट रहे हैं। एक औरत तो चौधरी हरनाम सिंह के कहने में मंगू के घर भी हो आयी है कि वह उसके गाँव वालों और पुत्तर को काम दिलवा दे।मैंने उसे अपना सारा अनाज दिया तो फिर कही जाकर उसने अपना इरादा बदला।''

कामरेड टहलसिंह, ''तुम्हारी एप्रोच रिफोर्मिस्ट (सुधारवादी) है। ऐसी बातो से पोलेतरियेत तबके की इंकलाबी स्प्रिट कमजोर पड़ती है। उन्हें समझाओ की क़ुरबानी के लिए भी तैयार रहे..।'''[1]

उनकी बातों से निराश हो काली चौधरियो में व्यक्तिगत स्तर पर काली से संवेदना रखने वाले लालू पहलवान जो की चौधरियों के संबधी हैं, के पास सहायता के लिए जाता है। लालू मदद तो करना चाहता है किन्तु चौधरियो की एकता के बंधन की दुहाई देकर कोई भी मदद नहीं करता है।

'काली कहता हैं, "अगर आप दो मन अन्न दे दे तो हमारे दो चार दिन निकल जायेंगे।''

लालू पहलवान बहुत उदास स्वर में बोला, ''कालिदास मैं तुम्हें दो के बजाये चार मन अनाज दे देता लेकिन मैं वचन का बंधा हुआ हूँ। जब तक बाईकाट जारी हैं मैं तुम्हे पाव भर अनाज भी नहीं दे सकता। बाईकाट खत्म हो जाये तो चाहे दस मन अनाज ले जाना।'''[2]

अंत में काली चर्च के पादरी के पास मदद के लिए जाता है। पादरी इंसानियत, परोपकार और सेवा की बातें करता हैं पर मदद करने से पहले धर्म के आधार पर ही मदद करने की शर्त रखता हैं। ''अनाज की बोरिया तो भिजवा दूँ लेकिन सवाल है रिश्ते का। अगर चमार इसी बिरादरी में शामिल हो गए होते तो हमारा मिशन इन पर फांको की कभी नौबत न आने देता । हम बन्दे को बन्दे का राजक नहीं मानते । लेकिन हमारी भी मजबूरी हैं। मैं किस रिश्ते से तुम्हारे मोहल्ले वालो की मदद करूं?''[3]

चौधरी चाह रहे थे कि गरीब किसान झुक जाये तो उन्हें तुरंत उन्हें माफ़ करके काम पर लगाया जाये। बाईकाट में दोनों ही पक्ष अपने तरह के संकट से गुजर रहे थे। चौधरियों से अपना स्वयं का काम भी नहीं हो पा रहा था वहीं छोटे किसानों के पास कुल खाद्य सामग्री धीरे-धीरे ख़त्म होती जा रही थी। उनकी भूख बर्दाश्त के बाहर होती जा रही थी और चौधरियों का बहुत ही ज्यादा नुकसान हो रहा था। दोनों ही पक्ष समझौता चाह रहे थे। पर चौधरियों की अमीरी और सामाजिक हैसियत का अहंकार बीच में आ रहा था। गरीब दलित किसान बाईकाट तोड़ने चाह ही रहे थे तभी चौधरियो की तरफ से चौधरी हरनामसिंह और बसन्ते मिलकर बात करते हैं। ताये बसन्ते अपने को चौधरियो का दास बताता है। चौधरी भी कल से काम पर आ जाने की बात कहता है और इस तरह यह बाईकाट तीन दिन की मजदूरी की जगह पर डेढ़ दिन की मजदूरी देने की बात पर तय हो जाता है।

'''हर घर अपने अपने चमारों को पैसे दे दे।'' चौधरी हरनामसिंह ने सुझाव दिया। इसका सबने समर्थन कर दिया तो चमारों के पास आ चौधरी हरनामसिंह ने निर्णय सुना दिया। ताए बसन्ते ने बारी-बारी सब की ओर देखा और उनकी अनुमति पा सर झुकता हुआ बोला,

“हम लोग आपके दास हैं।''

'फिर कल सवेरे काम पर आ जाओ।'

''कल क्यूँ? अभी से।'' चौधरी मुंशी ने कहा और जीतू को गाली देता हुआ बोला, ''ले यह चारा हवेली में फेंक आ।''''[4]

इस उपन्यास में मूल सवाल यह हैं कि इस बाईकाट में किसकी जीत हुई और कौन हारा? आमतौर पर देखा गया है कि मजदूरों के दिन सामान्य दिनों में भी बहुत अच्छे

नहीं होते हैं। मजदूर सुबह कमाने जाता है, शाम में खाता है और फिर अगले दिन सुबह कमाने चला जाता है। गरीबों की हड़ताल एक उम्मीद के रुप में होती हैं कि शायद उनके दिन गुणात्मक रूप से बेहतर हो सकेंगे। जब मालिकों का काम ही ठप हो जायेगा तो उन्हें मुनाफा कैसे होगा। पर उन्हें इतनी कम तनख्वाह मिलती हैं कि गरीब मजदूर उस वेतन से से इतना पैसा और खाद्य सामग्री नहीं बचा पाते जिससे वे अपनी हड़ताल लंबे समय तक जारी रख सके। इस तरह यदि हड़ताल के दौरान किसी तरह गुजर-बसर हो सके तो मालिक लोग मजदूरों की शर्तो पर समझौता करने को मजबूर हो जाते हैं। इस बाईकाट में दबंग चौधरियों के आगे छोटे दलित भूमिहीन किसानो का आंख उठाना भी मुश्किल था। इन गरीब किसानों को बाईकाटने अपने हक के लिए खड़ा किया, आंख से आंख मिला कर स्वाभिमान और अपनी मजदूरी हासिल करने के लिए उन्होंने संघर्ष किया।

यह संघर्ष भले ही एक समझौते के रूप में टूटा हो पर यह समझौता भी गरीबो के पक्ष में कहा जा सकता है, बेजुबान की तरह सब कुछ सहने वाले कम से कम अपने हको के बारे में बोलने लगे थे। यह बाईकाट पूरी तरह से भले ही सफल नहीं रहा हो पर गरीब किसानो के लिए सार्थकपूर्ण तो कहा ही जा सकता हैं।

किसान का जमींन मोह: 'जमीन तो अपनी थी'

आज भी देश के आधे किसान भूमिहीन बने हुए हैं। जी-तोड़ मेहनत करके जिस जमीन को किसान अपने खून-पसीने से सींचते हैं उस जमीन के खेत के प्रति किसान का एक भावात्मक जुड़ाव होता है। खेत-जमींन सिर्फ जीवन-यापन का एक साधन भर नहीं है बल्कि जमीन के साथ 'किसानी-मूल्य' जुड़े हुए हैं। आज भी जमींन को लेकर उनमें एक खास किस्म की लालसा और मोह हैं। यह जमीन आर्थिक समृद्धि और सामाजिक प्रतिष्ठा का सवाल बनी हुई हैं। यह एक ऐसी पूंजी हैं जिसका सिर्फ मौद्रिक मूल्य ही नहीं हैं बल्कि एक सामाजिक मूल्य भी हैं। भले ही किसान, किसान से मजदूर बनने पर मिलने वाली दैनिक मजदूरी खेती से होने वाली सालाना आय से ज्यदा हो पर उसमें वो मान और स्वामित्व भाव, सुरक्षा नहीं रहती और 'जमीन तो अपनी थी' उपन्यास का शीर्षक इसी बात की ओर इशारा करता हैं। काली के किसान से मजदूर बनने की प्रक्रिया और उसके अथक मेहनत, लगन और विश्वास के चलते वह अपने चमड़े के

जूते बनाने के धंधे में तरक्की करता है लेकिन जमीन की अहमियत आज भी उसके लिए उतनी ही अधिक रहती हैं।

एक प्रसंग में भूमि सुधार कानून बनने के बाद जब काली को जमींन मिलने की संभावना होती हैं तो उससे उसका बेटा ज्ञान पूछता है कि, ' ''जमीन मिल गयी तो क्या खेती करोगे?'' ''काका, खेती बाद की बाद है। जमीन की मिल्कियत रीढ़ की हड्डी के सामान हैं। मारा-बुझा आदमी भी तीर की तरह सीधा खड़ा हो जाता हैं। चमार-चपाटे से चौधरी बन जाता है।'' '[5]

तमाम क़ानूनी तकनिकीगत खामियों और भ्रष्टाचार के चलते जमीन मिलने का मामला उलझ जाता है और जमींन मिलना मुश्किल लगता है। काली का बेटा अब अफसर बन गया है फिर भी काली जमीन पाने के लिए प्रयास करता है। इस पर काली का बेटा उससे पूछता है कि, ' ''वैसे आप जमीन के पीछे क्यों पड़े है? अगर मिल भी जाये तो क्या आप उस बंजर जमीन पर खेती करने जायेंगे?''

''काका बात खेती की नहीं है, मिल्कियत की है। वैसे खेती भी कर सकता हूँ। अपनी मिटटी से जूझने का अपना ही सुख होता है।'' काली उत्तेजित हो गया। ''मैं तो यही कहूँगा की आप इया मामले को भूल जाएँ, ज्ञान अपने कमरे की ओर बढ़ गया।..काली कुछ समय तक गुमसुम बैठा रहा। उसे पहली बार महसूस हुआ कि उसके लिए ज्ञान की अफसरी बेकार है।'' '[6]

किसान खेती को मात्र जीवन-यापन भर के लिए एक साधन भर नहीं समझता बल्कि वह इससे भावनात्मक रूप से भी जुड़ा रहता है। इसी बारीकी को यह उपन्यास बड़ी मार्मिकता और यथार्थपूर्ण ढंग से दिखाता है। आजादी के बाद से बने भूमि वितरण कानूनों से किसानों के लिए तमाम मुश्किलें पैदा हुई हैं। किसान का यह दुख उसे कोई अन्य रोजगार दिला देने भर से नहीं चला जाता। इस उपन्यास की खासियत पीढियों के व्यावसायिक अंतर, रुचियों एवं गतिशीलता की संभावनाओं को दिखाता है।

स्वधीनता आंदोलन का 'लोकऋण'

किसान के वर्गीय अंतर्विरोध और उनके स्थानीय व्यवस्था से लेकर राष्ट्रीय स्तर पर मुद्दों की अनदेखी का ही परिणाम रहा है कि किसान की समस्याएँ राष्ट्रीय फ़लक पर संगठित होकर एक ठोस प्रतिरोध का स्वर नहीं दे पायी। स्वतन्त्रता आंदोलन का समय

एक ऐसा दौर था जिसका प्रभाव स्थानीय मुद्दों पर भी पड़ा। यह प्रभाव ग्रामीण स्तर पर भी देखने को मिलता हैं। इसी कड़ी में 'लोकऋण' गांधीवादी स्वधीनता आंदोलन की छाप को दिखाता है।

विवेकी राय कृत उपन्यास 'लोकऋण' स्वधीनता आंदोलन के व्यापक प्रभाव में गांवों में होने वाले राजनीतिक चेतना और परिवर्तनों को रेखांकित करता है। राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत ग्रामीण समाज की चेतना को जगाने का इस उपन्यास के केंद्र में है। उसके उद्धार के लिए आवश्यक सामाजिक सरोकार के निर्वहन की आवश्यकता तथा इस मार्ग में आने वाली नई-पुरानी बाधाओं को उपन्यासकार बड़ी शिद्ध्त से दिखाते हैं। उपन्यास में केंद्रीय विषय गाँव को बचाना हैं। गाँव की सादगी, चेतना और स्वतंत्र अस्तित्व, सहकारिता और सहयोग को बचाने सँजोने के लिए संगठित प्रयास किए जाने की चिंता और आवश्यकता पर भरपूर ज़ोर देता है। साथ-ही लोकतन्त्र में जनता का जनता द्वारा शासन के लिए आयोजित किए जाने वाले चुनाव में होने वाली तीव्र प्रतिद्वंदिता, आपसी वैमनस्य से शांत ग्रामीण जीवन में आयी उथल-पुथल को भी चित्रित करता है।

उपन्यास का एक पात्र धर्मराज उर्फ़ धरमू ने 1932 ई॰ के आन्दोलन में भाग लिया था और गांधीवादी विचारधारा का पालन करते हुए गाँव को बचाना-बसाना चाहता था। आज़ादी के बाद होने वाले परिवर्तनों को वह आज़ादी की लड़ाई के समय से तुलना करके सोचता है, ''गाँव मर गया है। उसे बहुत क्लेश होता है। क्या हो गया लोगों को ? गाँव में कच्चे मकान पक्के हो गए। नंगे पाँव वाले जूता पहनने लगे । सन्नाटे को ट्रांजिस्टर के सुरीले गीत झनझनाने लगे। लेकिन लोगों के भीतर जो आदमी था वह क्या हो गया? मनहूसी, तनाव और अकेलेपन की कुत्सित स्वार्थपरता में जीता नया गाँव धरमू को लगता है कहाँ फेंक देगा?''[7]

ग्रामीण मूल्यों को बचाने के लिए गाँधी जयंती पर आयोजित नाटक के उद्घाटन-भाषण पर गिरीश बाबू कहते हैं, ''..भाइयों गाँव आज भी पूर्ण रूप से जीवित है। हाँ, विक्षिप्त और बेचैन है। अविश्वास, वैमनस्य और द्रोह की दुष्प्रवृत्तियाँ भड़क उठीं हैं और अशांति ही अशांति दिखाई पड़तीं हैं। शांति संभव है, ग्राम विकास संभव है, किन्तु यह संभव है तब जब हम इसे आवश्यक समझे।...गाँव हमें पैदा करता है, पढ़ता-लिखता है, आदमी बनाता है और स्वयं टूट जाता है। हम शहरों की सेवा में, अपने शरीर की सेवा में और

अपनी भौतिक उन्नति की मृगमरीचिका में भाग-दौड़ करते हैं ला तब गाँव जैसे हैं वैसे न हों तो कैसे हों? आइये बंधुओं सोचें कि गाँव से प्यार किया जाये।''[8]

हालांकि यह बात सही है कि आजादी के बाद से कई गांवो में पंचायत स्तर के चुनाव में होने वाले बाहुबल और स्थानीय प्रशासन के गठजोड़ से ग्रामीण समुदाय के आपसी संबंधो में तीव्र कटुता और प्रतिद्वंदिता आयी। चुनाव का यह लक्षण और भी कई उपन्यासों में देखने को मिलता हैं जो की स्थानीय शासक वर्ग के वर्गीय चरित्र को दिखाता है। यह बात सच है की उस समय कई ग्रामीण मध्यम वर्ग पर गांधीवादी आंदोलन का प्रभाव था। चरखा कातना, पुस्तकालय, ग्राम-सभा जैसी व्यवस्थाओं की शुरुआत बहुत ज़ोर-शोर से की गयी थी लेकिन समय के साथ लोकतन्त्र का यह सजीला सपना ज्यादा देर तक कायम नहीं रह सका।विकास-आधुनिकता की नयी परिभाषा और चुनावी हथकंडों ने प्रगतिशीलता और आदर्शवाद के मुखौटे को जल्द ही उतार फेंका और ग्रामीण समाज तमाम तरह के आपसी और व्यवस्था से उपजे अंतर्विरोध से जूझने लगा।

आजादी के बाद मिले संवैधानिक प्रावधानों ने जातीय समीकरण में मूलभूत बदलाव करने की कोशिश की लेकिन सदियों से जातीय-वर्ण व्यवस्था के पोषक-संरक्षक परमपरगत समाज व्यावहारिक रूप से इसे स्वीकारने में सहज नहीं रहा है, और न ही अब हैं। विवेकी राय गांधीवादी आंदोलन का ग्रामीण चेतना पर प्रभाव को यथार्थवादी ढंग से दिखाने में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की तरफ बढ़ जाते हैं। हालांकि गांधीवाद अपनी स्वराज की अवधारणा में स्वयं परम्परागत आदर्शवाद की ओर बढ़ जाते हैं।

आज़ादी का मोहभंग 'डूब'

विकास नीतियों के कारण लोग अपनी जमीन, जंगल, संसाधन और गांवों से ही बेदखल नहीं होते; वे अपने जीवन मूल्य, संस्कृति, भाषा, नैतिक मूल्य से भी विस्थापित होते हैं। वीरेंद्र जैन का उपन्यास 'डूब' सामाजिक कुप्रथा, धार्मिक आडम्बर, राजनैतिक चालबाजियां और आर्थिक अभाव को विकास नीतियों के बोझ तले दबे ग्रामीण जीवन की त्रासदी का भाषिक सहजता के साथ सूक्ष्म विश्लेषण करता हैं। आज़ादी के बाद विकास का जमा पहने ये योजनाएँ, सरकारी शासन-प्रशासन, अर्थतंत्र, धार्मिक आडम्बर और राजनीती के चलते किस प्रकार ग्रामीण जीवन को धीरे-धीरे मिटा रही हैं इसका यथार्थ परक वर्णन किया हैं।

उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की सीमा रेखा पर बेतवा नदी पर राजघाट नामक बाँध बनाने की योजना रखी जाती है जिससे उससके आस-पास का क्षेत्र 'डूब' क्षेत्र में आ जाता है। डूब क्षेत्र का प्रभाव के अंतर्गत लड़ई, चंदेरी, मुंगेर, पानीपुरा आदि जैसे गाँव आते हैं जिनको सारी सुविधाएँ देना बंद कर दिया जाता है। मदरसा और गाँव जाने वाले रस्ते भी बंद कर दिए जाते हैं जिससे गाँव अन्य समाज से कट कर रह जाता है।

उपन्यास के प्रमुख पात्र माते जो की गाँव के मुखिया रहे हैं और गाँव के सभी सही-गलत बातों का फैसला पूरी तटस्थता और ईमानदारी से करते आये हैं; अपनी बूढी नज़रों से इन सारे उतार-चढाव को देख रहे हैं। लड़ई नामक गाँव में लगभग हर जाति के लोग रहते हैं। यहाँ छुआछूत, अंधविश्वास और धार्मिक रूढ़ीवाद गाँव को खोखला कर रहे हैं, जहाँ साहूकार-साव लोग गरीब किसान और मजदूर का शोषण करते हैं । गाँव में संप्रादियक हत्या-कांड का इतिहास रहा है जिसकी गवाही गाँव की सीमा रेखा पर स्थित 'मुसलमानी पथरा' दे रहा हैं।

आज़ाद देश में प्रशासन व्यवस्था की उपेक्षा कई घटनाओं के रूप में सामने आती है। भोले-भाले गरीब अनपढ़ गाँव वालों को बहला-फुसला कर मुआवजा दिलाने के बहाने नसबंदी योजना के तहत ले जाया जाता है जिसमें कई नौजवानों की जाने चली जाती हैं। अपनी सफलता के आंकड़ें जुटाने को बेताब सरकार की यह अमानवीय और क्रूर नसबंदी योजना कई नौजवानों की जिंदगी बर्बाद कर देती है।

विकास योजनाओं से मिलने वाले फायदे का सब्जबाग दिखा कर सरकार गाँव वालों को लम्बे समय तक झूठी उम्मीद में रखती है की उनके क्षेत्र में बांध बनने से उन्हें मजदूरी के रूप में नियमित आमदनी मिलेगी। पर यह उम्मीद जल्द ही टूट जाती है जब उनके पुरे क्षेत्र को विस्थापित घोषित कर गाँव के लोगो को उनका घर, खेत, कुंए आदि सब कुछ छीन लिया जाता है। इस खबर को सुनने के बाद किस प्रकार गाँव वाले अपने को ठगा हुआ महसूस करते हैं इसका अंदाजा माते के हवाले से लेखक देता है।

''मस्साव तो कहते थे कि बांध बन जाने से अपने गाँव में खुशहाली आयेगी!

तो क्या उस खुशहाली में हमारी कोई भागीदारी नहीं होगी?

कैसा फरेब है ये? कितना बड़ा झूंठ है ये? कैसी खुशहाली हैं ये? कैसा बाँध है ये? नरबलि लेगा ये ?..ताज्जुब की बात तो ये है कि ये सब तय हुआ कब? हमसे बिना पूछे हमारी तबाही का फैसला ले लिया? ऐसा तो डाकू भी नहीं करते। वे धन जरुर लूटते हैं, पर घर से बेघर नहीं करते । वे तो अमीरों को सताते हैं।... और यह सरकार! यह गरीबों को सताएगी!...ऐसा तो सौ साल पहले हुआ था । हमें घर से बेघर होना पड़ा था...पर तब तो गोरों की सरकार थी, राजा की मिलीभगत थी। राज हड़पने की साजिश थी।... और अब? अब तो अपना राज है। अपनी सरकार है।... इतनी निर्दयी है अपनी सरकार?''[9]

सरकार उनके रहने का कोई इंतजाम भी नहीं करती। वे मुआवजा मिलने की उम्मीद में आड़ लगाये बैठे रहते हैं पर उन्हें एक फूटी कौड़ी भी नहीं मिलती, सरकारी अफसर उन्हें अपमानित और तिरस्कृत करते हैं। इस तरह से गाँव धीरे-धीरे उजड़ता चला जाता हैं ।

"यह कहाँ का न्याय है! यह कैसी उल्टी रीति चलाई हैं सरकार ने! औने-पौने दाम लगाकर, कानून का भय दिखा कर हमसे हमारी जमीन हड़पी, हमें बिना बताये, बिना हमसे सलाह किये... और जो दाम दिए भी उसमें से भी आधे झपट लिए!...सरकार की रकम गयी, भूस्वामी की जमीन। न यह उस तक पहुंची न वह इस तक। इस पूरे तमाशे में दोनों हाथों में अगर लड्डवा हैं किसी के तो वे हैं सरकारी मुलाजिम के की फिर साव के ।''[10] सालों बाद खबर मिलती है कि 'डूब' क्षेत्र बदल दिया गया है, अब यहाँ बाँध नहीं पशुओं के रहने के लिए अभ्यारण्य बनाया जायेगा । मनुष्य को उजाड़ कर सरकार पशुओं को बसाना चाहती हैं।

एक दिन अचानक सरकार द्वारा आधे बनाये गए बांध में दरार पड़ जाने से बांध टूट जाता है और समूचे क्षेत्र में रातों-रात पानी फैलने से कई लोग और जानवर मर जाते हैं। ऊपर से सरकार रेडियो पर झूठी खबर देती हैं की, कई साल पहले ही इस क्षेत्र को मुआवजा देकर खाली करवा लिया गया था वर्ना कई लोगों की जाने चली जाती। रेडियो पर यह खबर सुनते ही अपनी ही सरकार के इस धोखे और असंवेदनशील रवैये पर माते गुस्से में चिल्लाते हैं, "लाबरी हैं जा सरकार, महा लाबरी!, महा झूठी सरासर झूठी!"[11]

विनाशकारी विकास से 'पार' पाने का प्रयास

कथाकार वीरेंद्र जैन का उपन्यास 'पार' बुंदेलखंड अंचल के लोकजीवन पर विकास नीतियों के दुष्प्रभावों और उनका समाधान खोजने की छटपटाहट की कहानी है। यह एक बेहद जीवंत और यथार्थवादी उपन्यास है। पार में बुंदेलखण्ड अंचल के आदिवासी समाज की पृष्ठभूमि पर आधारित है। क्या ग्रामीण समाज और क्या आदिवासी समाज, जो भी समाज का सबसे कमजोर वर्ग तबका है, उसी के अस्तित्व की कीमत पर विकास-पथ की राह बनाई जा रही हैं। गाँव उजड़ रहे हैं और इसके लिए जिम्मेदार हैं अदूरदर्शी, अधकचरी, भ्रष्ट विकास नीतियां। आदिवासियों के विकास के नाम पर उजाड़े जा रहे जंगल और राजघाट पर बन रहे बांध के विस्तार ने आदिवासी समाज को ही बर्बाद करना शरू कर दिया है। आदिवासी समाज अपने समूह को बचाए रखना चाहता हैं लेकिन विकास के चौतरफा नकारात्मक प्रभाव के चलते इस समाज के सामने अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए अपने सामूहिकता मूल्यों से समझौता करना पड़ता है।

कारपोरेट दुनिया किसान की जमीन का अधिग्रहण करके नये फर्म बनाकर उन्हें बाजारोन्मुख करेगी। उन्हें हाशियाकृत करने की यह सोच इस उपन्यास के मूल में हैं। जो समकालीन किसान जीवन की वास्तविकता बन रही है। जहाँ वह क्षेत्र में जमीन के साथ स्वयं डूब रहा हैं। उसका विस्थापन हो रहा है। पुनर्वास का सिर्फ वायदा है जो कभी भी धरातल पर आकार नहीं लेता हैं।

जीरोन खेरा का मुखिया खेरा के नए होने वाले मुखिया से कहता है, "हमें गाँव वालों से किसी चीज़ बसत का सहारा था क्या? तब तो हम अपनी गुजर बसर इसी डांग से कर लेते थे। अब दिनों दिन गाँव वालों के आसरे होते जा रहे हैं। कहे? कहे की अब डांग में वह बरकत नहीं रही। तू भी तो जाता हैं डांग में, बता तू ही कितना भटकने के

बाद जलावन मिलती है? गाद मिलती है। शहद मिलता है। जड़ी बूटियां तो जाने कहाँ समाती जा रही हैं। हम भले ही हारा-भरा रूखा नहीं काटते। वह देवता हैं हमरी निगाह में। हमारा पालनहार। फिर भी हरे भरे रुख बच पाये? हम उनका काटना रोक पाये? रोक पाएंगे कभी? अब ये शहर वाले नदी पर बांध बना रहे हैं। तब प्रलय आएगी। जो अब तक बचा है वह सब भी स्वाहा हो जाएगा। तब हम कहा जाएंगे? कैसे जियेंगे?'' मुखिया अपनी चिंता प्रकट करते हुए कहता है, ''अब ये गाँव वाले ही हमरी डांग रिताने आने लगे हैं। पहले ऊपर वाले ने पानी, हवा, उजियारा सब में कटौती की। अब ये हिस्सा बटाई को आं पहुंचे। हमारा न ऊपर वाले पर वश है, न इन पर। गाँव वाले हमरी डांग, हमरा खेर रिता डालेंगे, तब हम कहाँ जायेंगे?''[12]

मुखिया का यह डर सही साबित होता है। अपने समाज के अस्तित्व को बचाए बनाए रखने के लिए मुखिया चाहता है कि गाँव से संबंध अच्छा बना रहे। खेरे की औरते गांवों में अपना समान बेचने जाती हैं। युवक शहर में मजूरी की खोज में जाता है। यह उपन्यास पात्रों और उनके परिवेश के जीवन के यथार्थ की जटिलताओं को बारीकी से दिखा पाने में सफल रहा है। डर और सब्र की परीक्षा देते-देते थक-हार कर विकास के रास्ते से विस्थापन को मजबूर हैं लड़ईवासी और पठार पार के गांवों की तरफ विस्थापित हो रहे हैं, जहां सात पार के राऊत रहते हैं आदिम अवस्था में।

उपन्यास के अंत में इसी बात और निराशा को दिखाया गया है। ''पंचम नगर के किले के साथ-साथ प्राणपुर और बारी की ओर ज्यों-ज्यों दीवार ऊंची हो रही हैं, लडईवासियों का शेष दुनिया से नाम मात्र का संपर्क भी टूटता जा रहा हैं। तिस पर भय यह भी कि इस दीवार के साथ जमा किया जाने वाला पानी, किसी रात लड़ाई में छोड़ दिया गया तो क्या होगा!''

''इसलिए धीरे-धीरे लड़ई के वाशिंदे जा रहे हैं पठार पार के गाँव की ओर । अंधियाई के सातों पारों के बीच में बसे राऊतों के बीच। वहाँ, जहां सूर्य भी अपने पूरे तेज के साथ नहीं पहुंचता, विकास के पाँव तो स्वप्न की बात!''[13]

वीरेंद्र जैन का यह उपन्यास स्वतंत्रयोत्तर काल से अपनाई जा रही विकास नीतियों के मुखौटे में राज्य और प्रशासन द्वारा धनी पूंजीपति वर्ग के लिए काम करते हैं, इसका प्रत्यक्ष दस्तावेज़ है। प्रतिरोध के संदर्भ में एक बात गौर करने लायक है कि इस समय तक राज्य, प्रशासन और पूंजीपति वर्ग इस कदर हिल-मिल गए हैं कि 'लोकतन्त्र' में

भी इसके समाधान खोजने पर भी नहीं मिलते हैं। गाँव की संस्कृति भी शहरी जीवन से काफी प्रभावित हुई है जिससे गाँव की सामाजिक संरचना और संगठन भी काफी प्रभावित हुआ है। इसी के साथ ही इन नीतिगत कानूनी शोषण का प्रतिरोध करने के तरीकों में भी अंतर आया है। यह एक महत्वपूर्ण बिन्दु है कि जहां पहले औपनिवेशकाल में अँग्रेजी सत्ता द्वारा लाये गए वन नियम, कानून का विरोध ग्रामीण समुदाय और जनजाति समुदाय पूरी मुखरता के साथ करता रहा है तो वही आजादी के बाद अपने ही देश में चुनी हुई सरकार द्वारा किए जाने वाले शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध में उसकी आवाज कुंद पड़ जाती है। इससे यह साफ दिखता है कि स्वधीनता आंदोलन स्थानीय किसान और छोटे किसान की समस्याओं को अपने व्यापक राष्ट्रीय एजेंडे में सुचारु रूप से शामिल कर पाने में सफल नहीं रहे हैं।

स्वधीनता आंदोलन का प्रभाव और 'बेदखल' उपन्यास

बेदखल उपन्यास स्वंत्रतापूर्व अवध के किसान आन्दोलन पर आधारित है । इस उपन्यास में लेखक ने उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ़ जिले के गांव के लोगों का संघर्ष दिखाया है। किसानों को आन्दोलन के लिए संगठित करने एवं राष्ट्रीय आन्दोलन की धारा में शामिल करने को दिखाया गया है।

अवध प्रान्त में क्रूर ताल्लुकेदारी व्यवस्था जिसमें पिसती रियाया की छटपटाहट एक विस्फोट के रूप में फूट पड़ती है। बेदखल उपन्यास में इसी विस्फोट के स्वरुप-निर्माण और इसके दीर्घकालिक प्रभाव को दर्शाया गया है। लेखक ने इस किसान आन्दोलन को बड़ी सूक्ष्मता एवं व्यापकता से उकेरा है। जहाँ तक इस उपन्यास में किसान जीवन के यथार्थवादी चित्रण का प्रश्न है, विवेचना की दृष्टि से अवध का किसान आन्दोलन ऊपर से राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्यधारा का भाग भले ही लगे लेकिन मूलतः राष्ट्रीय आन्दोलन व अवध आन्दोलन की प्रवृत्ति में बुनियादी फर्क है। जिसे लेखक ने चित्रित किया है और दिखाया है कि किस प्रकार मुख्यधारा शासन में मात्र ऊपरी परिवर्तन भर करती है लेकिन उसमें भागीदारी के लिए उन्मुख होने से देशी ताल्लुकेदारी के दुश्चक्रों के प्रति उपेक्षित रहती है। वही दूसरी ओर किसान आन्दोलन भू-व्यवस्था और उससे सम्बधित उन विसंगतियों और विषम सामाजिक संरचना को चुनौती देता है। जिसके केंद्र में ताल्लुकेदार व हाकिम के गठजोड़ मौजूद होते हैं। इस उपन्यास में लेखक ने

राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल वर्ग का स्वतंत्रता के लिए संघर्ष और स्थानीय समस्याओं के प्रति अनदेखी का अंतर्विरोध को भी बाखूबी दिखाया गया है।

1920 के दशक में हुए स्वतंत्रता आन्दोलन के बरक्स इस दौरान अवध प्रान्त में हुए किसान आन्दोलन का स्वरुप तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में स्थानीय, क्षेत्रीय मुद्दों का समावेशन कई लिहाज से महत्वपूर्ण है। इस विषय दौरान लिखे गए उपन्यासों में स्थानीय-राष्ट्रीय घटनाओं की प्रतिध्वनि दिखाई देती है। कमलाकांत त्रिपाठी का उपन्यास बेदखल किसान जीवन के यथार्थ को समझाने की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व स्वाधीनता आन्दोलन ने पूरे देश भर में एक राष्ट्रीय स्तर पर चेतना को जगाने व फ़ैलाने का काम किया। उस समय अवध में किसानो पर अत्याचर बढ़ गए थे। अंग्रेजों की नई नीति लागू की थी। जिसके तहत उन्होंने खेती से लगान वसूलने के लिए तालुका में बाँट दिया था। एक तालुका से एक तय मात्रा में लगान लिया जाता था। ताल्लुकेदार अंग्रेजों के लिए तो लगान वसूलता ही था उसमें अपने लिए भी कुछ बचाता था। ताल्लुकेदार स्वयं किसानो से लगान नहीं वसूलते थे। उसे जिलेदार रुक्का (कारिन्दा) से वसूल करवाते थे। इस प्रक्रिया में कारिंदे द्वारा भी अपने लिए कुछ रकम मार ले जाने की अच्छी खासी गुंजाईश रहती थी। लगान वसूली की इस व्यवस्था में कोई नियमितता नहीं थी। लगान की रकम मनमाने तरीके से बढती रहती थी। तालुक्केदारों को अंग्रेजी व्यवस्था को एक मानक लगान देना होता था। इस पूरी प्रक्रिया में किसानों पर लगान का बोझ बढ़ता ही जाता था। फसल कैसी भी हो चाहे इस स्थिति में या अन्य खर्चे आ जाने के चलते किसानों को साहूकारों से ऊँची ब्याज-दर पर कर्ज लेना पड़ता था और चूँकि उन्हें रसीद नहीं दी जाती थी इसलिए साहूकार हिसाब में हमेशा गड़बड़ी करते थे और कर्ज चुकाने के बाद भी कर्ज की राशि ज्यों की त्यों बरकार रहती थी। इस तरह यह कर्ज न चुका पाने की स्थिति में किसानो पर अपनी जमींन से बेदखली की तलवार हमेशा लटकती रहती थी। यह सामूहिक दर्द कुछ इस तरह से बयां होता है, ‘‘सबका वही दुःख, बेदखली नजराना। तालुक्केदार लगान बढ़ा नहीं सकते, इसीलिए बेदखली को धंधा बना लिए हैं। इसके लिए सबसे आसान तरीका हैं लगान की रसीद न देना । किसान उज्र करे तो मारना-पीटना मुर्गा बनाना, पिंजरे में बंद करके धूप में डाल देना, गाय-बैल ले जाना। असहाय किसान करे भी तो करे क्या...।’’[14] किसानों पर लगान के साथ बेगारी, नजराना और तमाम तरह के अन्य कर लगाये जाते थे और खेती से उत्पादित वस्तुएं ले ली जाती थी। हाकिम से लेकर तालुक्केदार, जिलेदार

के गाँव में आने पर किसानो को उनकी खुशामद और आवभगत अलग से करनी पड़ती थी जिससे किसानो पर आर्थिक बोझ और बढ़ जाता था। इससे किसानो पर होने वाले अत्याचार और जुल्म की सम्भावना बढ़ जाती थी। इससे किसान और भी त्रस्त रहते थे।

किसान अपने ऊपर आरोपित होने वाले मनमाने नजराने, टिकस, भेंट-उपहार के खिलाफ बोलने लगे थे। उन पर होने वाले इन शोषण के विरूद्ध वे अब संगठित होकर कार्यवाही करने की योजना बना रहे थे। इस शोषण के विरुद्ध आम जनमानस के मन में एक चेतना थी, जिसे झींगुरी सिंह, सहदेव और बाबा रामचंद्र ने आपसी सहयोग से किसान सभा के रूप में संगठित किया। अलग सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि से आने वाले किसानों को एक वर्ग के रूप में संगठित करना आसान काम नहीं था। किसानों को एक आंदोलन के लिए संगठित करने के रास्ते में तमाम मुश्किले थीं। उनके आपसी जातिगत, धार्मिक पूर्वाग्रह, आपसी अंतर्विरोध तथा पुरानी रंजिशे उनके एक प्रभावी संगठन बनने में अवरोधक थे। ''सबकी ओर से कार्यकर्त्ता का चुनाव करना आसान नहीं था। छोटी-छोटी बातों को लेकर आपस में मनमुटाव था। कुछ पुरानी दुश्मनी भी थी। जातिगत पूर्वाग्रह थे ही।''[15]

यह उपन्यास दिखाता है कि किस तरह उस दौर में होने वाले स्वधीनता आंदोलन का प्रभाव गांवों और हर वर्ग के किसानों पर पड़ा लेकिन जाहिर है कि हर वर्ग के किसानों के हित अलग-अलग थे और इसीलिए कई बार संगठित आंदोलन भी इन्ही अलग-अलग हित के अंतर्विरोध के चलते बिखर सा जाता हैं। 'बेदखल' भी किसान आंदोलन के इसी समय की एक झलक देता है। शुरुआत में बाबा आदर्शवादी तरीके से सोचते हैं कि जुल्म करने वाले ताल्लुकेदार को भी एक मौका दिया जाना चाहिए। ''...किसी का विरोध करने से पहले उसे अपने को सुधारने का मौका तो देना चाहिए। आखिर तालुक्केदार भी मनुष्य हैं। उसी ईश्वर के अंश हैं तो पहले उन्हीं से बात करके देखते हैं।''[16]

धीरे-धीरे बाबा रामचंद्र तालुक्केदारों के जुल्म में कोई परिवर्त्तन न देखकर एक संगठन की जरूरत महसूस करते है। किसानों की हालत और चेतना के अनुसार एक पंचायत का गठन किया जाता है जो किसानों के व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रतिबद्ध है। किसानों के सामाजिक, धार्मिक चेतना के अनुसार उन्हे कुछ नैतिक प्रतिज्ञाएं करवायी जाती हैं।

'बेदखल' उपन्यास का महत्व निम्न दृष्टियों से ज्यादा मायने रखता है। इस आंदोलन में किसानों की स्थानीय समस्याओं के साथ-साथ देश की राष्ट्रीय समस्याये समानांतर रूप से चल रही थीं जिनमें कुछ महत्वपूर्ण अंतर्विरोध भी थे। स्वाधीनता आंदोलन का एक बड़ा अंतर्विरोध यह भी था कि अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध देशव्यापी स्वतन्त्रता आंदोलन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेने वाला जमींदार व तालुककेदार वर्ग अपने क्षेत्र के किसानों के प्रति अत्यधिक क्रूर शोषणकारी व असंवेदनशील था। जमींदार-तालुकेदार का यह वर्ग एक ओर तो कॉग्रेस व अन्य राष्ट्रीय स्तर के नेताओं आदि के साथ स्वधीनता प्राप्ति के लिए आंदोलन में भाग ले रहा था। वहीं दूसरी ओर अपनी स्थानीय रिआया का दमन,शोषण कर रहा था। 'बेदखल' उपन्यास में इस अंतर्विरोध को बखूबी उकेरा गया है। किसान नेता झींगुरी सिंह कहता है, ''मुझे तो नहीं लगता देशी तालुकेदारों के खिलाफ कॉग्रेस उस तरह खुलकर सामने आएगी।''

इसी प्रकार का द्वंद काँग्रेस के राष्ट्रीय नेताओं में दिखाया गया है। बाबा रामचंद्रा के आग्रह पर किसान सभा की मीटिंग काँग्रेस नेता जवाहरलाल नेहरू किसान सभा की स्थिति का जाएजा लेते हैं। ''वे गिड़गिड़ा रहे थे, मिन्नतें कर रहे थे रो रहे थे। नेता लोग भौचक्क। उन्होंने इस स्थिति की कल्पना भी नहीं की थी। वे तो भाषण झाड़ने आए थे। उनकी निगाहे नवम्बर में होने वाले प्रांतीय काउंसिल चुनाव पर थी। वे मन ही मन बाबा रामचंद्र को कोस रहे थे। उन्हे लग रहा था बाबा ने किसानो को भड़का तो दिया हैं लेकिन आगे कुछ करते न बना तो उन्हे यहाँ लाकर हमारे गले मढ़ रहे हैं। उनका सोचा उल्टा होता लग रहा था। वे तो समझे थे कि बिना किसी मशक्कत के, लगे हाथ देहात में काँग्रेस की जमीन तैयार करने का मौका मिल जाएगा। पर यहाँ तो लेने के देने पड़ रहे थे। वे ज़्यादातर वकील थे और तालुककेदार ही उनके खास मुवक्किल थे। देशी जमींदारों-तालुक के दारों को नाराज करने का फिलहाल कॉग्रेस का कोई इराद नहीं था।''[17]

शोषण और दमन की लंबी प्रक्रिया को किसानों ने आत्मसात कर लिया था। वे अपने ऊपर होने वाले अत्याचार और जुल्म को नियति मान कर चुपचाप सहते आ रहे थे। किन्तु किसान आंदोलन ने किसानो में यह आत्मविश्वास जगाया कि वे अपने ऊपर होने वाले अत्याचार के विरुद्ध लड़ सकते हैं, चेतनाशील किसान अपने अधिकारों को प्राप्त भी कर सकते है। लेखक ने उपन्यास के एक पात्र सुचित के माध्यम से किसान जीवन में होने वाले चेतनाशील परिवर्तन को बाखूबी दिखाया हैं।

नक्सलबाड़ी आन्दोलन का क्रूर दमन के गवाह 'खुले गगन के लाल सितारे'

गरीब, दलित, छोटे किसानों का संस्थागत शोषण का अतीत काफी पुराना है। लेकिन इस शोषण-उत्पीडन के प्रतिरोध और संघर्ष का इतिहास नया है। उपनिवेशकाल के दौरान ब्रिटिश शासकों द्वारा देश के अलग अलग प्रान्तों में गरीब निम्न जाति-वर्ग के किसानों के दोहरे शोषण (ब्रिटिश उपनिवेशी साम्राज्यवाद और देशी सामंतवाद) का अंतर्विरोध स्वाधीनता संघर्ष में ही स्पष्ट हो चला था। आज़ादी की लड़ाई लड़ने वाले देशी जमींदार वर्ग ही देश के गरीब किसान मजदूर का शोषण-उत्पीड़न करने वाले वर्ग थे। ऐसे दोहरे उत्पीडन और किसानों के देशी शासक वर्ग से अंतर्विरोध की झांकी 'बेदखल' उपन्यास में दिखाई गयी है। ब्रिटिश शासन से 'आज़ादी' के बाद 'अपने' लोकतान्त्रिक देश में वैधानिक उपचारों के बावजूद भी क़ानून जामा पहने सामंतवादी उत्पीड़न जारी रहता है। जिसके चलते अपने वाजिब हक और न्याय की लड़ाई लड़ने वाले मजदूर-गरीब-किसान वर्ग का इस 'आज़ादी' से 'मोह-भंग' हो जाता है। इस व्यथा की व्यापकता का बड़ी सूक्ष्मता के साथ वर्णन वीरेंदर जैन ने 'पार' और 'डूब' उपन्यास में किया है।

लेकिन इस आज़ादी से हुए मोहभंग से उपजी निराशा और विकल्प की खोज ने वामपंथी विरधारा के तहत उस दौर में देश के अलग-अलग भागों में बहुत बड़े जन-आन्दोलन स्थापित किये । शासन-प्रशासन से टक्कर लेते हुए अपने हक और न्याय की मांग को उठाया। इन आंदोलनों का बहुत ही बड़े स्तर पर क्रूर अमानवीय तरीके से दमन कर दिया गया लेकिन न्याय और हक की लड़ाई आज भी जिन्दा है। बंगाल प्रान्त में नक्सलबाड़ी आन्दोलन की स्पिरिट और उसका वहाँ के जन मानस चेतना पर प्रभाव उसके दमन के बाद भी बल्कि दमन के बाद से और भी ज्यादा बढ़ा हैं ।

नक्सलबाड़ी आन्दोलन जिसमें तमाम गरीब, किसान, मजदूर वर्ग और इनकी लड़ाई में विश्वास रखने वाले निम्न-माध्यम वर्ग के लोगों ने, छात्रों ने भाग लिया था। ऐसी ही वास्तविक घटना पर आधारित संघर्ष की कहानी हैं 'खुले गगन के लाल सितारे' जिसकी लेखिका हैं मधु कांकरिया।

'खुले गगन के लाल सितारे' उपन्यास में मणि नामक मुख्य पात्र के माध्यम से उपन्यास को विकसित किया गया है। सन 1967-72 के दौरान बंगाल के 'नक्सलबाड़ी' में गरीब-किसानों का सशस्त्र संघर्ष दिखाया गया हैं उपन्यास में सामानांतर रूप से मणि के निजी जीवन में मध्यमवर्गीय परिवार के मूल्यों के द्वंद की कहानी भी चलती हैं।

मारवाड़ी परिवार से आने वाली मणि के माध्यम से मारवाड़ी समाज की स्त्री के प्रति रुढ़िवादी, परम्परावादी दृष्टि को और साथ ही पढ़ी-लिखी स्त्री के प्रतिरोध, संघर्ष को भी दिखाया गया है। इस उपन्यास में मणि के हवाले से नक्सलबाड़ी आन्दोलन की समीक्षा प्रतुत की गयी है। वह नक्सलबाड़ी आन्दोलन के पुराने नेता गोविन्द दादा से आन्दोलन के इतिहास जानना चाहती हैं। ''आन्दोलन क्यों शुरू हुआ था ?'' इस पर गोविन्द डा कहते हैं, ''गाँव के अर्धनग्न किसान जिनके अधखाये पेट और पीठ एक हो चुके थे, कमर जुख कर धनुषाकार हो चुकी थी , बच्चे जिन्हीने कभी दूध और सब्जी नहीं चखी थी, हमें जैसे बुला रहे थे... कुछ करो ...कुछ करो...।''[18]

नक्सलबाड़ी आन्दोलन में गरीब किसान सामाजिक, आर्थिक शोषण के खिलाफ संघर्ष कर रहे थे । वे साधन-संसाधन के एक सामान बंटवारे और बराबरी का समाज बनाने के लिए आन्दोलन कर रहे थे। \उपन्यास में एक सरकारी अधिकारी इन आक्रोशित युवाओं द्वारा उठाये गए ऐसे सवाल जिनका उत्तर नहीं दिया जा सकता हैं, पर कुछ रहस्यमय ढंग से मुस्कुरा कर कहता है, ''ये नक्सलबाड़ी छोकरे ऐसे ऐसे सवाल उठा रहे हैं कि जिनका जवाब सत्ता-प्रशासन किसी के भी पास नहीं है। और एक पुरानी कहावत हैं की जिन तालों की चाभियाँ नहीं होती, उन्हें तोड़ दिया जाता हैं।''[19]

नक्सलबाड़ी आन्दोलन प्राकृतिक संसाधन और उत्पादन के संसाधन पर हर व्यक्ति का बराबर का हक समझता था। उसी को किसान मानता था जो भूमि पर अपनी मेहनत से खेती करता हो। यही से नारा दिया गया था 'जमींन जोतने वालों को'। इन सवालों के जवाब दमन और शोषणकरी सरकारों के पास नहीं थे। जब सवालों के जवाब नहीं होते हैं तब सवालों को ही ख़त्म कर दिया जाता है। सवालों को तभी खत्म किया जा सकता है जब सवाल पूछने वालों को ख़त्म कर दो। और सरकार ने ऐसा नही किया।

सैकड़ों लोगों को गोली मार दी गयी उन्होंने अन्याय के खिलाफ बोलना शुरू किया था। जिसकी सजा मौत से कम नहीं थी। ''बिना चार्जशीट, बिना अरेस्ट वारंट के घर में घुस जाना, बाल पकड़ कर बाहर निकालना, बिना किसी जवाबदेही के दूसरे दिन अखबार में खबर छपवा देना ...नक्सलियों द्वारा बम फोड़ और परिणामस्वरूप सेल्फ-डिफेन्स में उसकी मृत्यु... जैसी घटनायेँ तो शहर का नया रिवाज हो चुकी थी। हत्याओं की इस धीमी गति को एक शॉट में टॉप गियर में पहुंचा दिया गया 12-13 अगस्त को जब सिर्फ दो दिनों शुक्रवार और शनिवार के भीतर 150 नक्सलवादी युवाओं को मार डाला

गया और उनकी लिस्ट कुटीघाट (बरानगर पुलिस स्टेशन और दूसरे भागों को जोड़ता मेंनरोड) रोड पर टांग दी गयी थी। हर दिन उस लिस्ट में नए नाम दर्ग कर दिए जाते थे।"[20] यह कुछ सरकारी विवरण हैं, पर हकीकत तो इससे भी भयावह रही थी। लाखो को गिरफ्तार किया गया था जिन्हें जितना संभव हो सकी उतनी अमानवीय, क्रूरतापूर्ण यातनाये दी गयी। इनका जिक्र गोविन्द दामणि के सवाल के जवाब में दे रहे हैं, "मैडम जी, यातना देने का उसका अलग ही तरह का था। एक नवीनतम वैज्ञानिक पद्विती ही खोज निकाली थी उसने टार्चर करने की। उसकी पाशविक क्रूरता उसके देखने के ढंग से ही शुरू हो जाती थी... अगले ही कुछ पल में मुझे इन्त्रोगेशन रम में ले जाया गया...इंट्रोगेशन रम कहना पड़ रहा हैं-एक एंटीसेप्टिक नाम वरना वह तो एक सीधा-सदा यातना गृह था...जिससे होकर जाने कितने शव बाहर निकले थे। यातना की शुरुआत हमेंशा ही गाली एवं झापड़ घूंसों से शुरू होती थी... और फिर उसे योजनाबद्ध तरीके से डिग्रियों तक पहुँचाया जाता था।"

"डिग्रियों तक?"

"जी मैडम जो जितना बड़ा नेता होता उसे दी जाने वाली यातना भी उतनी ही ऊँची...थर्ड डिग्री टार्चर, सेवेंथ डिग्री टार्चर, डंडा-बोरी, सिकली, चरखी, हैदराबादी गोली...ये कुछ यातनाओं के नाम थे जो उन दिनों नक्सलवादियों के दिमाग ठिकाने लगाने के लिए इज़ाद किये गए थे। तूफानी वेग से बढ़ता वो आन्दोलन क्या यूँ ही कुचल डाला गया था । हर इन्स्पेक्टर, इन्वेस्टिगेशन आफिसर, डिप्टी कमिश्नर, कमिश्नर के पीछे बड़ी कुर्सी की शह थी। नहीं तो क्या संभव था इस प्रकार कानून को धता बता देना?"[21] किस कानून के आधार पर सरकारी व्यवस्था के तहत मनुष्य को यातना दे देकर मार दिया जाता है? यह कौन सी दुनिया है जहाँ मनुष्य की चीत्कारे दूसरे मनुष्य को आनंद दे रही हो? इनता विभीत्स कार्य करने की प्रेरणा कहा से मिलती हैं पुलिस अधिकारियों को? यह सब गंभीर और संवेदनशील सोचनीय प्रश्न है।

किस प्रकार पूरे आन्दोलन को निर्ममतापूर्वक कुचल दिया गया और अन्यायपूर्ण शासन व्यवस्था विजयी हो गयी। तमाम धन-दौलत, फ़ौज-पुलिस और असीमित सत्ता की ताकत की बदौलत निरापराध गरीब किसानों को हरा दिया गया। रोटी के लिए उठी एक लड़ाई को रुतबे की लड़ाई के लिए कुचल दिया गया था। परवान चढ़ते एक जनवादी आन्दोलन की रीढ़ की हड्डी महज चार-पांच सालों में तोड़ दी गयी थी जिसका चरम था वर्ष

1971-72।"[22] यह किसान आन्दोलन ख़त्म नहीं हुआ है, दबा दिया गया था। आन्दोलन को पूरी सफलता भले ही न मिली हो पर इसने गरीब किसान को शोषण, उत्पीड़न से रहत दिलाया और इसीलिए काफी सार्थक आन्दोलन कहा जा सकता है।

आगे यह सफल भी होगा। ऐसा लेखिका का मानना हैं। लेकिन बीसवीं सदी के इन आखिरी वर्षों में बीते वक्त को जिन्दा करते कालेज स्ट्रीट, बी. के. पाल हेदुआ आदि की चौड़ी दीवारों पर रंगे हुए नारे, 'नेपाल का जन आन्दोलन लाल सलाम', 'नक्सलबाड़ी, लाल सलाम' लेखिका को यह विशवास दिलाता है कि वह आन्दोलन सिर्फ पराजित हुआ था, जड़हीन नही। आज भी नवल बाबू के शब्द अक्षरशः उसके कानों में गूंजते हैं, "इस देश की जनता में बड़ी ताकत हैं मणि। भगत सिंह और आजाद को किसने जिन्दा रखा हैं? इस देश की जनता ने।.. इस देश की जनता एक दिन अपने शोषण अन्याय के खिलाफ संघर्ष करेगी। और बराबरी का समाज बनाने का स्वप्न भी पूरा करेगी।"[23]

ब्रिटिश उपनिवेशवाद और देशी सामंतवाद के प्रतिरोध में 'यमुना के बागी बेटे'

विद्यासागर नौटियाल का यह उपन्यास 1930 के आस-पास टिहरी गढ़वाल रियासत में जनविद्रोह की आग से पैदा सामंतों की स्क्षूम व्यापक क्रूरता, यंत्रणा की घटनाओ और उनके प्रतिरोध की कहानी है। आम-जन के प्रतिरोध की यह लड़ाई मात्र रियासत के खिलाफ लड़ी जाने वाली जनता या मुल्क की लड़ाई भर नहीं है, यह एक ऐसी लड़ाई हैं जिसकी जड़े एक तरफ पौराणिक काल की शांतनु की कथा और ऋषि-पत्नी रेणुका के मानसिक द्वंद तक जाती है तो वहीं दूसरी ओर समूचे वर्तमान को अपनी चपेट में लेती दिखाई देती है।शासन के प्रतीक नरेंद्रशाह और पदमदत्त के चेहरे के रूप में आज के पूंजीपति अमेरिका परस्त नवधनिकों की तमाम चालाकियाँ धूर्तताएं दिखाई देती हैं।

वर्ष 1927-28 में टिहरी राज्य में लागू की गयी वन व्यवस्था के तहत वनों की सीमा निर्धारित करते समय ग्रामीण हितों को जानबूझकर कर ताक पर रखा गया जिससे वनों के निकट और वनों पर प्रमुख रूप से आश्रित जनता में भारी असंतोष फैल गया। परगना रंवाई वनों की जो सीमा निर्धारित की गयी उसमे ग्रामीणो के आने-जाने के मार्ग, खलिहान तथा पशुओं को बांधने के स्थान (छानी) भी वन सीमा के तहत आ गयी। इससे ग्रामीणों के चरन, घास-लकड़ी काटने के अधिकार आदि समाप्त हो गए। पशुचारण और कृषि के रोजगार पर निर्भर जनता के लिए उनके पशुओं के लिए चारगाह का बंद होना, खेती के उपकरण हल आदि जो विशेष जाति के यहाँ से मंगाए जाते थे;

दुर्लभ हो गए, छप्परों को छाने के लिए घास-मलूकी पत्तियाँ व मालू के रेशे तक की कमी हो गयी। इस तरह वनों पर निर्भर ग्रामीणों पर कठोर प्रतिबंध लगा देने से स्वभाव से ही उग्र एवं स्वतंत्रता प्रिय रंवाल्ट इस ज्यादती के प्रति आक्रोश से भर गए।

चाकरोता में रंवाई को जाने वाले रास्ते पर राजतर नाम के स्थान पर लाला रामप्रसाद की दुकान थी जहां अखबार आते थे जिनमें देश दुनिया भर में होने वाले आंदोलनों की घटनाएँ छपती थी। रंवाई के निवासी भी इन घटनाओं को बड़े ध्यान से सुनते थे। अपने अधिकारों की रक्षा के लिए रंवाल्टो ने नांगणगांव के हीरासिंह, कसरु के दायराम और खुमण्डी डोगर के बैजराम के नेतृत्व में आंदोलन शुरू कर दिया। रंवाल्टो ने अपनी आज़ाद पंचायत की स्थापना कर एक तरह से समानान्तर सरकार की स्थापना कर ली थी। हीरसिंह को 'पाँच सरकार' और बैजराम को 'तीन सरकार' कहा जाने लगा। रंवाल्टो ने वन की सीमाओं को मानने से इंकार कर दिया। एक तरफ समझौते के लिए राजदरबार की तरफ से भूतपूर्व वजीर हरीकृष्ण रतूड़ी को भेजा जाता हैं जो की ग्रामीणो की मांगों को जायज़ मानते हुये उन्हें पूरा करने का आश्वासन देकर चले जाते हैं। वहीं दूसरी तरफ राजगढ़ी के न्यायालय में एसडीएम सुरेंद्रदत्त आंदोलन के प्रमुख नेताओं पर राज्य के वनों को नुकसान पहूँचाने के अपराध में लगे अभियोग पर सजा सुनाते हुये प्रमुख नेताओं को कारावास का दंड देते हैं।

अभियुक्तों को राजगढ़ी से टिहरी की ओर लेकर जा रहे पटवारी, पुलिस, एस.डी.एम. एवं डी.एफ.ओ. पर दंडियल गाँव के पास पहुँचने पर ही आंदोलनकारी अपने साथियों को छुड़ाने के लिए पहुँच जाते हैं। पुलिस की ओर से गोलाबारी होती हैं। कुछ लोग मारे जाते हैं बहुत से लोग घायल हो जाते हैं, पुलिस भाग जाती हैं और एसडीएम सुरेंद्रदत्त को गोली लगने के चलते आंदोलनकारी अपने साथ ले जाते हैं उनकी मरहम पट्टी भी करते हैं। रियासत के राजा यूरोप यात्रा पर गए हुये थे और दीवान चक्रधर जुयाल ये खबर पाकर आंदोलनकारियों को कड़ा सबक सिखाने का फैसला करता है। युक्त प्रदेश के गवर्नर को आंदोलन का दमन करने के लिए अगर जरूरत पड़ी तो शस्त्रों का इस्तेमाल करने की अनुमति देता हैं। टिहरी राज्य का सेनाध्यक्ष कर्नल सुंदर सिंह जब प्रजा पर गोली चलाने के लिए प्रस्तुत नहीं होता तो दीवान उसे हटवा कर नत्थूसिंह सजवाड़ को राज्य का सेनाध्यक्ष बना ढंढकियों (आंदोलनकारियों) का दमन करने के लिए भेजता है। सेना द्वारा घटनास्थल को तीन तरफ से घेर लिया जाता है और दीवान के सीटी बजने पर सैनिक गोलियों की बौछार शुरू कर देते हैं । जान बचाने के लिए कुछ लोग जमीन

पर लेट जाते हैं, कुछ यमुना में छलांग लगा देते हैं। तमाम लोग घायल होते हैं और कई लोग मारे जाते हैं। यह यमुना के बागी बेटों का ऐसा दमन था जिसकी खबर कभी भी प्रकाशित नहीं हुई।

विद्यासागर नौटियाल का यह उपन्यास कई दृष्टियों में अहम है। लेखन के स्तर पर भाषा, शैली आदि का प्रयोग स्थानीय क्षेत्र के अनुसार किया गया है। मूल्यांकन की दृष्टि से इस उपन्यास में वर्णित घटना का ऐतिहासिक रूप से महत्व है। एक तो इसलिए भी क्योंकी रंवाल्टो द्वारा अपने हक़ की लड़ाई का वर्णन इतिहास में भी दर्ज नहीं किया गया है। और इसके दमन की घटना आज भी गढवाल क्षेत्र की स्थानीय जनश्रुतियों में मिल जाती है।

उपन्यास की खास बात यह हैं कि राजा शांतनु की मिथकीय कहानी सुनने के साथ-साथ इसमें जो 1930 के आस-पास घटी रंवाल्टो के दमन की कहानी है वो बड़ी ही दिलचस्प है। जिसमें राज्य अपने सामंती रूप में अपने महकमों के मध्यम से एक तरफ अंग्रेज़ हुकूमत को खुश रखना चाहता है और उसके लिए अपनी जनता के हितों को ताक पर रख देता है। लेकिन व्यवस्था में सुंदरदत्त जैसे भी चरित्र हैं जो स्थानीय जनता के हित और उनके तौर-तरीके किस प्रकार प्रकृति से जुड़े हुये है, उसे संरक्षित करने वाले हैं, इसे समझते है। सुंदरदत्त भले ही रियासत का आदमी है लेकिन उसमें चेतना है। वही इस उपन्यास में सेना के चरित्र व सीमाओ को भी दिखाया है। कर्नल सुंदरसिंह गढवाल क्षेत्र के इतिहास में रुचि रखने वाला और वहाँ के स्थानीय संस्कृति आमजन को समझने वाला व्यक्ति है लेकिन सेना का कर्नल होने के नाते उसकी अपनी सीमाएं हैं। हालांकि दीवान से हुई उसकी मुलाक़ात में वो उन्हे जनता के लिए कम से कम सेना रखने का सुझाव देता हैं और कहता हैं सेना की जरूरत तो सीमा पर होती हैं। रियासत के महकमें में काम करने वाले लोगों में भी अपने क्षेत्र को लेकर चेतना हैं लेकिन कर्तव्य बोध के चलते उनका द्वंद बना रहता हैं।

'यमुना के बागी बेटे' उपन्यास में टिहरी गढ़वाल रियासत और उसकी प्रजा के संबंधों को दिखाया गया हैं । इन संबंधों का लेखक ने यथार्थवादी दृष्टि से विश्लेषण किया हैं । टिहरी गढ़वाल रियासत के किसानों कि जिस तरह कि चेतना विकसित हो रही थी उससे लग रहा था कि किसान के प्रतिरोध का स्वर त्रासदी में जायेगा। लेखक ने कोई

भी आदर्शवाद स्थापित न करते हुए किसानों की चेतना, प्रतिरोध के तरीको के आधार पर उनका जो भविष्य बनता, उसी को दिखाने की कोशिश की है ।

'यमुना के बागी बेटे' में किसानों में वर्गीय चेतना का आभाव देखा जा सकता हैं। वे शासन, सत्ता और प्रजा के संबंधों के अंतर्विरोधों को नहीं समझते हैं । इसके चलते वह जब ज्यादा तकलीफ में होते हैं तो प्रशासन को अपनी समस्याएं बताना जरुरी समझते हैं किसान अपनी समस्याएँ लेकर चुप-चाप नजर झुका कर दरबार का हर आदेश मानते रहते हैं और उनसे ईमानदार जवाबदेही की मासूम आशा करते हैं। दरबार को उनकी समस्याओं से कोई लेना देना नहीं था । किसानों ने पहली बार स्वयं दरबार का उनके प्रति उदासीन रवैया देखा था।

जब लाट साहब को टिहरी गढ़वाल के राजा ने अपनी नई राजधानी में आने का न्योता दिया था तब राजा ने अपनी रियासत की जनता को उनके स्वागत और दर्शन के लिए भीड़ जुटाने के लिए दूर-दूर से बुलाया था। पर उनके रुकने खाने-पीने की कोई व्यवस्था नहीं थी। और तो और उन्हें तूफानी बर्फीली रात में खुले में रहने के लिए छोड़ दिया गया। इससे दो किसानों की रात में ही मौत हो जाती है। राजदरबारी उन किसानों की मदद करने के स्थान पर लाट साहब के दौरे को सफल बनाने में लगे हुए थे। दरबारी चाहते थे कि लाट साहब की इन किसानों पर नजर न पड़े अन्यथा रियासत की बदनामी हो जाएगी। इस कारण जब तक लाट साहब इधर से गुजर नहीं जाते तब तक किसानों और उन दो लाशों को बिना कोई भी तत्काल जरुरत मुहैंया कराये वही रहने को कहते हैं।

"आप सब लोग यही रुके रहेंगे । फिर जब दरबार के लोग यह हुक्म सुनाने आ रहे थे, तब किसानों को लगा रहा था कि राजा ने देर से ही सही पर हमारी सुध तो ली है। पर राजदरबारियों ने मदद करने की जगह उन्हें चुपचाप रहने और मुख्य रास्ते पर न जाने का हुक्म दिया था। इससे किसानों के स्वाभिमान को ठेस लगने का एहसास हुआ। 'जाड़े की उस ठिठुरती रात में वे एकदम खुले असमान के नीचे बैठे थे। वे बेहद थके हुए थे और अब वे जमीन पर बैठ कर अपनी कमर सीधी करना चाहते थे। अचानक ज़ोर का पानी बरसने लगा। उस नगरी में निजी भवन तो कहीं थे ही नहीं ।...दिन के छिपने से पहले वे लोग मोटर सड़क के एक समतल हिस्से पर अपनी पंखिया बिछाकर वहां डेरा डालने की कोशिश करने लगे थे। दो चपरासी उनके पास पहुंचे और उन्हें झिड़कने लगे।

दयालसिंह - 'तुम आदमी हो कि भेड़ हो?सड़क पर डेरा-डाल कर सरकारी करों का रास्ता रोकने लगे हो।' चपरासियों कि झिडकियां सुनकर वे अपनी जगहों से उठ खड़े हुए और सड़क छोड़ कर पास कि जगहों पर जाने लगे ।

उन्हें दयालसिंह का कठोर स्वर सुनाई दिया- 'यहाँ पर नहीं रवाल्टो ! यहाँ से हटो और इतनी दूर चले जाओ कि मोटर सड़क पर चलते लाट साहब कि तुम पर नजर न पड़ सके। तुम्हें इस तरह सोते देख तो हमारे किये कराये पर पानी फिर जायेगा।'

'हम भी दरबार कि प्रजा हैं, महाराज'

'राजभक्त प्रजा को दरबार का हुक्म मानना चाहिये।'

उस शासन को इस बात की कतई चिंता नहीं थी कि उसके द्वारा सैकड़ों मील दूर से बुलाये गए, थकान से चकनाचूर कुछ ग्रामीण चरवाहों को उस अलका नगरी में कहीं पीठ टिकाने के लिए ढंग कि जमींन भी मयस्सर नहीं हो पा रही थी या नहीं? यमुना घाटी के बर्फीले शिखरों की सर्दी में जिंदगी काटने वाले रंवाल्टे ओड़ाथली में अकड़ने लगे थे। अपने दो-दो साथियों कि मौतें हो जाने के बाद बेबस रंवाल्टो को वह काली रात उनके शवों की देखभाल करते रहने में गुजारनी पड़ी।...उनके बीच के कई राजभक्त बुजुर्ग ऐसे भी थे जिनके मन में इतनी उपेक्षा तिरस्कार और मानवीय व्यवहार झेलने के बाद भी आशा की एक नन्हीं सी किरण अब तक टिमटिमा रही थी। उन्हें यकीन था कि सुबह हो जाने के बाद कोई न कोई सरकारी मुलाजिम उनकी सुध-बुध लेने वहां जरुर पहुंचेगा और उनको ढांढस बंधायेगा।... रात खुलने पर वे रंवाल्टे रामचंद्र और किसना की लाशों को उठाकर उनका दाह संस्कार करने के लिए गंगा-तट पर ऋषिकेश ले जाने की तौयारी करने लगे थे। ...दीवान हुज़ूर का हुक्म यह है कि जब तक गवर्नर साहब कि गाड़ियाँ नरेन्द्र नगर से वापिस नहीं चली जाती तब तक तुम लोग यहाँ से हिलोगे नहीं। यहीं पर बैठे रहना। सड़क के आस-पास मत आना।... हमारे दो आदमी रात की बरखा में मर गए साब! इनकी लाशों की गति करने ऋषिकेश ले जाने की इजाजत मिले माराज?... जब तक गवर्नर साहब की गाड़ियों यहाँ से नहीं गुजर जातीं, तब तक तुम लाशों को भी नहीं उठा सकते ! तुम लाशें उठाओगे तो रियासत की बदनामी हो जाएगी। लोग सन्न रह गए। दीवान साहब का हुक्म, दरबार का हुक्म ! हम बगैर हथकड़ियाँ लगाये कैद हो गए हैं।'[24]

उपन्यास में 'किसानों' पर लगातार उत्पीड़न बढते हुए दिखाया गया हैं। किसानों को कम जानवर रखने का हुक्म मिलता है। कम जानवर रखने से किसान जंगल में कम जायेंगे। पहाड़ी किसान वैसे भी जंगल और पहाड़ पर ज्यादा निर्भर होता हैं। वहां जंगल से दैनिक जीवन के बहुत से काम करता है। जंगल और पहाड़ पर किसान जिन्दा रहता है। रियासत उन्हें जंगल जाने से रोकने के लिए जगंल की सुरक्षा और विकास के नाम पर कानून भी बनाता है। इस बात पर एक किसान सरकारी मुलाजिम से कहता हैं, 'जंगल की रक्षा तो हम करते हैं साब। जंगल तो हमारे मां-बाप हैं हुजुर। जंगल नहीं रहेंगे तो परजा कैसे जियेगी हुजुर?' सारा झगड़ा तो तो जंगल बचाने का हैं पंडितजी। हम जंगल के पेड़ों को खड़ा रखना चाहते हैं, जंगल राज वाले उन्हें ठेकेदारों को बेचकर कटवा देने का बेरहम कानून बना रहें हैं।...लंबी बहस छिड गयीं । प्रजा की ओर से कहा जा था कि वे जगंलों के महत्त्व से खूब अच्छी तरह वाकिफ हैं और अपनी ओर से सैकड़ों वर्षों से उनकी रक्षा करते आये हैं । ''हम अच्छी तरह जानते हैं कि वे नहीं रहेंगे तो बनवासी भी जिन्दा नहीं रह सकते।''[25]

किसानों के खिलाफ कानून लाये जा रहे थे किसानों को लग रहा हैं की ऐसा पहली बार हो रहा है। इस कारण कानून को किसान मानने के लिए तैयार नहीं थे। किसानों में आक्रोश बढ़ता जाता है। किसानों में चेतना का स्तर एक समान नहीं हैं। कुछ एक किसान आगे बढ़ कर इस आक्रोश को संगठित करते हैं। लेकिन बिना रणनीति के और अस्पष्ट लक्ष्य के किसान जगह-जगह विद्रोह कर रहे थे। राजदरबारी अपने राज के हित में यह बगावत को कुचलना चाह रहे थे। राजदरबारी किसानों से समझौते के लिए सुलह समझौता भी करता हैं और राजा के विलायत से लौटने तक किसानों से शांति बनाये रखने और नया कानून लागू करने की बात करता है। ''जब तलक श्री महाराज विलायत से लौट नहीं आते रंवाई के लोग कोई ढढँक नहीं करेंगे। और हुकूमत की ओर से तब तक नया कानून लागू नहीं किया जायेगा ।''[26] इस समझौते को तोड़कर किसानों से वार्ता की बात की जाती हैं। किसानों की तकलीफों को दूर करने का आश्वासन दिया जाता हैं। जब किसान वार्ता के लिए कुछ किसान आते हैं तब उन्हें रस्ते में गिरफ्तार कर लिया जाता हैं। किसान आगे क्या करे? इसकी रणनीति नहीं बनाते हैं। जैसे निहत्थे थे उसी रूप में एकत्रित होकर प्रतिरोध करते हैं । राजदरबारी उनकी भींड पर गोलियां चला देता है। सेना पूरे आन्दोलन को कुचल देती है।

"कुछ ही मिनटों के अन्दर नत्थूसिंह कमांडेट की फ़ौज ने उन निहत्थे लोगों को तीन तरफ से घेर लिया। चौथी दिशा में यमुना माई अथाह जलराशि से उफनती हुई यामुना माई।"रियासत की पलटन में चार सिपाही ऐसे थे, जिनको इस हिदायत के साथ भीड़ के बीच भेज दिया गया कि वे लोगों को समझाएं कि वे शांति से काम लें और हुकूमत के खिलाफ बलवा न करे। अपने चार लोगों को अपनी ओर आते देख भीड़ के अन्दर से उनके स्वागत में तरह-तरह की आवाजें आने लगी ।... वे समझ रहे थे की उन चारों को भेजकर दीवान उनके प्रतिनिधियों को शायद समझौता वार्ता के लिए बुलाना चाहता है। उन सिपाहियों के लोगों के बीच पहुंचते-पहुंचते ढलानों पर निशाना साध कर बैठे सिपाहियों ने भीड़ पर ताबड़तोड़ गोलियां चलाना शुरू कर दिया। कुल अट्ठारह लोगों की मौके पर ही मौत हो गयी।"[27] किसान राजदरबार पर बार बार भरोसा करते हैं और बार बार धोखा खाते है।

यह यमुना घाटी में बसे उन किसानों की बगावत थी जो रियासत से अपनी तकलीफें दूर करना चाहते थे, पर रियासत तो उनकी तकलीफों से ही फल-फूल रही थी, यह भोले-भाले किसान भूल रहे थे। किसान बागी होकर अपने हक़ अधिकार पाना चाहते थे और सामानांतर अपनी व्यवस्था भी कायम करना चाहते थे । किसानों में अपने वर्गीय हितों की पूर्ति के लिए चेतना का अभाव पर्याप्त रणनीति नहीं बना पाते हैं। अपने हक को लेकर उनकी चेतना विकसित होती हैं। वे सोचते हैं की राजदरबार हमारी तकलीफें दूर कर सकता है, पर आज तक करता भी आ रहा है। जंगल पहाड़ हमारे हैं, हम इन्हें बचाते हैं और यह हमें सदियों से पाल-पोस रहे हैं। यह मुल्क हमारा है और राजा नहीं मानेंगे तो हम उनका राज भी नहीं स्वीकार करेंगे। ऐसा किसान सोचने लगे थे। एक मुखबिर से राजा को यह बात पता चल जाती है। मुखबिर सूचना का ब्यौरा बिना किसी कूटनीतिक शब्दावली का प्रयोग किये कुछ इस प्रकार देता हैं, "बहुत साफ़ जुबान में यह अफ़सोस भरी जानकारी देनी पड़ रही हैं कि रंवाल्टे अपने को मुल्क मानने लगे हैं और रियासती सरकार को 'दरबार'। वे किसी भी समय अपनी अलग सरकार बनाने की घोषणा कर सकते हैं। गाँव-गाँव में रंवाल्टे खुलेआम एलन करने लगे हैं की इस मौके पर जो कोई 'मुल्क' के खिलाफ जायेगा, देवमंदिर में उसकी गर्दन उड़ा दी जाएगी।"[28] यह सूचना राजा के अधपढ़े लिखे जासूसों ने टूटी-फूटी भाषा में भेजी।

जब राजा ने सेना भेजी तब भी किसानों को लग रहा था कि राजा उनकी तकलीफें सुनने अपने हकीमों को भेज रहे हैं । पर राजा विद्रोह की किसी भी सुगबुगाहट को

कुचलना चाहता था। किसानों पर सीधी गोलियां चलवा दी गयी थी, वे बिना लड़े ही हार गए थे। किसानों में वर्गीय चेतना का आभाव लेखक बार-बार दिखता है। किसानों को यह समझना होगा की जब तक अपने हक़ अधिकार के लिए वे खुद नहीं लड़ेंगे, बार-बार धोखा खायेंगे, ठगे जायेंगे। उपन्यास में रंवाल्टो के किसानों का अंत वास्तविक अंत दिखाई देता है। यह उपन्यास ऐतिहासिक ढांचे में वर्तमान की कहानी कहता है। यह समाज का वास्तविक यथार्थ को व्यक्त करने में सक्षम भी दिखता है।

इस उपन्यास में केन्द्रित रांवल्टे कोई बड़े या परंपरागत किसान नहीं हैं। वे अपने गुजारे के लिए जंगल पर ही निर्भर हैं या मजदूरी पर या दूसरे बड़े किसानों के खेतों में काम करके अपना जीवन यापन करते हैं। व्यवस्था किस तरह विकास, सुधार और वनों के संरक्षण के नाम पर न सिर्फ कुदरत का दोहन करने के वैध तरीके ईजाद करती हैं बल्कि जिन छोटे भूमिहीन किसानो के विकास का दावा करती हैं उन्हीं को हाशिये पर धकेल देती हैं। इस प्रक्रिया को इस उपन्यास में काफी बारीकी से दिखाया गया हैं। घटनाओं के वर्णन के लिहाज से यह उपन्यास काफी यथार्थपरक है।

परंपरागत शोषण के विरुद्ध विकसित होती चेतना की 'जमीन'

बिहार की पृष्ठभूमि पर आधारित बनाफरचंद का उपन्यास 'जमीन' किसानों की अलग-अलग श्रेणी के टकराते आपसी अंतर्विरोध और उसके प्रतिरोध की कहानी हैं। चमनपुर गाँव जहां पर कई जाति के लोग बसते हैं। यह उपन्यास बड़े जमींदारों द्वारा पिछड़ी जाति के छोटे किसानों और दलित जाति के भूमिहीन किसानों के संघर्ष और धीरे-धीरे ही सही पर उदित होती चेतना और जागरूकता का रेखांकन हैं। यह ध्यान में रखने योग्य बात हैं की बिहार में अन्य राज्यों की अपेक्षा पिछड़ी जातियाँ मजबूत स्थिति में हैं। राजनीतिक रूप से भी और खेती-किसानी के संदर्भ में भी। हालांकि दलित जाति के लोगों की स्थिति बहुत अच्छी नहीं हैं। यह भी ध्यान देने वाली बात है कि बिहार प्रांत में अहीर एक तरह से प्रभावी जाति हैं जिसकी स्थानीय राजनीति व राजस्तरीय राजनीति में भी ठोस पकड़ हैं।

छोटे व भूमिहीन किसानों के शोषण की व्यवस्था में ये जातीय समीकरण अहम भूमिका निभाते रहे हैं। ये जातीय समीकरण परमपरगत सामंती व्यवस्था एक प्रक्रिया के तहत छोटी जाति के किसानों की चेतना को कुंद कर देती हैं। उनके वास्तविक अधिकारों के छलपूर्वक छीन लिए जाने के बाद भी उनके अंदर उठते प्रतिरोध के स्वर को दबा देती हैं। इसका जीवंत उदाहरण यह उपन्यास हैं। इस को बनाए रखने में धर्म-परंपरा किस तरह निर्णायक भूमिका निभाते हैं यह भी एक दिलचस्प बिन्दु है। धर्म-परंपरा का यह शिकंजा इतना गहरा है कि आजादी के बाद भी नए कानून के आने के बाद भी वर्ग के बड़े-बूढे नए नियमों को तुरंत नहीं अपना पाते। धर्म व परंपरा से बुनी हुयी सामाजिक संरचना में बुने हुये ऐसे ग्रामीण समाज के प्रतिरोध का तरीका भी इससे जकड़ा हुआ हैं जो कि उन्हे उनके शोषण से मुक्त नहीं होने देता। हालांकि पिछड़ा समाज का किसान वर्ग में कुछ किशोर और अन्य युवक थोड़ा चेतनशील और जागरूक हो रहे हैं जो कि बाकी के जाति के साथ संगठित होने की आवश्यकता को महसूस करते हैं और बाकी के लोगों को संगठित भी करते हैं।

अपने संघर्ष व प्रतिरोध की सीमाओं को यह उपन्यास सही ढंग से उभारता है। जातीय भेदभाव इस कदर हावी है कि व्यवस्था द्वारा किया जाने वाला शोषण भी जातिगत आधार पर किया जाता है। इस उपन्यास में बाबुयान टोले के रमन बाबू, जमुना बाबू और केदार बाबू शोषण के अलग-अलग चेहरे हैं तो वहीँ मदन महतो, नारायण चाचा

प्रतिरोध के परंपरागत चेहरे हैं । चेतना के नए चेहरों में, जमीन के प्रति लगाव, जमीन हड़पने की बाबुयान लोगों की नीति, पुलिस दारोगा का वर्गीय चरित्र, चुनाव और लोकतन्त्र का दिखावटी स्वरूप इन सभी का सचित्र वर्णन हैं।

प्रतिरोध के मुखर स्वर 'बाजात अनहद ढ़ोल'

मधुकर सिंह का उपन्यास 'बाजात अनहद ढ़ोल' संथाल संघर्ष की कहानी है। सत्ता की नजर से लिखा गया इतिहास जन का इतिहास नहीं होता। संथाल प्रांत के वासियों ने अपने जल- जंगल-जमीन के नासैर्गिक अधिकारों की रक्षा के लिए जो क्रांति छेड़ी थी; उसे इतिहासकारों ने एक 'विद्रोह' की घटना के रूप में दर्ज किया है। पाश्चात्य इतिहासकारों की नजर में तो घने जंगलों में बसे टीलों, ठुहों, मेंढ़ो को पूजने वाले ऐसे आदिवासी क्रांतिकारी ज़ाहिल, गंवार थे। इसीलिए इन संथाली क्रांतिकारियों को ऐसे इतिहासकारों ने सत्ता व शासन का 'विद्रोही' के रूप में चित्रित किया जाता रहा हैं। चूंकि इतिहास में उस समय को सत्ता को केंद्र में देखकर लिखने की परिपाटी रही हैं। इस संदर्भ में मधुकर सिंह का यह उपन्यास देशकाल और आमजन की नजर से उस समय को हमारे सामने रखता है।

राजमहल की पहाड़ियों, तलहटियों के बीच बसे छोटे-छोटे गांवों में बसने वाली संथाल जनजाति धर्म ग्रंथ से परे, बिना मंदिर मूर्ति के पहाड़ नदी, तलाब, गुफा को ही भगवान-देवता के रूप में पूजते रहे है। प्रकृति को देवता के रूप में मानने पूजने का आधार उनका स्वयं का जीवन प्रकृति पर आधारित होना है। 18वीं-19वीं सदी में संथाल जनजाति का संघर्ष के दो बड़े स्तर हैं। जो कि मूलतः अंग्रेजी साम्राज्य अपने हितों के लिए नील की खेती करवाने के लिए प्रांत के स्थानीय जमींदारों को इसका कानूनी जिम्मा देता है। और जमींदार वर्ग पुलिस तहसीलदार, महाजन, अदालत कचहरी के नौकरशाह-कर्मचारी मिलकर संथालों का भयंकर शोषण करते हैं। आए दिन जारी किए जाने वाले व्यवस्था के अन्यायपूर्ण नए नए कानून लगातार उन्हे विद्रोह करने के लिए मजबूर करते हैं और उल्टा उन्हीं से शांति बनाए रखने के नाम पर 'मुचलका' लिखा लिया जाता। वैसे प्रकृति पर आधारित जीवन जीने वाले संथाल जनजाति स्वभावतः विद्रोही होती हैं।

एक बात ध्यान देने की हैं कि बाकी के उपन्यास जैसे 'धरती धन न अपना','बेदखल','जमीन तो अपनी थी' आदि उपन्यासों में जहां शासन व्यवस्था के द्वारा

पिछड़ी, दलित जतियों का शोषण होता हैं तो उनके प्रतिरोध के तरीके में और जनजातियों आदिवासियों के प्रतिरोध के तरीके में काफी अंतर दिखाई देता हैं। यह बात 'यमुना के बागी बेटे' और 'सहराना' जैसे उपन्यासों में वर्णित संघर्ष से भी पुष्ट होती हैं।

'बाजात अनहद ढ़ोल' देसी और विदेशी शासन के अत्याचारों शोषण के विरुद ऐसे ही मुखर संघर्ष और प्रतिरोध की कहानी है। इन क्रूरताओं से बचने के लिए सरल मन शांति प्रिय संथाल जंगलों की ओर भागते गए और समतल जमीन पाकर जंगल साफकर के खेती करते। लुटेरा प्राशासन के जमींदार सरकारी कागज लेकर वहाँ भी पहुँच जाते और लगान मालगुजारी के लिए ज़ोर जबर्दस्ती करते।साहूकार-महाजन हाट-बाजार में उन्हें कई-कई तरह से ठगते। अकाल या सूखा के समय मजबूरीवश लिए जाने वाले कर्ज की शर्त के रूप में बेगारी और गुलामी की रस्म आम प्रथा-सी हो गयी थी।

इन अत्याचारों का विरोध करने वाले संथालियों को इनामी डाकू के रूप में पुलिस घोषित कर देती थी। सोहराई पर्व के अवसर पर पोटन साहब भी शामिल होते हैं। वो हँडिया के नशे में चूर होकर जोबा के साथ बदसलूकी करते हैं जिस पर सुकेल गुस्से में पोटन साहब का हाथ पकड़कर उसे परे खींच देता है। पोटन साहब सुकेल को अँग्रेजी में गालियाँ बकने लगता है। ऐसे माहौल में पुरोहित इशारे से सोहराई पर्व के नाच-गाने को बंद करा देता है और उल्टा सुकेल के पिता को डांटने लगता हैं। सुकेल का पिता भी हाथ जोड़कर क्षमा याचना करता है और सुकेल को एक दो चपत भी लगा देता है। लेकिन सुकेल शांत नहीं होता वह इस बदतमीजी के विरुद्ध गुस्से में चीखते हुये बोलता है, ''सुनो रे साथियों! ये गोरा तेरा मेंहमान नहीं हैं, दुश्मन है- दुश्मन? मरुङ्ग बरु ने मुझे आदेश दिया हैं-उठालो तीर धनुष। छलनी कर दो इस शैतान को?''[29]

सुकेल की प्रतीक्षा में खड़ी जोबा को जब पोटन साहब पकड़ लेता हैं तो सुकेल अपने साथियों के साथ मिलकर तीर धनुष से पोटन साहब की हत्या कर देता है। और इस तरह सुकेल और उसके साथियों को पुलिस संथाल डकैत घोषित कर देती हैं। अत्याचरों के प्रतिकार और संघर्ष की कहानी के लिहाज से यह उपन्यास काफी महत्वपूर्ण है।

'बाजत अनहद ढोल' उपन्यास में संथाल विद्रोह का जीवन्त रूप सृजित किया गया है। इस विद्रोह का अनहद ढोल आज भी संथाल परगना में बज रहा है। उपन्यास के नायक ने संथाल आदिवासियों की आजादी का सपना देखा था जिसे सच करने का संघर्ष आज भी जारी है।

‘गोको’ उपन्यास और आन्दोलन दोनों का ही नायक है। संघर्ष की लड़ाई की विरासत को बताते हुए वह कहता हैं की, ‘‘मेंरे जवान बेटे बेटियां! मैंने अपने संथाल नायक सिदो के समय में कहा था यह लड़ाई लम्बी हैं रे ! भले ही यह कंपनी, हुकूमत मिट जाये, तब भी संथालों की आजादी की लड़ाई जारी रहेगी। सौ साल, दो-तीन सौ साल लग जाये, और दुबारा तिबारा फिर कोई जन्म ले सिदो। मरांग बरु के आदेश का पालन करते रहेंगे संथाली।

देश में संथालों की संघर्ष की लड़ाई जारी हैं। आज भी संथाल अपनी वास्तविक आजादी खोज रहे हैं। कब उन्हें विदेशी हुकूमत, विदेशी कंपनियों के रूप में देशी सूदखोर महाजन, ठेकेदार और प्रशासन के शोषण-उत्पीड़न से छुटकारा मिलेगा। संथाल विद्रोह में पिछड़ी, दलित जातियां आदिवासी, कृषि से जुड़े व्यवसाय में लगे लोग इस आन्दोलन में शामिल हैं। इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य था ईस्ट इण्डिया कंपनी के शोषण से मुक्ति हासिल करना और अपना आज स्थपित करना। यह तथ्य गोको की इस बात से साफ़ झलकता हैं, ‘तुम सवाल राज कायम करो। कंपनी राज को ख़तम करो। अंग्रेजी ठेकेदारों निलहों और उन देश द्रोहियों से बदला लो जो अंग्रेजी सल्तनत कायम रखने में अंग्रेजों के मददगार हैं। इस उपन्यास में शोषक और शोषित की पहचान और गहरी वर्ग चेतना को साफ़ देख जा सकता हैं। इस चेतना को धार देने का काम आन्दोलन का नेतृत्वकारी साथी करते हिल ‘भले उनमें राजनिति की संस्थागत चेतना नहीं थी, परन्तु सिदो ने दोस्त और दुश्मन की पहचान दी थी उस पहचान के अंतर्गत ब्रिटिश हुकूमत, जमींदार सूदखोर-महाजनों को उन्होंने अपना दुश्मन मान लिया था। ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कंपनी के पीड़ित जनता को संगठित करते हैं। ईस्ट इण्डिया कंपनी का आधार जमींदार, साहूकार महाजन के एक हिस्से को अपने आन्दोलन में शरीक भी करने का लगातार प्रयास करते हैं। उत्पीड़ित-शोषित जनता एकजुट होकर लगातार ईस्ट इण्डिया कंपनी के सामानांतर राजनितिक व्यवस्था कायम करने का प्रयास करते हैं । इस प्रयास के तहत ही एक ‘आजादपुर’ गाँव बसाया जाता हैं। जहाँ की जनता शोषण-उत्पीड़न से आजाद रहेगी। इसके आड़ में निहित हैं कि, ‘जहाँ शिक्षा, गरीबी, अस्मिता, रोटी की चिंता सर्वोपरि हो, वहां की दो लड़कियां और एक मुट्ठी औरतें आजादी के लिए मर मिटने को तैयार हैं। आजादी क्या होती हैं इसके रूप गंध का एहसास भी नहीं इन्हें। बस इतनी ही भर की कल्पना हैं इन्हें,कि ‘आज़ादी’ का मतलब जुल्म का खात्मा होता हैं। संथाल परगना की जनता भूख, गरीबी, अभाव, जहालत और अस्मिता बचने की चिंता से परेशान थी।

उनकी 'इज्जत' और जिंदगी कभी भी खत्म की जा सकती हैं। संथाल लोग प्रकृति के गोद में रहते थे। वहां बाहरी हस्तक्षेप उन्हें प्रतिरोध करने को मजबूर करता है।

संथाल की जीवंत-परंपरा को ख़त्म करने और उनके संसाधन को लूटने, तबाही करने बाहरी लोग आते हैं। उनका दमन, शोषण, उत्पीडन करते हैं। उनकी महिलाओं के साथ यौन हिंसा करते हैं। इस कारण संथाल का स्वाभाव विद्रोही बन गया है। यह एक तथ्य हैं कि संथाल जन जातियां स्वभावतः विद्रोही होती हैं। ''वे सब कुछ बर्दाश्त कर सकती हैं। बहू-बेटियों की अस्मिता का मर्दन ये कतई बर्दाश्त नहीं कर सकती।'[30]

अंग्रेज लोग आये दिन संथालों की औरतों पर अत्याचार करते हैं। एक दिन पोतन अंग्रेज गरीब संथाल महिला जोबा के साथ जोर-जबरदस्ती करता है। जिसका प्रतिरोध गाँव के संथाल करते हैं, आगे चलकर अंग्रेज अधिकारी के हत्या भी कर देते है। अंग्रेज इस घटना को अंग्रेजी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह के रूप में देखते हैं। अंग्रेजों को लगता हैं की उन्होंने तो कुछ नहीं किया जो उनके 'निर्दोष' अफसर की हत्या कर दी गई। अपने संघर्ष में संथाल उन अन्य समुदाय वर्ग को लाने का प्रयास करते हैं जो अंग्रेजी शासन व्यवस्था से परेशान हैं। वे इसमें सफल भी होते हैं। इस संथाल आन्दोलन का यह असर होता हैं कि अंग्रेजी शासन के साथ-साथ देशी जमींदार, साहू महाजन, सेठ-साहूकार आदि को भी छोटा नागपुर का परगना छोड़ना पड़ा। संथाल यह आन्दोलन मुख्यतः अंग्रेजो की ईस्ट इण्डिया कंपनी और नील की खेती करवाने वाले अंग्रेजों, उनके सहायकों के खिलाफ था। संथालों ने अपनी परंपरा, ज्ञान-साहस से अंग्रेजों का खुलकर मुकाबला किया। संथाल उन्होंने अंग्रेजों और जमींदारों की भांति अपनी जनता की फ़ौज भी बनायी थी। इस फ़ौज ने परंपरागत हथियार से ही आधुनिक गोला, बारूद, तोपों वालो अंग्रेजी फ़ौज का मुकाबला किया था। यह संथाल अपनी अंतिम सांस तक अंग्रेजी साम्राज्यवाद और भारतीय सामंतवाद के खिलाफ लगातार लड़ते गए और इन दोनों के गठबंधन रणनीति का हरसंभव मुकाबला किया।

संथाल आन्दोलन स्थानीयता की सीमाओं से बाहर नही निकल पाया था। अदम्य साहस और अद्भुत रणनीति के बावजूद संथाल अंग्रेजों से हार गए थे। इस हार का सबसे बड़ा कारण उनके विचार तथा सोच-समझ देश की अन्य उत्पीड़ित जनता तक नहीं पहुंच पायी थी और अंग्रेजी साम्राज्यवाद और भारतीय सामंतवाद उनकी तुलना में ज्यादा मजबूत थी। आधुनिक तकनीकि हथियार और फ़ौज की संख्या अन्य ताकत में ज्यादा

मजबूत थीं। अंग्रेजों ने अपने संसाधन के बल पर संथालों के आन्दोलन को एक अंचल विशेष तक ही समेट कर रख दिया।

जनजाति की संघर्ष कथा 'सहरना'

पुन्नी सिंह का उपन्यास सहरना मध्य भारत के पहाड़ में बसे सहरिया जनजाति की कहानी है। पहाड़ी की घाटी में सहरना में बसे हुये अधिकांश सहरिया जनजाति परंपरागत तौर पर किसान नहीं हैं। वे मूलतः जंगलों पर निर्भर रहते है। उपन्यास में केंद्रीय पात्र सोमा है जो सहरिया जनजाति से है। वह एक विचारशील, सामाजिक, स्वस्थ और अपने मन का मालिक किस्म की प्रवृति का युवक है। उसकी माँ अंजनी काकी का सहराने मे बड़ा मान हैं। यूँ तो सहराने में बड़े फैसलो पर महिलाओं से विचार-विमर्श नहीं किया जाता लेकिन अन्जनी काकी की बात कुछ और है। उनकी न्याय दृष्टि बड़ी सूक्ष्म और तीव्र है। सोमा का पिता फिडोलिया अपने मन का मालिक है। वह परिवार के कामों में ज्यादा दखल और रुचि नहीं रखता लेकिन अन्दर ही अंदर पूरे सहराने और विशेष रूप से जंगलो के प्रति उसका बड़ा मोह है। सहरिया कौम का जल- जंगल- जमीन से बहुत पुराना नाता है हालाँकि कि वे जमीन के अधिकार से काफी लम्बे समय से वंचित रहते आए हैं। सहराने के बगल में पुरा हैं जिसमें अहीर और पटेल समुदाय के सम्पन्न लोग रहते हैं। जिनका जमीन के अच्छे हिस्से पर कब्जा है। घाटी के पार चर्च की तरफ पंडित मास्टर मिश्रीलाल का घर है जो कि लंबे अरसे से सहराने में भागवत की कथा करवाना चाहते हैं ताकि सहराने में भी पूजा-कथा का चलन हो और दान दक्षिणा की रीति शुरू हो सके। सेठ चुन्नीलाल जो की महाजनी का काम करते हैं, अपनी एक दुकान भी चलाते हैं।

जंगलों पर उनकी निर्भरता और खेती-किसानी से उनके जुड़ते सहरियों के नए संबंध उनके अपने अस्तित्व को बचाए रखने की प्रक्रिया के तहत बन पाये हैं। समय-समय पर सूखा आदि के चलते जब-जब कुदरत की मार पड़ती रही वैसे-वैसे सहरिया जनजाति और घने जंगलों में चली जाती थी। लेकिन आजादी के बाद से जंगल तेजी से बर्बाद होने लगे हैं। और जमीन पर कब्जा करने की होड़-सी लग गयी हैं, इस होड़ में बाहरी लोग ही ज्यादा हैं। जंगलों की बर्बादी के साथ ही सहरियों का भी अपने गुजारे के लिए जंगलों पर निर्भरता को कम करते हुये खेती की ओर रुख करना जरूरी हो गया। लेखक

इस पूरी स्थिति के बारीक ताने-बाने को जो कि राजनीति व्यवस्था और शासन व्यवस्था के अंग हैं, सरल तरीके से पेश करता है।

"लेकिन आजादी के बाद घाटी को मानो छूत का रोग लग गया। जंगल बर्बाद होने लगे और जमीन पर कब्जा करने की बाहर के लोगों में होड़-सी लग गयी। उसी समय से अधिकारियों की बढ़ती हुयी फौज के धावे सहरने के ऊपर होने लगे। उन धावों में घाटी तबाह हुई और उसके साथ ही सहरने भी ।"[31]

सहरिया जनजाति की जंगलों पर निर्भरता उन्हें प्रकृति से जोड़े रखती और उसके संरक्षण के प्रति हमेशा से सहरिया जनजाति संवेदनशील रही है। पहले यहाँ तक कि अकाल जैसी स्थिति में भी घाटी के लोग किसी न किसी तरह जंगलो में शरण पा ही जाते थे। भयंकर ठंड के बाद घाटी में अकाल पड़ता है जिससे सहरियों की मुश्किले और बढ़ जाती हैं। प्रकृति की ये मार कोई नयी नहीं हैं पर समय बदलने के साथ इससे निपटने के रास्ते सहरियों के लिए कम से कम होते जा रहे हैं।

जंगल बुरी तरह बर्बाद होने लगे हैं। जंगल तबाह हुये तो सहरिया कौम की जंगल पर निर्भरता कम होती गयी और सहरनों का पलायन उथले जंगल से बड़े गांवों या कस्बों की ओर होने लगा। इसी दौर में घाटी में बाहरी लोगो का प्रवेश हुआ और यहाँ की जमीन को लेकर छीना-झपटी शुरू हुयी। "जमीन पर दूसरों का कब्जा होता देखकर पहले तो घाटी का सहरिया भौचक्क-सा खड़ा रह गया, लेकिन फिर धीरे-धीरे उसकी नींद टूटी, तो उसे भी जमीन से नाता जोड़ना और खेती किसानी के काम में मन लगाना पड़ा। शायद तभी से घाटी के सहरनों का बार-बार उजाड़ना रुक गया।"[32]

सहरियों की इस समस्या के कुदरती रूप के अलावा उनकी मुख्य समस्या और शोषण का कारण राजनीतिक व सामाजिक संरचना की देन हैं। उपन्यास में चुनाव में वोट के लिए भोले भाले सहरियों को कैसे बेवकूफ बनाया जाता हैं इसका भी सटीक चित्र खींचा गया है।

मंगलू चर्च की तरफ जाते हुये शोर-शराबा सुनकर पता चलता है कि चुनाव के कारण ऐसा है तो वह मन में सोचता है, 'बड़े शहरों में चुनाव की रौनक देखते बनती है। कस्बों और बड़े गांवों में भी खूब धमाचौकड़ी मचती है। ऐसे ही पोस्टर-बैनरों से गली गलियारे सजे मिलते हैं। नेताओं के भाषण चलते हैं, लेकिन छोटे गांवों और सहराओ की ओर

बहुत ही मुश्किल में ही कोई जाता है, जबकि वोट सबसे ज्यादा गाँव और सहरानों के ही होते हैं। बड़े छलिया लोग हैं। नाचते-कूदते शहरों में हैं और वोट हमारा लेते हैं।'' सीदे-सादे मंगलू को बरगला कर मिश्रीलाल मास्टर अपने हित अनुसार वोट डालने के लिए राजी कर लेते हैं। वो मंगलू से कहते हैं, ''अगली पचीस तारीख को वोट पड़ेंगे! तुम सब लोगों को अपनी पार्टी का चुनाव चिन्ह तो मालूम ही है। उसी पर सबको मुहर लगानी है। अब तू आगाओ तो हमें सहराने में जावे की जरूरत नई है।''

मंगलू ने उन्हे घूरा। वह हल्का सा उफनता हुआ बोला- ''महाराज! हम अबकी बेर वोट नई देंगे।''

''च्यों?''

मिश्रीलाल मास्टर उसकी बात सुनकर चौंक पड़े।अगर सहरिया लोग वोट नहीं देंगे तो अपनी पार्टी का यहाँ से जीत पाना मुश्किल हो जाएगा। इस क्षेत्र से पार्टी की जीत नहीं हुई तो उन्हे कोई माटी के मोल भी नहीं पूंछेगा। जिले में नेताओं के ऊपर उनका रोब इसी बात को लेकर हैं कि वे येन-केन पप्रकारेण सहरियों के वोट पार्टी को दिलवा पाने में सफल हो जाते हैं। मंगलू के ये बताने पर कि अंगदराम दारोगा को हरीराम एम.एल.ए. के द्वारा निकलवा देने के चलते वे लोग उनकी पार्टी से खफा हैं। मिश्रीलाल मास्टर उसे बरगलाते हुये कहते हैं कि-

''आए मंगलू! तू इतनों समझदार हैं केउ मूरख च्यों बन रओ हैं? अंगदराम दारोगा की बदली हरीराम ने कराई हैं जे बात हमेंऊँ अच्छी कां लगी हैं। अपई पार्टी कोऊ अच्छी नई लगी। तबई तो पार्टी ने हरीराम को कान पकड़ के अलग कर दिओ! उन्हे पार्टी ने इस बार टिकट नई दिओ!''

''ऐ, का कह रहे हो महाराज! पार्टी ने वाय टिकट नई दिओ?' तो और कौन को टिकट मिलो हैं, महाराज?''

''हर्षवर्धन को। बड़ो मलूक आदमी हैं-एकदम देवता। अपन सबको मिल जुल के अबकी बेर वाई को जिताना हैं। फिर तुम लोग कहोगे तो अंगदरम दारोगा को झेई बुलवा देंगे।'' ये सुनकर मंगलू खुश हो जाता हैं और मास्टर के कहे अनुसार हर्षवर्धन को वोट देने को तैयार हो जाता है।

उपन्यास में प्रमुख घटना के रूप में सहरियों का प्रशासन महकमें के साथ आमना-सामना है। यह संघर्ष जमीन को लेकर उठता है। चेतना के अभाव में भूमि हीन किसान जमीन पाने के लिए किस तरह भ्रष्टाचार का शिकार हो रहे हैं। इसका उदाहरण एक और प्रसंग में देखने को मिलता है।

आजकल सहरियों का जमीन के प्रति बढ़ता मोह देखकर जिले के अधिकारी-कर्मचारी चौकन्ने हो उठे हैं। कुछ को यह बदली हुई स्थिति सुविधाजनक लगती हैं। जैसा कि सिद्ध हो चुका हैं कि देहात को आसानी से निचोड़ने के लिए जमीन के मसले ही सबसे ज्यादा सुविधाजनक सिद्ध हुये हैं। घाटी में यह सुविधाजनक खेल कई साल पहले से शुरू हो चुका था। सहरियों को जमीन के पट्टे शासन के नियम के अनुसार सामूहिक तरीके से दिये जाते रहे हैं। "हजार-हजार बीघा जमीन के सामूहिक पट्टे और साधनहीन, बेपढ़ा लिखा अकेला सहरिया, जब वह अपनी जमीन खोजने चलता है तब उसकी आँखों के सामने अंधेरा ही अंधेरा होता है। उसी अंधेरे से जन्म लेता है पटवारी से लेकर तहसीलदार तक के अमले का गोरखधंधा। उनके कलम और कागज की ताकत, खसरे और खतौनी का उत्पात और उनकी जरीब का जंजाल! उसके आगे आदमी की औकात कुछ भी नहीं होती...। अधिकारियों ने अभी महीना भर पहले एक और भी ऊंचा खेल खेला। सहरियों की अच्छी जमीन दूसरी बिरदरी के लोगों को नाप दी और सहरियों को उधर पहाड़ी के पास वाली चरनोई जमीन बता दी । ऐसा आभास उनको सपने में भी नहीं था कि लोग उनके साथ ऐसा छल करेंगे। जिस जमीन को वर्षों से सींचकर उन्होने अपना खून पसीना बहाया हैं, जिसको उपजाऊ बनाने में उनकी वर्षों की मेंहनत लगी है, वह जमीन उनसे छीनकर इतनी आसानी से किसी और को दे दी जाएगी। कोई और कौम होती तो ऐसी घटना को यों चुपचाप बैठे-बैठे नहीं देखती रहती। वह या तो दूसरों के सामने रोती गिड़गिड़ाती रहती या फिर बगावत पर उतार आती, लेकिन सहरिया कौम के साथ पता नहीं कब से इसी तरह का निर्मम व्यवहार होता आ रहा हैं। यही कारण है कि सहरिया कौम किसी बाहरी आदमी पर भरोसा नहीं करती ।"[33]

सहरियों के शोषण का प्रमुख कारण उनमें चेतना का अभाव है। यह चेतना जब अंगदराम दारोगा और दलबीर मास्टर जो की पूरी कर्मठता से समाज सुधार के काम में लगे रहते हैं, जहां भी जाते हैं वहाँ के लोगों को समाज में फैले छुआ-छूत के रोग से मुक्ति पा जाने के लिए प्रोत्साहित करते है उनकी संगत से उनमें अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़ती हैं और अन्य के प्रति वे आवाज़ भी उठाते हैं।

सहरियों के पास पर्याप्त जानकारी शिक्षा की कमी के चलते वे अपने शोषण की दोहरे तिहरे चक्र से निकल पाने में असमर्थ हैं। पटवारी, तहसीलदार और दारोगा पुलिस इनकी जमीन नाप-जोख के उनसे मलिकाना हक़ छीन लेते है और शांतिपूर्ण तरीके से अपनी बात रखने पर बेरहमी से बुरी तरह पीट दिये जाते हैं। अपनी जीविका का कोई रास्ता न सूझता दिख अंत में सोमा तहसीलदार को मार देता है। इस तरह व्यवस्था ऐसी क़ौमों को जिनकी मेंहनत मजदूरी पर टिकी है उन्हीं को नियम-कानून के जाल से मुश्किल भरी जिंदगी जीने को मजबूर करती है।

सहरिया छोटे भूमिहीन किसान हैं या उनके पास अपनी बहुत थोड़ी भूमि है जिन पर वे सालों से खेती करते आ रहे हैं। लेकिन नए कानून उन्हे उनकी ही भूमि पर खेती करने के अधिकार से वंचित करते हैं साथ ही उनका शोषण और अत्याचार भी करते है जिसका सहरिया जनजाति विरोध भी करती हैं।

नव उदरवाद और विकास की 'फांस '

किसान के भूमि से बदलते संबंधो को संजीव के उपन्यास 'फांस' में बारीकी से उकेरा गया है। किसान और जमीन के ये बदलते सम्बन्ध देश की राजनीतिक आर्थिक व्यवस्था में नीतिगत परिवर्तनों से निदेशित होता है। जिसके किसानों के सामाजिक-आर्थिक जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ते है। इस उपन्यास में किसानो के गले में कई तरह की फांस का जिक्र किया गया हैं। लेखक ने किसान जीवन की समस्याओ को दो तरह से दिखाने का प्रयास किया है। एक नजरिया स्वयं किसानो के बीच से खुद उनके द्वारा अनुभव की गयी कहानी के रूप में हैं। इसे कथा का इनसाइडर व्यू या आतंरिक दृष्टिकोण कह सकते हैं। दूसरा नजरिया जो कि एक बाहरी नजरिया हैं जिसे आउट साइडर व्यू कह सकते हैं। ये कहानी में विजयेन्द्र, वंदना आदि पात्रों के माध्यम से दिखाया गया है।

किसान जीवन की समस्याओ, उनके आपसी सम्बन्ध को, ग्रामीण जीवन की मान्यताएं तथा बदलते आर्थिक परिदृश्य का किसान जीवन पर पड़ने वाला प्रभाव पूरे समग्र रूप में दिखाया गया है। लेखक ने किसानो की आम समस्याओं का अलग-अलग पात्रों के माध्यम से वर्णन किया हैं। इन समस्याओं को फांस की उपमा दी जा सकती है। ये तमाम तरह की फांस किसानो के जीवन में हताशा, निराशा लिए उन्हें उनके स्वयं के जीवन से अलगाव पैदा कर रहीं है और अंततः इनकी परिणिति किसानो द्वारा की जाने वाली आत्महत्या के रूप में होती है। लेखक ने किसान जीवन की समस्याओं का वर्णन

यथार्थवादी तरीके से किया हैं वहीँ समस्याओं के विकल्प सुझाने के क्रम में वे अपना आदर्शवादी नजरिया रोक नहीं पाते हैं।

किसान जीवन की प्रमुख समस्या कर्ज हैं। यह कर्ज उनके गले की फांस बन जाता है। इस समस्या के मूल में वे परिस्थितियां हैं जिनमें किसान कर्ज लेने को मजबूर होता हैं यहाँ। किसान ऐसी नीतियां चाहता है जहाँ उसे कर्ज न लेना पड़े वह बिना कर्ज के खेती कर सके। देश की राज्यव्यवस्था इतनी जटिल और भ्रष्ट हैं जहाँ मृत किसानो की आत्महत्या के लिए पात्र-अपात्र की श्रेणियां बना रखी हैं। यह व्यवस्था किसानो की आत्महत्या को एक वर्ग समूह की आत्महत्या न मानकर उनके अपने निजी जीवन के झगडे-फसाद आदि का परिणाम के रूप में देखती हैं। जबकि इन तमाम निजी कारणों के परे किसानों की आत्महत्या का कारण वे तमाम दोषपूर्ण राजनीतिक -आर्थिक नीतियां हैं जिनके चलते कृषि व्यवस्था लगातार बर्बाद हो रही हैं।

यह उपन्यास मूलतः किसानो की मजबूरीवश की जा रही आत्महत्या को केंद्र में रखाकर लिखा गया गया हैं। जिसकी पृष्ठभूमि अत्महत्याओं का गढ़ बन गए महाराष्ट्र का विदर्भ क्षेत्र है। इस उपन्यास में लेखक ने किसान जीवन से जुड़े तमाम पहलुओं का बड़ी सूक्ष्मता से वर्णन किया है। यह उपन्यास यह दिखाने में सफल रहा है कि बदलती नई आर्थिक नीतियों के इस दौर में कैसे किसान, किसान से मजदूर बनने की विवश हो रहे हैं। ये नई आर्थिक नीतियां बाजार के हित को ध्यान में रखकर बनाई जा रही हैं जिस कारण किसान बाजार की शर्तो पर अपना उत्पादन बाजार मूल्य पर बेचने को मजबूर हो रहा हैं एवं खेती की लागत की चीजें बाजार के मनमानी कीमतों पर खरीदने को मजबूर हैं। कर्ज का दुष्चक्र इतना बुरा हैं की कर्ज चुका न पाने की स्थिति में किसान के पास आत्महत्या करने के अलावा कोई चारा नहीं बचता।

विशेष आर्थिक क्षेत्र अर्थात रोज कि नीतियो के कारण भी किसान अपनी जमीन से उजड़कर शहरों कि ओर पलायन पर मजबूर हैं जिससे किसान से मजदूर बनना उनकी नियति का हिस्सा बन गया है ।

एक किसान की आत्महत्या का वर्णन लेखक इस प्रकार करते हैं, ‘‘कौन था? क्यों फांसी लगायी?...’’

'अरे आदमी था भाई । शेतकरी ! दो-दो बार फसल मारी गयी, कर्ज लिया, न दे पाया, मार लिया खुद को..."[34]

खेती से गुजारा न होने की वजह से किसानो का जीवन-यापन मुश्किल होता जा रहा है। यहाँ तक की पशुपालन करना भी किसानो के बस के बाहर होता जा रहा हैं।इस उपन्यास में शिबू जैसे मध्यवर्गीय किसान के लिए भी एक जोड़ी बैल पालना मुश्किल हो जाता है। "कभी आबाद रहा करती थी भैस गाय से पशुशाला। अब सिर्फ एक हाल्या(बैल)है दूसरा हाल्या तुकाराम का लेना पड़ता हैं जोड़ी बनाने के लिए।अत; सचचाई यह है कि इस देश का किसान कर्ज में ही जन्म लेता हैं, कर्ज में ही जीता हैं और कर्ज में ही मर जाता हैं।"[35]

हालांकि कर्ज से निपटने के लिए सरकार ने किसानो को आसानी से कर्ज मिल सके इसके लिए कार्पोरेट सोसाइटी बना रखी है पर इसका फायदा देसी-विदेशी व्यापारी ही उठाते हैं। समस्या के इसी पहलू की ओर इशारा करते हुए उपन्यास की एक पात्र छोटी कहती है, "कार्पोरेट-सोशल रिस्पोंसिबिलिटी इन देसी विदेशी सेठों की जिम्मेदारी आपूर्ति उतनी ही होती हैं जितने में इसका ग्राहक बचा रहे। किसी को भी किसानो की आत्महत्या की फिकर नहीं, किसी को भी नहीं।"[36]

खेती में लगातार हो रहे नुकसान के चलते शिबू खेती छोड़ कर शहर में जा मजदूरी करने का विचार उसके मन में आता है किन्तु अपने परिवार की जिम्मेदारियों के चलते वो ये इरादा बदल देता है। उस जैसे बहुत से किसान खेती छोड़ने की कगार पर हैं, कइयों ने खेती छोड़कर मजदूरी को ही अपना पेशा बना लिया हैं। छोटी अपने पिता से कहती हैं, "तुम्हीं नहीं, इस देश में सौ में से चालीस शेतकरी आज ही खेती छोड़ दे अगर उनके पास कोई दूसरा चारा हो । अस्सी लाख ने तो किसानी छोड़ भी दी।"[37]

किसानो की आत्महत्या पर मीडिया जगत में चुप्पी को भी दिखाया गया है। उपन्यास में छोटी बोलती हैं, 'पिछले बरस सात हजार किसानो ने आत्महत्या की थी। अखवार रेडियो , टी.वी. सबने अफीम खा ली, खबर तक न हुई।'

संजीव ने 'फांस' में किसान जीवन की समस्याओं का यथार्थपरक वर्णन किया हैं। पहली और सबसे महत्वपूर्ण समस्या है कर्ज का दुष्चक्र। अस्सी के दशक के पहले किसान अपना बीज परम्परगत तरीके से खेती करते हुए बचा लेते थे। उन्हें बाजार से बीज

खरीदना नहीं पड़ता था वे उर्वरक, खाद आदि के लिए वे अपनी परंपरागत तरीके से तैयार की गई गोबर की खाद का इस्तेमाल करते थे तथा जुताई हल-बैल से करते थे। इस प्रकार उनकी लागत शून्य थी। जो कुछ भी उत्पादन होता था वो खाने या बचत में आता था या बाकी खाने के बाद जो बचता था वो मंडी में जाता था । आठवें दशक के बाद से भारत में नई आर्थिक नीतियों के चलते किसानों को बहुत तेज़ी से नकदी फसल कि ओर मोड़ा गया था । नकदी फसल लगाने के बहुत सारे फायदे बताये गए थे। जिसके तहत कपास आदि जैसी फसल के उत्पादन पर जोर दिया गया। किसान लालच में आकर नकदी फसल उगाने लगे थे। इस कदम से शुरू में तो काफी फायदा हुआ। उत्पादन अचानक कई गुना बढ़ गया किन्तु समय के साथ इससे भूमि की उर्वरता कम होती चली गयी। मल्टीनेशनल कंपनियों को फायदा देने के लिए उनके द्वारा विकसित किये गए उर्वरकों के इस्तेमाल पर जोर दिया गया जिसका भूमि पर नकारात्मक असर पड़ा । किसान पहले तो इस लालच में आ गए किन्तु तात्कालिक लाभ का ये चक्र ज्यादा दिन तक नहीं चला और इस प्रकार वे कर्ज के चक्र में फंसते चले गए। इस प्रकार अच्छी फसल लगाने के कारण उत्पादन करने कि लागत बढती चली गयी। पर एक समय के बाद फसल कि लागत भी निकालना मुश्किल हो गया । फिर फसल पर प्राकृतिक आपदा अलग से आ जाती । जिस कारण फसल भी बीच-बीच में बर्बाद होने लगी थी। फिर किसान फसल लगाने के लिए कर्ज वापस भी नहीं कर पा रहे थे।

कर्ज लेने की इस मजबूरी की वजह को लेखक ने इस प्रकार दिखाया है। खेती की उपज भर से किसानों की जरूरतें पूरी नहीं हो पा रही हैं। ये जरूरतें खेती-बाड़ी से लेकर उनके पारिवारिक खर्चों, बच्चों की पढाई-लिखाई शादी-ब्याह कर्मकांड आदि खर्चों के लिए किसानों की गुजर-बसर नहीं हो पाती । इन सब जरूरतों को पूरा करने के लिए किसानो को न चाहते हुए भी ऋण लेना पड़ता है। ऋण लेने की इन परिस्थियियों का वर्णन लेखक ने एक पात्र मोहन बाघमारे के प्रसंग में दिखाया है। मोहन नाना के पास जब काम मांगने जाता है तो नाना मोहन के बारे में याद करता है कि कैसे मोहन शेतकरी से मजदूर बनने को मजबूर है।

“शेतकरी की एकता तोड़ने के लिए या उनके उद्धार के नाम पर भगवान जाने सन्न 2002 में आया था कापूस का महाबीज बी.टी. कॉटन बीज, क्या- क्या तो विलायत से कि अमरीका से! विलायती बीज हैं, नाजुक बीज, खाद चाहिए? लो! कीटनाशक भी चाहिए? लो! पैसे नहीं हैं, सरकार कर्ज दे रही हैं न, लो! लो और पानी! और पानी?

ऊपर वाला देगा न! उस साल ऊपर वाले ने दिया भी!...लेकिन अगले साल ही झटका लगा। बी.टी. कॉटन का महाबीज दूसरी बार फिस्स हो गया। अब फिर से बीज खरीदो। फिर से खाद, कीटनाशक, फिर से मजदूरी, फिर से कर्ज। यह तो सरासर धोखा है।''[38]

इसी तरह कर्ज लेने की एक अन्य घटना दूसरे पात्र शिबू जो कि कुआं खुदवाने के लिए बैंक से कर्ज लेता है, दिखाई गयी है। कर्ज लौटाने के क्रम में शिबू की पत्नी शकुन को अपनी हंसुली भी बेचनी पड़ती है।

कृषि के लिए आवश्यक आधारभूत संरचना की अनदेखी जिसमें स्टोरेज होम का निर्माण, उचित मंडियों की व्यवस्था, बीज भण्डारण केंद्र का निर्माण एवं अच्छे गुणवत्तायुक्त बीज की उपलब्धता आदि की उपेक्षा की जाती रही है। वैज्ञानिक पद्धति से खेती का समर्थन करने के बावजूद बीजों का विकास यहाँ की जलवायु की अनुकूलता, क्षेत्रीय भूमि की गुणवत्ता आदि को ध्यान में न रखकर किया जाता रहा। इतना ही नहीं किसानो द्वारा जो बीज पैदा किये जा रहे थे, उनके योगदान को संज्ञान में नहीं लिया गया।

नई आर्थिक नीतियां कृषि और कृषकों को लाभ पहूंचाने वाली होने के बजाये उलटे नुकसान ही पहुँचा रही हैं। इसका एक प्रमुख कारण इन कृषि नीतियों का क्रियान्वन कृषि और कृषको के हित को ध्यान में रखने के बजाये बाजार के हित को ध्यान में रखा जाना है।

किसानों को खेती में लगने वाली लागत के लिए कर्जा तो लेना ही पड़ता हैं। फसल पर प्राकृतिक प्रकोप आने पर कर्ज दो-तीन बार लेना पड़ता है। ''इस दफे पहली बार बादल बरसे थे तो कितनी खुशहाली थी! शिबू ने घर में और खेत में दोनों जगह पूजा के नारियल फोड़े । पर बीज बोते ही बरसात हो गयी।, इतनी जोरदार की बीजों का पता ही न चला। तीन दिन बाद आसमान खुला, सात दिन में धरती फिर जोतने लायक हुई तो फिर से बारिश होने लगी। लगातार दो दिन...। ये बीज भी गए अब यह तीसरा उपक्रम है। कर्ज उधार लेकर जैसे भी बने बोना तो हैं ही।''[39] प्राकृतिक आपदा या मानसून की अनिश्चितता एक प्रमुख कारण तो हैं ही जिसके निवारण के लिए सरकार द्वारा बनाई गई कोई भी वैज्ञानिक पद्दिति पर आधारित तकनिकी कारगर साबित नहीं हो पा रही थी।

नकद फसलो से मिलने वाले संभावित लाभ का आकर्षण किसानो के लिए फांस बन जाता है। किसान नकदी फसल जैसे ऊस (ऊख), कापूस (कपास) आदि को बोने के लिए आढ़तियों और मिल मालिकों से मोटा कर्ज लेंते है फिर तैयार फसल को उन्ही- आढ़तियों और मिल मालिको को बेचने के लिए मजबूर होते हैं चाहे फसल की कीमत जो भी हो।

हालाकिं किसानो को ऋण से उबरने के लिए सरकार द्वारा कर्ज माफ़ी का प्रावधान किया गया है लेकिन ये कर्ज माफ़ी छोटे किसानो के लिए कारगर साबित नहीं होती। क्योंकि छोटे किसान जिस भूमि पर अपनी फसल उपजाते हैं उस पर उनका मालिकाना हक नहीं होता और तथा कर्ज माफ़ी का लाभ खेतों के मालिकों को ही मिल पाता हैं। इस कारण छोटे और भूमिहीन किसान ऋण पाने और ऋण माफ़ी के पात्र नहीं होते। ''संस्थागत ऋण का बड़ा भाग दस एकड़ से ज्यादा जमीन वाले किसानो को मिल रहा हैं, जो उस पैसे को सूद के ऊँचे दर पर छोटे किसानो को दे रहे हैं मानो शेती नहीं सूद की फसल।''[40] इस कारण से बहुत से किसान महाजनों से ऊँची दरो पर ऋण लेने को मजबूर होते हैं। इसी सन्दर्भ में एक महिला किसान महाजन के पास जब कर्ज लेने जाती हैं तो महाजन के घर की औरतें सोचती हैं, 'यहाँ तो अक्सर मर्द ही आते हैं, तो फिर ये औरत यहाँ कैसें? दो साल हो गए पहले का कर्ज ही सूद मूल मिला कर एक लाख के करीब जा पहुँचा है। अब तुम कहती हो तुम्हें और पैसे चाहिए ? पहले पुराने लौटाओ फिर नए ले जाओ। नहीं तो सूद दर सूद इतना बढ़ जायेगा कभी उतार नहीं पाओगी। फिर शेत ही मेंरे को लिख देना पड़ेगा समझी वहिणी।''

किस तरह सरकार ने नकदी फसलें पैदा करने के लिए किसानो को प्रेरित किया, नए-नए सब्ज-बाग दिखाए और इन नई नकदी फसलों के उत्पादन करने में महंगे खाद-बीज आदि खरीदने को मजबूर किया जिसका फायदा बहुराष्ट्रीय कंपनियों को ही मिला। 'जब देश का हर फैसला देशी विदेशी कंपनियों को ही करना है तो सरकार क्यूँ हमें चूतिया बना रही हैं?' आगे लेखक डॉक्टर निसार अहमद के माध्यम से कहता है कि, 'पहले साल इसके कुछ फायदे हुए, किसान चौकें जब दूसरी बार बीज जमें ही नहीं। उन्हें तो आभास था कि एक साल के बीज से उत्पन्न बीज को दोबारा तिबारा इस्तेमाल करने का! यह हुआ नहीं। देसी बीज सात रुपये किलो था विदेशी 130 रुपये किलो। पहले जो-जो वादे किये थे सब खोखले साबित हुए। निराश, लुटा हुआ निरुपाय शेतकरी। यहाँ से शुरू होती हैं किसानो की आत्महत्याएं...। लेकिन हमारे बिके हुए नेता- सरकार कहां इसे रोकती हैं, उल्टे इसके प्रचार के लिए कमर कस ली है।

इस तरह नकदी फसल की उपज का फायदा किसानो के बजाये बड़ी देशी-विदेशी कंपनियों और साम्राज्यवादी देशों को हुआ। ‘‘नकदी फसल पूंजीवादी साम्राज्यवादी शक्तियों का फैलाया लोभ का जहर है। कपास सबसे बड़ी नकदी फसल है जो देश में सुनामी, गुजरात के दंगे, उत्तरांचल के 2013 के तांडव सब को जोड़ दें जितने मरे उससे भी ज्यादा अकेले 2012 तक 284649 जिसमें 68%कपास की खेती में आत्महत्या का कारण पूर्व वक्ताओं ने इन बी.टी. कॉटन, महंगी खेती, सिंचाई का अभाव सरकारी नीति और शराब को बताया है।’’[41]

इस उपन्यास में लेखक ने नई आर्थिक नीति से होने वाली तबाही को बखूबी दिखाया है । उपन्यास में डॉक्टर निसार अहमद किसानों की सभा में इस समस्या का जिक्र करते हुए कहते हैं, ‘‘तो मेंरे शेतकरी भाई लोग मेरा सवाल अपने तमाम नीति निर्माताओं से है कि, क्यूँ दलाल बनने जा रहे हैं- ऐसे अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों के आप? जबकि आप देख रहे हैं कि ये हमें मौत के मुंह में धकेल रहीं हैं। और इनके रिसाईंकिलिंग पुनरुत्पादन और पुनर्निवेश संभव नही हैं।’’ नीतियों के तहत जमीन का अधिग्रहण जोरों से चल रहा है। जिस कारण कृषि में रोजगार और उपज दोनों में कमी हो रही है। ‘‘ये फिल्म वाले, ये धर्म वाले पहले ये कॉर्पोरेटवाले, ये बिल्डर्स और दूसरे पैसे वाले सेठ देश की सारी लाभ देने वाली जमींन खरीद ही चुके हैं। आने वाले दिनों में खेती भी कॉर्पोरेट घराने वाले करेंगे। किसान का नाम ही मिट जायेगा। ओले शायद हमें बक्श दे, टिड्डियाँ हमें बक्श दे मगर ये टिड्डियों से भी खतरनाक हैं। ये लोग कुछ भी नहीं छोड़ते।’’

बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा विकसित कीटनाशक एवं खाद का खेती के साथ-साथ पर्यावरण पर भी होने वाले नकारात्मक असर को दिखाया है। ‘‘मेरे क्षेत्र में बी.टी. कॉटन के दो विस्फोटक परिणाम हुए हैं, संभव हैं आपके यहाँ पर भी हों। कापूस के डोंदे के कीड़ों का सफाया तो नहीं हुआ पर मधुमक्खियों, तितलियों और भवरों का सफाया हो गया। इसके अलावा कीटनाशक तो हैं ही जहर ...। डोंदे के कीड़े भी न मरे। प्राकृतिक परागण से भी हाथ धो बैठे। मधु भी जहरीला हो गया यानि मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की। इन कीटनाशकों, उर्वरको का खेती में प्रयोग होने से पैदा होने वाली खाद्यान फसलो एवं सब्जियों के प्रयोग से मनुष्य के स्वस्थ्य पर बुरा प्रभाव पड रहा हैं और वे कई लाइलाज बीमारियों से ग्रस्त होते जा रहे हैं। कीटनाशक है या मनुष्य नाशक? फसलों में कीड़े न लगे अतः कीटनाशक छिड़काव जरुरी है। प्रचलित केमिकल कीटशाको के साथ सबसे पहली दिक्कत यह हैं कि वे मिट्टी, पानी, बीज में मिलकर हमारे लिए

संहारक सिद्ध हो रहे हैं, पंजाब और गुजरात के कितने ही किसान कैंसर और दूसरे बीमारी से ग्रस्त हो चुके हैं । एक ट्रेन का नाम ही पड़ गया कैंसर एक्सप्रेस । मिटटी, पानी, हवा यानि सबको हो गया है ज्यादा मुनाफा के चक्कर में।"[42]

जेनिटिकली मॉडिफाइड बीज के साथ दिक्कत यह है कि हमें अक्सर पता नहीं होता के कौन सा भस्मासुर बना रहे हैं हमे कौन सा जीव हमें बाँझ या नपुंसक बनाएगा और कौन सा कैंसर पार्किसन्स अल्जैमेंर कारायेगा ।

किसानो की इस दयनीय हालत का कारण इन नीतियों में होने वाला भ्रष्टाचार है। कर्ज देने की प्रक्रिया से लेकर कर्ज माफ़ी व मुआवजा सभी स्तर पर भ्रष्टाचार शमिल हैं । 'मुआवजे का ये हाल है की घूंस दो, मुआवजा लो। एक खेत को मिला बगलवाले मेरे खेत को नहीं। इसी तरह बुन्देलखंड के एक किसान प्रजापति की पूरी फसल इस बार ओले से नष्ट हो गयी। गिड़गिड़ाता रहा, कोई मुआवजा नहीं मिला। घर जाकर जहर पी कर मर गया।'

किसान कोई लिंग विशेष की श्रेणी नहीं है। किसान जीवन की समस्याओ का सामना महिला किसान भी करती है। वे भी आत्महत्या करती हैं। उपन्यास में सभी महिला चरित्र खेती किसानी करती हैं। जब खेती किसानी का संकट उनके कंधो पर आता है तो वो भी पुरुष किसानो की तरह ही असहायता की स्थिति में आत्महत्या करने को मजबूर होती हैं। उपन्यास में आशा वानखेड़े की आत्महत्या को हम देख सकते हैं। उपन्यास में शकुन, सिन्धुताई, आशा आदि महिला किसानो की जीवटता का जीवंत उदाहरण हैं।

सन्दर्भ

---

[1] जगदीशचंद्र: धरती धन न अपना, पृष्ठ संख्या 253

[2] वहीँ से, पृष्ठ संख्या 255

[3] वहीँ से, पृष्ठ संख्या 257

[4] वहीँ से, पृष्ठ संख्या 260

[5] जगदीशचंद्र: जमीन तो अपनी थी, पृष्ठ संख्या 143

[6] वहीँ से, पृष्ठ 201

[7] लोकऋण:विवेकी राय , पृष्ठ संख्या 14

[8] वही से, पृष्ठ संख्या 18

[9] डूब: वीरेंद्र जैन, पृष्ठ संख्या 110

[10] वही से, पृष्ठ संख्या 243

[11] वही से, पृष्ठ संख्या 283

[12] पार: वीरेन्द्र जैन, डूब , पृष्ठ संख्या 31

[13]वही से, पृष्ठ संख्या 166

[14] बेदखल: कमलाकांत त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या 109

[15] वही से, पृष्ठ संख्या 36

[16] वही से, पृष्ठ संख्या 42

[17] वही से, पृष्ठ संख्या 106

[18]मधु कांकरिया, खुले गगन के लाल सितारे:, पृष्ठ सं 13

[19] वही से, पृष्ठ संख्या 127

[20] वही से पृष्ठ संख्या 123

[21] वही से, पृष्ठ संख्या 29

[22] वही से, पृष्ठ संख्या 122-23

[23] वही से, पृष्ठ संख्या 129

[24] विद्यासागर नौटियाल ,यमुना के बागी बेटे:, पृष्ठ संख्या 58-60

[25] वही से, पृष्ठ संख्या 90

[26] वही से, पृष्ठ संख्या 91

[27] वही से, पृष्ठ संख्या 120

[28] वही से पृष्ठ संख्या, 70

[29] मधुकर सिंह, बाजात अनहद ढोल:, पृष्ठ संख्या 11

[30] वही से, संख्या 6

[31]पुन्नी सिंह, सहराना:, पृष्ठ संख्या 51

[32] वही से, पृष्ठ संख्या 75

[33] वही से, पृष्ठ संख्या 117

[34] फांस:संजीव, पृष्ठ संख्या 14

[35] वही से, पृष्ठ संख्या 15

[36] वही से, पृष्ठ संख्या 15

[37] वही से, पृष्ठ संख्या 17

[38] वही से, पृष्ठ संख्या 37-38

[39] वही से, पृष्ठ संख्या 99

[40] वही से, पृष्ठ संख्या 220

[41] वही से, पृष्ठ संख्या 192-93

[42] वही से पृष्ठ संख्या 190

अध्याय 5

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन का सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ

किसान जीवन के सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष में यथार्थ के समान ही गतिशीलता का तत्व समाहित है। यह परिवर्तनशील है जिसमें लगातार बदलाव आ रहा है। किसान जीवन के साथ उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक सरंचना भी बदल रही है। इस बदलते परिदृष्य को समझना जटिल है, इसीलिए इस बदलाव की पूरी प्रक्रिया को समग्रता में देखा जाना चाहिए। समाज की पूरी प्रक्रिया में बदलाव आता है और वह परिवर्तन धीरे-धीरे हर क्षेत्र की संरचना में दिखायी पड़ता है। सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन के सूक्ष्म तत्वों के अध्ययन को समग्रता में समझने की आवश्यकता पर विद्वान ज़ोर देते है । ''आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन का विषय बहुत विस्तृत और जटिल है। उनको ठीक-ठाक समझने के लिए आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास, कानून, राजनीति, शिक्षा, धर्म, जनांकिकी और समाज विज्ञान जैसे विभिन्न क्षेत्रों के बहुत से अध्येताओं के दीर्घकालीन सहयोग की आवश्यकताहोगी। उसके लिए प्रादेशिक, भाषागत तथा अन्य भिन्नताओं का लेखा-जोखा करना पड़ेगा।''[1]

किसी भी समाज की संस्कृति की प्रमुख विशेषताएं और उसमें होने वाले परिवर्तन, व्यापक प्रक्रियाओं से निर्धारित होते है। जैसा कि दूसरे अध्याय में किसान जीवन के विकास क्रम की ऐतिहासिकता के विश्लेषण से यह पता चलता है कि, किसी भी समाज के राजनीतिक-आर्थिक एवं सामाजिक-संस्कृतिक आयाम आपस में अंतर्संबंधित और अंतरनिर्भर रूप से एक दूसरे से जुड़े हुए होते हैं । और वे एक दूसरे से प्रभावित होते हुए एक दूसरे को प्रभावित करते है। इसी क्रम में किसान वर्ग के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में घटित प्रवृत्तियां, परिवर्तन वृहद राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था से जुड़े हुए हैं। जैसा की समाजशास्त्री योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि, ''परिवर्तन और निरंतरता ऐसी दो प्रमुख सामाजिक प्रक्रियाएं हैं जिसके माध्यम से किसी भी समाज की स्थिति को समझने के लिए उस समाज का व्यापकता में अध्ययन किया जाता है ।''[2] वे अपनी पुस्तक 'भारतीय परंपरा का आधुनिकीकरण' में इसी परिवर्तन को बताते है कि किस प्रकार किसी भी समाज के संस्कृति में होने वाले छोटे से छोटे परिवर्तन भी व्यापक आर्थिक तकनीकीगत परिवर्तनों से प्रभावित होते हैं।

इस अध्याय में उन दो अवधारणाओं-संस्कृतिककरण[3] और सामाजीकरण पर व्यवस्थित ढंग से विचार करने का प्रयास किया गया है। चयनित समकालीन हिन्दी के बारह उपन्यासों में धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन की कुछ एक महत्वपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इस व्याख्या में किसान जीवन के यथार्थ में समकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन को देखा जा सकता है।

ग्रामीण भारत के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में जो परिवर्तन आ रहे हैं, उन्हें पूरी तरह से शोध ग्रंथ में दिखा पाना कठिन है; पर कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन को स्पष्ट करना आवश्यक है। इन परिवर्तनों में किसान जीवन की संस्कृति महत्वपूर्ण है। किसान अपने सामाजिक,धार्मिक और संस्कृति के मूल्यों को जीवन का वास्तविक यथार्थ मानते हैं। जैसा कि ग्रामीण समाज और शहरी समाज में अंतर को स्पष्ट करते हुए विस्लर, रेड्फील्ड आदि समाजशास्त्रियों का मानना है कि ग्रामीण समाज प्रायः कृषि व्यवस्था से जुड़ा, परंपरागत समाज होता है, जहाँ प्राथमिक सम्बन्ध गहरे होते हैं, लौकिक या धार्मिक विश्वास, मूल्यों की प्राथमिकता, प्रकृति से निकटता होती है। ये सभी तत्व किसान समाज के जीवन में प्रतिबिंबित होते हैं।

किसान जीवन में उनके सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य कृषि व्यवस्था और पद्धित से प्रभावित और जुड़े हुए होते है। फ़्रांसिसी मार्क्सवादी दार्शनिक लुईस अल्थ्युसर[4] अपनी पुस्तक 'आईड़ोलोजी एंड आइडियोलॉजिकल स्टेट अपरेट्स' में बताते हैं कि, 'उत्पादक शक्तियों का उत्पादन ऐसी मजदूरी व्यवस्था सुनिश्चित करता है जिससे सर्वहारा वर्ग को उतनी ही न्यूनतम मजदूरी मिलती रहे जिससे वह काम करने के लिए जिन्दा भर रह सके। और उसकी परिस्थिति वही बनी रहे, उसमें कोई सुधार न हो। वह अपने प्रभुत्व की स्थिति को बनाये रखने के लिए दो उपकरण का प्रयोग करता है- राज्य के दमनात्मक उपकरण और राज्य के वैचारिक उपकरण।

राज्य एक दमनात्मक उपकरण है जो कि शासक वर्ग को सर्वहारा वर्ग पर शासन एवं प्रभुत्व कोबनाये रखने के लिए काम करता है। जिसके प्रमुख तत्व पुलिस, न्यायपालिका, प्रशासन, जेल आदि हैं। जब कभी कोई व्यक्ति या समूह राज्य की प्रभुत्वशाली विचारधारा को चुनौती देता है, तो राज्य अपने इन्हीं तत्वों के माध्यम से उनका दमन करता है। वही दूसरी तरफ राज्य के नैतिकता और आचार-विचार सम्बन्धी मूल्य, वैचारिक उपकरण के रूप में काम करते हुए राज्य के दमनात्मक

उपकरण को ढकने का काम करते हैं। यह राज्य के दमनात्मक उपकरण से अलग हिंसक नहीं होते। इसके अंतर्गत धार्मिक व्यवस्था, शिक्षा, नैतिकता, सांस्कृतिक समूह आदि आते है।' इस अध्याय में हम यही देखेंगे कि किसान समाज के जो भी सामाजिक संरचना के सांकृतिक तत्व हैं,उनका स्वरुप और उनमें होने वाले परिवर्तन किस प्रकार समाज की अधिरचना से प्रभावित होते हुए परिवर्तन और निरंतरता की प्रक्रिया में बने हुए हैं।

सामाजिक संरचना और किसान जीवन

परिवार, विवाह, समुदाय, जाति, वर्ग, संस्था, नातेदारी आदि सामाजिक संरचना के अंतर्गत आने वाले तत्व हैं। किसान का स्थानीय निवास ग्रामीण परिवेश होता है। जैसा कि पहले भी विवेचना की जा चुकी है कि किसान कोई एक समरूप श्रेणी नहीं, बल्कि इसकी कई श्रेणियां हैं। हमारे विश्लेषण का केंद्र छोटे, भूमिहीन गरीब किसान हैं जो कि निम्न वर्ग से आते हैं । इस वर्ग के किसान के लिए धर्म, जाति, पारंपरिक मूल्य, नैतिकता ज्यादा महतवपूर्ण हैं। यह बात चयनित उपन्यासों के कई प्रसंगों में साफ़ तौर पर दिखाई देती है।

जाति-बिरादरी की चेतना किसानों में गहराई से जुड़ी हुई है। धर्म-जाति बिरादरी की ये भावना इतनी जटिल है कि इसके चलते ही शोषण उत्पीड़न के खिलाफ किसानों में सामूहिकता का बोध जगता है। वही दूसरी ओर किसान आन्दोलन में यही जाति-बिरादरी संगठित होने में रूकावट भी डालती है।जाति,धर्म वर्ग के रूप में किसान की बहुआयामी पहचान हैं जिनमें आपसी अंतर्विरोध समय के साथ देखा जा सकता है। जब किसान अपनी आर्थिक तंगी के लिए आन्दोलन करते हैं, अपनी समस्याओं को उठाते हैं, तब 'किसान' अपनी पेशेगत पहचान के आधार पर संगठन बनाकर आन्दोलन में शामिल होकर अपनी मांगों के लिए संघर्ष करते हैं।उस समय जाति-पांति, धर्म, क्षेत्र, भाषा, लिंग आदि को भूलकर एक पहचान में आ जाते हैं। वह पहचान 'किसान' की व्यापक पहचान हो जाती है।

उच्च जाति-वर्ग के प्रभुत्वशाली लोग समाज पर अपना नियंत्रण और प्रभाव बनाये रखने के लिए वर्गीय चेतना के इतर जाति-धर्म-परंपरा की चेतना को बनाये रखना चाहते हैं। ऐसे में जाति धर्म के मूल्य प्रबल हो जाते हैं। ऐसे धार्मिक-जातीय संघर्ष की स्थिति में किसान की अपनी जाति-धर्म की पहचान प्रमुख हो जाती हैं। वे जाति-धर्म

क्षेत्र की लड़ाई में शामिल हो जाते हैं। वैसे किसानों की कोई एक श्रेणी नहीं है। जाति-धर्म के इस आपसी संघर्ष में किसानों की मध्यम श्रेणी ज्यादा प्रभावित होती है। किसानों की निचली श्रेणी भी सामाजिक-धार्मिक रूप से संचालित होती है पर उसका मुख्य कारण उनकी खराब आर्थिक दशा ही है। आर्थिक दशा खराब होने के कारण वह किसान लालच-मजबूरी में आकर वह ऐसे मिथ्यापूर्ण आंदोलनों में शामिल हो जाता है। उसे लगता है कि खेती-मजदूरी से गुजारा तो हो नहीं रहा है। ऐसे ही अवसरों पर उसे कुछ मिलने की गुंजाइश लगती है। बड़े/अमीर श्रेणी के किसान तो अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक धार्मिक पहचान के साथ किसान की भी पहचान को जीते हैं। इन सब घटनाओं से उनकी स्थिति में ज्यादा अंतर नहीं आता। सामाजिकता-धार्मिकता और जातीयता के बजाये उनका ध्यान खेती-उत्पादन पर अधिक केन्द्रित रहता है। खराब स्थिति में भी वे बाकी किसानों से अपेक्षाकृत बेहतर हालत में ही रहते हैं।

जाति-धर्म का यह अंतर्विरोध कई उपन्यासों के माध्यम से हमारे सामने आता है। अवध प्रान्त की पृष्ठभूमि पर आधारित 'बेदखल' उपन्यास में आये दिन बढ़ते लगान की दर, मजदूरी न देने के रूप में शोषण-अत्याचार बढ़ता जाता है। बाबा रामचंद्र नामक पात्र किसानों को रामायण की लोकप्रिय चौपाइयों के आधार पर संगठित कर आन्दोलन की ज़मीन तैयार करते हैं। जातिगत शोषण के विरूद्ध जातिगत गोलबंदी का कुछ ऐसा ही प्रतिरोध बनाफर चन्द्र के उपन्यास 'जमीन' में भी देखने को मिलता है।

विवाह से सम्बन्धित संस्कार और रीतियों का वर्णन करना कठिन है, क्योकि वे सभी क्षेत्रों, जातियों में एक समान रूप से नहीं होते हैं । आदिवासी समाज में विवाह के लिए लड़का या लड़की को खोजना हिन्दू समाज की अपेक्षाकृत आसान और कम दबावपूर्ण नियम हैं । इस बात का जिक्र उपन्यासों में भी देखने को मिलता है। 'बाजत अनहद ढोल' में जोबा-सुकेल का रिश्ता, 'सहारना' में सोमा-चंपा का सम्बन्ध, 'पार' में मुइया नामक पात्र आदि इसके उदाहरण हैं। हालांकि जनजातियों में विवाह का आयोजन हिन्दू रीति-अनुष्ठान से अलग होता है लेकिन रिश्ते के लिए गाँव के बड़े-बुजुर्ग सम्मानित व्यक्तियों की अनुमति जरुरी है। विवाह आयोजन पर भोज देना अनिवार्य है यह एक प्रकार से सामाजिक स्वीकृति और सामूहिकता का प्रतीक है ।

गांवों में मृत्यु पर दाह संस्कार के बाद भोज देने का चलन है । भोज का बड़ा आयोजन मृत व्यक्ति के प्रति सम्मान और उसके अच्छे कर्मों का फल और स्वर्ग

मिलने की गारंटी के रूप में देखा जाता है। 'धरती धन न अपना' उपन्यास में काली की चाची प्रतापी जब अंतिम सांस ले रही होती है तो प्रीतो काली से कहती है कि, 'काका, प्रतापी के सिरहाने अनाज रख दो । अंत में दान-पुन ही साथ जाता है।''[5] दाह संस्कार के समय चिता से दूरी पर बैठी स्त्रियाँ सामग्री और घी की खुशबू सूंघ रही थी । प्रीतो नथुने फुलाते हुए बोली, ''देसी घी है...मैं तो खुशबू सूंघकर बता सकती हूँ।'' वह आगे कहती है, ''भाभी प्रतापी ने पिछले जनम में बहुत ही अच्छे कर्म किये होंगे जो उसकी चिता पर भी देसी घी डाला गया है। एक हम हैं जिन्होंने जीते जी भी देसी घी चखकर नहीं देखा।''[6] इन संस्कारों के अलावा किसान अपनी मनोकामना पूरी होने के लिये कुछ मन्नतें मांगतें हैं । अगर यह मन्नत पूरी हो जाती है तो किसान अपने देवी-देवता पर कुछ चढ़ाने या समारोह आदि करने का वचन देता है । मन्नत पूरी होने पर चढ़ावा पूरा करने में लग जाते है । जैसे धार्मिक तीर्थ यात्रा, पवित्र स्नान, घर में धार्मिक पाठ आदि।

इस तरह के सांस्कृतिक तत्वों में बहुत ज्यादा परिवर्तन नहीं हुआ है । गांवों में धार्मिक तीज, त्यौहार समारोह आयोजित किये जाते हैं जिसमें पूरा गाँव मिलकर चंदा इकट्ठा करता हैं जो कि 'धार्मिक पुण्य' का काम माना जाता है । स्वाधीनता आन्दोलन के दौर में महात्मा गाँधी के प्रभाव के चलते कई स्थानों में लिखने-पढ़ने, जागरूक-चेतनाशील बनने के उद्देश्य से पुस्तकालय का निर्माण भी एक तरह के पुण्य के काम के रूप में देखा जाता था। विवेकी राय के उपन्यास 'लोकऋण' में पुस्तकालय के स्थापना को लेकर उसमे शामिल लोगों की भावना का जिक्र करते हैं । जब महात्मा गाँधी पुस्तकालय के सभापति त्रिभुवन पुस्तकालय की किताबों को अपने घर रखवा लेता है और पुस्तकालय की जमींन पर कब्ज़ा कर लेता है तो उसके बड़े भाई धर्मराज अपने मन में सोचते हैं कि, 'पुस्तकालय का पौधा तो गाँव में उन्हीं का लगाया है। उसकी चर्चा चलने पर लगता है, उनका ह्रदय फट जायेगा।... सन 32 में प्रतिज्ञा किया था की जब तक पुस्तकालय के लिए ग्यारह सौ रूपया एकत्र नहीं हो जायेगा अन्न जल नहीं ग्रहण करूँगा । गाँव ने दिन भर में इंतजाम कर दिया। एक साल उसके वार्षिकोत्सव में कुछ लोगों के आपसी वैर-विरोध के कारण गाँव की एक पट्टी के लोग नहीं आये । धर्मराजजी दूसरे दिन आमरण अनशन पर ! तो लोग फिर जुटे और माफ़ी मांगी, हरी कीर्तन किया।[7]

मुसलमानों के त्यौहार, मुहर्रम, शबे-बारात, रमजान, ईद-उल-जुहा आदि रीति परंपरा के अनुसार मनाये जाते हैं । इनमें जो भी बदलाव आ रहा है वह बाज़ार के प्रभाव के कारण आ रहा है । आज त्योहारों का बड़ी तेजी से बाजारीकरण हो रहा है। बाजार त्यौहार की परंपरा के अनुसार नई-नई चीजे बनाने की कोशिश कर रहा है और उन चीजों का बड़े जोर शोर से प्रचार कर रहा है।

त्यौहार सभी के लिए एक 'अवसर' के समान है। एक ओर बाजार और सेठ-महाजन के लिए पैसा कमाने का अवसर है, तो वही ग्रामीण औरतों के लिए यह दैनिक जीवन से अलग एक नयापन का आभास कराता है । हालांकि छोटे गरीब किसान परिवारों के लिए यह एक तरह से आर्थिक दबाव का अवसर ले कर आता है। ऐसे ही एक घटना का जिक्र संजीव के उपन्यास में 'फ़ांस' में आता है कि, ''अगले महीने बैंक का 25हजार का कर्ज अदा करना है । आज गुढीपावड़ा है-मराठी नव वर्ष। शिबू का पूरा परिवार खाने पर बैठा है । चावल, चावल का माड़, भुना हुआ महुआ और कलमी के साग के साथ कांदा(प्याज)। .. शुभा सामने आकर खड़ी हो गयी तो झेंप गया पूरा परिवार! शुभा ने तरस खाती जुबान से कहा-'आज नववर्ष है। आज तो कुछ कायदे की चीज़ बना लेती! चलो मैं देती पूरण पोली !...नहीं वहिणी कोई दिन तो आएगा, हम भी पूरण पोली और देर सारा पकवान बनायेंगे। आज रहने दो।''[8] त्यौहार-उत्सव का समय भी गरीब किसानों पर एक बोझ ही बन जाता है।

किसान की प्रकृति पर निर्भरता और धार्मिक विश्वास

शिक्षा, जागरूकता और चेतना के अभाव के चलते गाँव के बड़े-बूढ़े किसान परंपरागत मूल्यों को सहेजना-निभाना अपना धर्म समझते हैं। किसान अपनी खेती से पहले जाति, धर्म से जुड़ता है। वह अपनी जाति धर्म को अपनी जीविका से पहले 'बचाता' नजर आता है और खेती बाद में देखता है। 'फांस' उपन्यास के एक पात्र मोहन बाघमारे जब कर्ज लेकर खेती करते है और फसल ख़राब होने पर कर्ज चुकाने के लिए भी उन्हें कर्ज नहीं मिलता तो अंततः न चाहते हुए भी अपना बैल बेचना पड़ता है। जब उन्हें अन्य लोगों से पता चलता है कि बैल को खरीदने वाला ग्राहक उनके बैल को कसाई को बेचता है तो वह अपराधबोध और ग्लानि से भरकर ख़राब माली हालत में भी पश्चाताप करने के लिए काशी से आये पंडित निरंजन देव गिरी के पास जाते है। पंडित निरंजन देव गिरी कहते हैं, ''गो हत्या का प्रायश्चित संस्कार, मात्र दस

रूपए में?" वे दस रूपए के नोट को तितली बनाकर उड़ा देते हैं और आखिर में सौ रूपए के नोट को देख कर बोलते हैं, "बहुत भयंकर पाप है गो वध! बहो....त!" "बैल के गले का फंदा गले में डालकर एक भिक्षा पात्र लेकर भीख मांगनी पड़ेगी । शुद्धि तक न घर में घुस सकते हैं, न मनुष्य की बोली बोल सकते हैं। बैल की बोली- बां बां ! या फिर संकेत ! क्या समझे ?"[9]

ग्रामीण जीवन में बुर्जुआ लोकतांत्रिक मूल्य और तार्किकता का अभाव देखा जा सकता है। ऐसा नहीं है कि किसान बहुत तार्किक, वैज्ञानिक सोच वाला जीवन जीते थे और अब उसमें अचानक गिरावट आ गयी है। ऐसा बिल्कुल नहीं है। चेतनशील किसान अपने हक और अधिकार, राज्य व्यवस्था का अपने प्रतिदायित्वऔर अपने हक अधिकार भी समझता है। शारीरिक-बीमारी और प्राकृतिक आपदा के कारणों को समझता है। पर अब इन सबमें चेतना की कमी दर्ज की जा सकती है। वैसे खेती मौसम का जुआ कही जाती है। मौसम खेती के अनुकूल रहा तो फ़सल भी अच्छी हो जाती है।

ख़राब मौसम और प्राकृतिक आपदा को किसान अदृष्य ताकतों का प्रकोप समझता है और उस 'प्रकोप' से बचने के लिए धार्मिक कर्मकांड करता है। वह प्रार्थना करता है, दुआ करता है कि इस बार इस प्रकोप से बचा लो। कभी-कभी कुछ फसल बच भी जाती है पर कभी सब नष्ट हो जाता है। इस प्राकृतिक आपदा के चलते किसान अदृष्य सत्ता का हमेंशा गुलाम बना रहता है। अदृष्य सत्ता के अस्तित्व से ही तमाम अंधविश्वास और बुराईंया किसान लेकर जीते जा रहे हैं। किसान की खेती व अपनी सामाजिक स्थिति के लिए अलौकिक सत्ता पर निर्भरता की प्रवृत्ति लगभग सभी उपन्यासों में दिखाई गयी है जो एक सामाजिक तथ्य है। इस घटना का एक दृष्टांत 'फांस' उपन्यास में देखने को मिलता है।

"इस दफा पहली बार बादल बरसे थे तो कितनी खुशहाली थी। शिबू ने घर में और खेत मे दोनों जगह पूजा के नारियल फोड़े । पर बीज बोते ही बरसात हो गयी, इतनी जोरदार कि बीजों का पता ही न चला। तीन दिन बाद आसमान खुला, सात दिन में फिर धरती जोतने लायक हुई तो फिर से बारिश होने लगी। लगातार दो दिन ...। ये बीज भी गए। अब तीसरा उपक्रम है । कर्ज उधार लेकर जैसे भी बने, बोना तो है ही। धरती माँ कि गोद भराई तो करनी ही पड़ेगी, ऐसे कैसे छोड़ा जा सकता है । हे काली

माँ ! कुछ न कुछ तो देगी ही । इस बार पूजा करते समय सिर को माटी से कई बार लगाया थे शिबू ने। बल्कि शगुन के लिए शकुन के गालों पर भी ढिठौने सा जड़ दिया, कुल देवी से मिन्नते करते समय कंठ भारी हो गया- 'अब इम्तहान मत लेना देवी ! मर जाएंगे हम। शकुन के कान की बाली बेचकर बीया खरीदा है।''[10]

ग्रामीण जीवन में आज भी बीमारी को प्राकृतिक प्रकोप के रूप में देखी जाती है। बीमारी के इलाज के लिए किसान अलौकिक शक्ति, देवी-देवता जादू टोना-टोटका को जिम्मेदार मानते है । 'असामान्य बीमारियाँ और जल्दी-जल्दी होने वाली मौतें लोगों का ध्यान अप्राकृतिक कारकों की ओर आकर्षित करती हैं । अधिकांश बीमारियों को या जन्मजात शारीरिक विकलांगता आदि को पूर्व जन्म का दोष और अपशगुन के रूप में देखा जाता है । सामान्य सर्दी जुखाम, बुखार, सिर दर्द आदि को छोड़ कर कई बिमारियों जिनके बारे में लोगों को जानकारी नहीं है उसे कुदरत या अलौकिक शक्ति का प्रकोप माना जाता है। इस प्रकोप के पीछे कई वजहों को दोषी माना जाता है। जैसे- पूर्वजों का क्रोध, भूत-प्रेत, बुरे नक्षत्र, देवताओं का रुष्ट होना, काला जादू और टोना टोटका ।

यदि किसान वैज्ञानिक विधि से खेती करेंगे तो इन समस्याओं में भी गिरावट आ सकती है। आजादी के दशकों बाद भी लोकतांत्रिक हक और अधिकार के प्रति ग्रामीण किसान में चेतना का अभाव है। किसान की समस्याएं लगातार बढ़ती जा रही हैं। किसान की समस्याओं का समाधान हमारी राज्य व्यवस्था करना नहीं चाहती है बल्कि उनके आपसी अंतर्विरोध को भड़काने का काम करती है। जबकि किसानों के यह अंतर्विरोध 'खेती' का अन्तर्विरोध नहीं है। बड़े किसानोंका वर्ग न सिर्फ अपने से छोटे वर्ग के किसान का शोषण उत्पीड़न करता है। बल्कि यह सत्ताधारी वर्ग इन्हें जाति, धर्म, क्षेत्र के आधार पर लड़ाता आया है। यह चाहते हैं कि किसान आपस में लड़ते रहें तो वह अपनी समस्याओं के प्रति ध्यान नहीं दे पायेंगे। इन समस्याओं से फायदा इसी सत्ताधारी उच्च जाति-वर्ग के लोगों को मिल रहा है। किसान जितना ज्यादा शोषित उत्पीड़ित होगा, उतना ही ज्यादा फायदा शोषण-उत्पीड़न करने वालों का होगा। किसानों का शोषण-उत्पीड़न करने वाला वर्ग कभी नहीं चाहता है कि किसान अपने शोषण उत्पीड़न के खिलाफ शिक्षित हो। उसमें अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता आये। वैसे भी बहुसंख्यक किसान वर्ग का शोषण उत्पीड़न करने वाला अल्पसंख्यक अमीर किसान वर्ग है जो कि शासक वर्ग का हिस्सा ही है इसलिए वह

चाहता है कि किसान शासन से अपने लिए राहत भी न मांगें।अगर किसान राजनीतिक रूप से शिक्षित होगा, अपने हक-अधिकार के प्रति जागरूक होगा और अपने ऊपर होने वाले जुल्म, शोषण के खिलाफ संघर्ष करेगा। तब इसका फायदा किसान को मिल सकता है और नुकसान ऐसा कराने वाले बड़े किसानों को होगा।

किसानों को आपस में सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, क्षेत्रीय जैसे आधारों पर रणनीतिक रूप से प्रतिद्वंदी के रूप में लड़ाये जाना नयी बात नहीं है। लड़ने वाला वर्ग ही शोषण उत्पीड़न करता है और शासन सत्ता भी चलाता है। जिसके चलते किसान अपनी खेती-किसानी संबंधी मूलभूत समस्याओं से भटक जाता है। वर्तमान समय में दोहरे शोषण की संस्कृति बहुत बढ़ गयी है।

उदाहरण के तौर पर पश्चिमी उत्तर प्रदेश में किसानों का 'भारतीय किसान यूनियन' नामक एक बड़ा संगठन था जिसने किसानों की समस्याओं को लेकर तमाम बड़े संघर्ष किए थे। किसानों के इन संघर्षों ने सरकार और गन्ना मिल मालिकों को अपने संघर्ष के आगे झुकने को मजबूर किया। अपने संघर्ष की शक्ति से बिजली की दर भी कम करने मे कामयाब हुऐ थे और गन्ना मिल मालिकों से समय पर नियमित रूप से उपज का भुगतान करवाने में सफल हो रहे थे। इस संघर्ष की शक्ति किसानों की आपसी एकता थी। इस संघर्ष में किसान अपनी धार्मिक, जातीय पहचान को छोडकर 'किसान' के रूप मे संगठित हुये थे जिसमें हिन्दू, मुस्लिम, जाट, जाटव, गुर्ज्जर, अहीर आदि किसानों ने भाग लिया था। लेकिन 2013 में धार्मिक, जातीय, सांस्कृतिक पहचान हावी होने लगी जिससे किसान एकता बिखर गयी और इनमें आपसी संघर्ष शुरू हो गए।

अब किसान हिन्दू जाट, जाटव-मुस्लिम जाट-जटाव प्रतिद्वंदी के रूप मे एक दूसरे के सामने आने लगे हैं। इनमें भयंकर संघर्ष हुआ। सैकड़ों लोग मारे गये थे। लाखों की सम्पत्ति का नुकसान हुआ। यह नुकसान किसका हुआ; कौन लोग मारे गये? अगर देखा जाये तो नुकसान उठाने वाले भी किसान ही थे और मरने वालों में भी किसान ही थे। इस संघर्ष का फायदा किन्हें मिला था? फायदा इस लड़ाई को करवाने वाले को मिला। सांस्कृतिक-धार्मिक डर दिखा कर उन्हें किसानों का समर्थन मिलने लगा था। यह समर्थन 'किसान' के रूप में कम जाट, हिन्दू, के रूप में ज्यादा था। दूसरा फायदा उन व्यापारियों को मिला जिन्होंने किसानों की फसल सस्ते दामों में खरीद ली।ऐसे

सांप्रदायिक संघर्ष के बाद गन्ना मिल मालिकों ने किसानों के बिलों का भुगतान समय पर नहीं किया। अब तक नियमित भुगतान पाने वाले किसानों की एकता टूट गयी थी। किसान अपनी मांग कैसे उठाए, अब वह 'किसान' नहीं रह गये थे। वह अब 'किसान' से गुर्जर, जाट, जाटव, मुस्लिम बन गये थे। अब किसान एक साथ न आकर अपने जातीय-धार्मिक समूह के साथ आंदोलन करने आते थे जिससे उनकी संख्या कम हो गयी और किसान आंदोलन कमजोर हो गया। बिखरे किसान आंदोलन से सरकार और मिल मालिकों पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता था। हर जाति-धर्म के किसानों का उत्पीड़न-शोषण हुआ। हर धर्म-जाति के मालिकों का सीधा-सीधा फायदा हुआ।

ये सामाजिक-धार्मिक-सांस्कृतिक दंगे जिन्हें सांस्कृतिक संघर्ष के रूप में पेश किया जाता है। यह सांस्कृतिक-धार्मिक संघर्ष किसानों का संघर्ष नहीं, प्रभावशाली वर्गों के हितों का संघर्ष है। इसे देखने से पता लगता है कि इस संघर्ष में किसानों ने अपनी एकता खोई, अपने किसान साथियों को खोया। अपने खून पसीने की मेहनत को लुटाया, अपनी फसल को बर्बाद कराया। यह नफरत किसानों के अन्दर तक चली गयी है क्योंकि किसानों ने अपने सगे-सम्बन्धियों को खोया है। यह खोने का आरोप अपने आस-पास के रहने वाले दूसरे किसानों पर लगाया है। जब यह आरोप दूसरे किसानों पर लगाया जा रहा है तब वह किसान न होकर मुस्लिम, जाट, गुर्जर, जाटव रह जाते हैं। यह नफरत इतनी ज्यादा भर गयी है कि इन किसानों में सहजता से एकता नहीं बनेगी। आरोपित सांस्कृतिक पहचान हावी होने लगेगी। ऐसा कराने वाले आराम से ऐशगाह में बैठकर ऐश कर रहे होंगे। शोषण की यह संस्कृति किस प्रकार धीरे-धीरे बदल रही है इसका प्रभाव ग्रामीण भारत और किसान पर पड़ता साफ नजर आता है।

'जमीन' उपन्यास में उच्च जाति वर्ग के रमन बाबू के बेटे सतेन्द्र की पिछड़ी जाति के मदन महतो के बेटे जगदीश से लड़ाई में कमीज फट जाती है। वह अपने पिता रमन बाबू से उस घटना के बारे में बताता है कि, ''मदन का लड़का जगदीश बहुत बदमाश हो गया है। किसी से नहीं डरता । ऊंच-नीच का तनिक भी खयाल नहीं रखता। बात-बात पर लड़ जाता है। कल उसने मेरी पूरी कमीज फाड़ डाली। उसके बाप पर कम से कम दो सौ रूपय का दंड लगना चाहिए। पता नहीं उसके बाप से आपकी कैसी दोस्ती है?'' इस पर रमन बाबू उसे शिक्षा देते हुये कहते हैं कि, ''सतेन्द्र, अभी तुम छोटे हो। बड़े होने पर अपने आप सब समझ जाओगे। छोटे लोगों से दोस्ती तो सिर्फ ऊपर के

दिखावे की होती है। ताकि गाँव के छोटे लोगो में अपनी इज्ज़त बनी रहे। किसी को शक भी न हो और काम भी बन जाए । मार खाने वाले को भी महसूस न हो कि वह मार खा रहा है । इसी नीति के तहत मैं स्कूल का सेक्रेटरी भी बन गया और पैंसठ बीघे का मालिक भी। हर काम तोप ढ़ककर करना चाहिए ताकि किसी की निगाह न पड़े। मेरे बाद यह सब तुम्हें ही करना है। ज़ोर-जबर्दस्ती और गुंडागर्दी से लोगों में रोष पैदा होता है। लोग संघर्ष और खून खराबे पर उतर आते है। तब जान माल का खतरा बढ़ जाता है और लोगों की निगाह में आदमी घटिया साबित होने लगता है। तुम्हें भी इस नीति का अनुसरण करना चाहिए। इन छोटी जाति के लड़को से तुम्हें लड़ने के बजाए उन्हें आपस में उलझा कर रखना चाहिए। उन्हें आपस में लड़ाते रहना चाहिए। ताकि वे लोग हमेशा कमज़ोर बने रहे और एक न हो सके। तुम अपनी कमीज उनसे कहाँ तक फड़वाते रहोगे। तुम्हारे लिए बेहतर होगा कि उन्हीं से उनको पिटवाओ और उन्हें आगे पढ़ने से रोको । उनका अनपढ़ और मूर्ख बने रहना हमारे लिए बहुत जरूरी है।''[11]

शोषण की संरचना की तकनीकी की जटिल प्रक्रिया को समझाते हुये ए. आर. देसाई कहते हैं कि, ''प्रतियोगात्मक और अर्जनशील मूल्य तथा पूंजीवादी बाजार अर्थव्यवस्था की तर्कसंगत, जीवन निर्वाह तथा विनिमयधर्मी अर्थव्यवस्था के अर्ध-सामंती पारंपरिक मूल्यों का स्थान लेती जा रही है। ग्रामीण भारत के आर्थिक संबंधों पर नकदी से संबद्ध और मुनाफे का लक्ष्य बनाकर चलते हुए हिसाब-किताब आधिकारिक होते जा रहे हैं।

2- ''पहले उत्तरदायित्व पर आधारित जो प्रतिमान लागू होते थे, उनका स्थान उपलब्धि पर आधारित प्रतिमान ले रहे हैं और ये उपलब्धियां हैं - चुनाव या प्रतियोगिता के माध्यम से पदों को हासिल करना। प्रमाणकों का अंग्रेजों द्वारा प्रचलित किया गया यह चौखटा आजादी के बाद से गांवों में बड़ी तेजी से फैलने लगा है। हांलाकि जाति, धर्म तथा ऐसी दूसरी बातों ने इसे काफी भ्रष्ट कर दिया है, मगर देश की राजनीतिक प्रक्रियाओं को यह रूप दे रहा है।

3- सरकार द्वारा अपनायी गयी योजना के हिस्से के तौर पर जो आर्थिक-राजनीतिक प्रक्रियाएं आरंभ हुई थीं, उनके अंतर्गत संस्थाओं का एक पूरा तंत्र उभरने

लगा है। ये संस्थाएं बुजुर्वा व्यक्तिवादी मूल्यों और आदर्शों पर चलती हैं और इन्हीं आदर्शों के आलोक में वे विभिन्न क्रियाकलापों को संगत ठहराने की कोशिश करती हैं।

4- भारत में हालांकि स्वामित्वधारी वर्गों की ताकत बढ़ रही है, मगर पूंजीवाद के विश्वव्यापी ह्रास और लगभग एक तिहाई दुनिया में गैर पूंजीवादी, समाजवादी ढांचे पर आधारित नयी समाज व्यवस्था के उदय के सन्दर्भ में उनकी स्थिति कमजोर अवश्य हो गयी है। इसीलिए गैर स्वामित्वधारी वर्गों द्वारा उखाड़ और कुचल दिये जाने का भय उन्हें हमेशा सताता रहता है। वैसे भी मार्क्स ने गैर-स्वामित्वधारी वर्गों को पूंजीवादी समाज व्यवस्था का कब्र खोदने वाला कहकर उनका सही चित्रांकन किया है।''[12]

राजनीतिक शिक्षा, वर्गीय चेतना के चलते किसान के एक तबके, विशेषकर गरीब किसान, मजदूर और गरीबों में धीरे-धीरे एक नयी जागृति, चेतना आ रही है। इस जागरूकता से वह अपने लिए हक, अधिकार, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार मांग रहे हैं। कम से कम अपनी बुनियादी जरूरतों को पूरा करने की मांग करने लगे हैं। गरीब, मजदूर, किसान के हक, अधिकार मारने वाला शासक वर्ग जानता है कि वर्तमान अर्थव्यवस्था में वह उनकी मांगे पूरी नहीं कर सकता है। इस बात की जानकारी उसे इतिहास और अन्य देशों के अनुभव से भी हो रही है। वह अपनी देश की वर्तमान अर्थव्यवस्था की सीमा का भी ज्ञान रखता है। अगर इन गरीबों को हक देने लगेगा तो अमीर, अमीर बनने से वंचित होने लगेंगे। पर व्यवस्था तो अंततः अमीरों की है तो वह इन गरीबों का हक देने का जोखिम क्यों उठायेंगी।

इन कारणों से हमारी व्यवस्था मजबूर होकर ऐसे तमाम किस्से, कहानियां गढ़ने और फैलाने लगती हैं जिसकी वजह से गरीब जनता की गरीबी और उनकी समस्याओं के सही कारणों से दूर हट जायें। इस कारण से ऐसे मूल्यों, समाधानों, विश्वासों और विचारों की खोज की जाती है कि वह गरीब जनता की तकलीफों के सही कारणों से उन्हें हटा दे और इसके असल जिम्मेदार सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था के ढांचे को बचा ले। इसकी जिम्मेदारी किसी अन्य पर या खुद गरीब किसान तबके पर डाल दी जाये। इसलिए व्यवस्था के बजाय व्यक्ति पर दोषारोपण किया जाता है। जब व्यक्ति ही समस्याओं के लिए दोषी है तो वह व्यवस्था को बदलने के बजाय व्यक्ति को हटाने, बदलने, खत्म करने में अपनी समस्याओं का समाधान खोजने लगते हैं। जैसा

कि उपन्यास 'जमीन' उपन्यास के एक प्रसंग में दिखाया गया है कि गाँव के उच्च जाति वर्ग के प्रभावशाली रमन बाबू जो कि स्कूल के सेक्रेटरी हैं, पिछड़ी जाति के मदन महतो के बेटे जगदीश के दसवीं में दाखिले के वक्त रजिस्टर में उसकी उम्र 16 वर्ष लिखते हैं। इस पर किरियानी बाबू रमन बाबू से पूछते है, "टीसी में तो जगदीश कि उम्र तेरह साल है, लेकिन आपने रजिस्टर में सोलह साल दर्ज किया है?" "किरियानी बाबू, आप अभी नहीं समझेंगे। ये छोटे लोग पढ़-लिख कर सरकारी नौकरी करना चाहते हैं। बड़ा ओहदा पाना चाहते हैं। हमारे साथ उठना बैठना चाहते हैं और बराबरी का दर्जा पाना चाहते हैं। सरकारी नौकरी ये लोग पा जाएंगे तो हमारे, आपके लड़के कहाँ जाएंगे? सोलह उम्र इसीलिए दर्ज की है कि ये लोग पढ़ते-पढ़ते ही 'ओवर एज' हो जाएंगे। फिर नौकरी मिलने का सवाल ही नहीं पैदा होता। पढ़ लिख कर भी बेकार रहेंगे।" रमन बाबू ने कहा और ज़ोर का ठहाका लगा दिया।

"आप बहुत दूर की सोचते हैं। तब से मैं यही नहीं समझ पा रहा था मेरा काम आप कैसे करने बैठ गए? मेरे और आप में यही तो फर्क है। लोगों को ऐसा मारो कि दर्द भी न महसूस हो और चोट भी लग जाए।"[13]

शोषण-उत्पीडन की इस व्यवस्था को बनाये रखने के लिए समाज में दो विचार बहुत प्रचलन में देखे जा सकते हैं। एक- गरीब लोग अपनी स्थिति के लिए स्वयं जिम्मेदार हैं । गरीब लोग बहुत निकम्में, कामचोर होते हैं, मेहनत नहीं करना चाहते हैं। इनकी कोई समस्याएं नहीं हैं यह खुद अपनी तकलीफों के लिए जिम्मेदार हैं । यह गरीब चाहते हैं व्यवस्था इन्हें सबकुछ फ्री में दे दे। सब कुछ आराम से हासिल हो जाए, ऐसा सोचते हैं। इन्हें कुछ मेहनत नहीं करनी पड़े। इस तरह के विचार समाज में शासक वर्ग द्वारा खूब प्रचारित किये जाते हैं। गरीबों के हक अधिकारों को उन्हीं के द्वारा खत्म करवाने का दुष्प्रचार की कहानी रचते हैं। इसका फायदा भी अमीरों को मिलता है। अमीर लोग खुद अपने साधन और जीवन गरीबों के शोषण उत्पीड़न से ही चलाते हैं पर उन्हें लगता है कि वह मेहनत करके यह हासिल करते हैं। शासक वर्ग की यह विचारधारा कई रूपों में सामने आती है। चाहे स्कूल में गरीब छोटी जाति के किसानों के बच्चों के साथ अध्यापक का भेदभावपूर्ण व्यवहार हो या अश्पृश्यता उन्मूलन कानून के बाद भी छुआछूत का बर्ताव, आरक्षण व्यवस्था को खैरात की तरह देखना आदि तमाम प्रसंगो में यह अंतर साफ़ दिखाई देता है। 'जमीन' उपन्यास में यह भेदभाव कई प्रसंगों में दिखाया जाता है। उपन्यास के पात्र मदन महतो जो कि

पिछड़ी जाति के है, उनका बेटा जगदीश रात में सोते समय सोचता है, ''स्कूल में उसे बहुत सी बातें मालूम होती रहती हैं। जब भी कोई छोटी या मझोली जाति का लड़का थोड़ा भी चूँ-चपड़ करता है मास्टर साहब उसे थप्पड़ जड़ देते हैं। कान पकड़ कर कक्षा के बाहर कर देते हैं। बबुयान लड़कों पर मास्टर साहब कभी हाथ नहीं उठाते। चाहे वे कितना भी उधम मचाएँ।''[14] गरीब किसान सबसे ज्यादा मेहनत करता है फिर भी सबसे ज्यादा तकलीफों में जीता है। वह अपनी मानक आयु से पहले मर जाता है उसका शारीरिक और मानसिक विकास भी मानक अनुपात के अनुसार नहीं हो पाता है वह समय से पहले बूढ़ा हो जाता है। तमाम अकाल मौतों के बीच उनका जीवन चलता रहता है। यह अकाल मौतों को हम सभी ने बड़े सामान्य रूप से स्वाभाविक जीवन का हिस्सा मान लिया है। हम सब इतने असंवेदनशील बनते जा रहे हैं कि उन असमय मौतों से कुछ फर्क ही नहीं पड़ता। जबकि यह अकाल मौतें स्वाभाविक मौतें नहीं हैं। यह संरचनात्मक हत्याएं हैं। इन हत्याओं को हमारी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था ही अंजाम देती है।

जब हमारी सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था गरीब, मजदूर किसानों का शोषण-उत्पीड़न कर सकती है, इन्हें हाशिये पर धकेल सकती है। इन्हें मरने पर मजबूर कर सकती है। नीतिगत सामाजिक आर्थिक नीतियां इन गरीब किसान, मजदूर के सहयोग से ही चल सकती है। इनके शोषण उत्पीड़न से ही अमीर वर्ग की व्यवस्था में रौनक और रोशनी रहती है और इनका विकास होता है।पूरी व्यवस्था गरीब, मजदूर किसान और मेहनतकश जनता पर निर्भर दिखती है। ऐसे में इस व्यवस्था और उसका संचालन करने वाली सरकार इस जनता के प्रति अपनी जिम्मेदारी और दायित्व से कैसे बच सकती है। अलग से गरीब किसान, मजदूर, आम जनता की तकलीफों के सही कारणों से उनका ध्यान हटाने के लिए शासक वर्ग तरह-तरह के विचार का प्रचार-प्रसार करता है।

किसानों में उनके शोषण के विरूद्ध धर्म के सहारे मिथ्या चेतना फैलाई जाती है, जिससे किसानों में वर्गीय चेतना कुंद दिखाई देती है। आदिवासी समाज के किसानों में अपने हक़-और अधिकार की चेतना और प्रतिरोध के स्वर भी मुखर दिखाई देते है। ''बजात अनहद ढ़ोल'' उपन्यास में आदिवासियों की इस प्रवृत्ति का जिक्र है।''संताल जनजातियाँ स्वभावतः विद्रोही होती है । वे सब कुछ बर्दाश्त कर सकती हैं। बहू-बेटियों की अस्मिता का मर्दन ये कतई बर्दाश्त नहीं कर सकतीं।''[15] हिन्दू धर्म व्यवस्था वर्ण

व्यवस्था पर आधारित है जिसमें जाति आधारित स्तरीकरण और संस्तरण का विधान है जो कि छुआ-छूत, ऊँच-नीच, पवित्रता, शुद्धता-अपवित्रता, नीचता को संथागत रूप देकर एक वैध व्यवस्था के रूप में स्थापित करती है। शैक्षिक आर्थिक रूप से कमजोर होने के कारण किसानों में यह भाव बहुत गहरा है ।

किसान जीवन के तीज-त्यौहार और उत्सव

जन्म, विवाह एवं धार्मिक त्यौहार के साथ ही किसानों में प्रचलित तीज-त्यौहार उनकी खेती और प्रकृति से जुड़े है। आदिवासियों में धर्म का स्वरुप हिन्दू धर्म से अलग उनकी जमीन, पहाड़, नदी से जुड़ा हुआ है । आदिवासी किसी भी सकारात्मक प्रगति करने वाले तत्व को अपने खास देवता से जोड़ कर देखते है। इसीलिए जब 'बजात अनहद ढोल' उपन्यास में पोटन साहब गोको के सामने चर्च बनवाने का प्रस्ताव लेकर खुद जाते हैं, और गोको को बताते हैं कि पादरी उनके बच्चों को पढ़ाने-लिखाने का काम भी करेगा; तो गोको को यह खुशखबरी सुनकर लगता है कि उनका 'कांदू' देवता प्रसन्न हो गया है। पेड़, पौधा, जानवर सब उसी जीवन देने वाले देवता 'कांदू' की देन है। गोको गाँव वालों को समझाता है कि गाँव में जिंदगी देने वाला पुरुष आया है- 'कान्दू' देव की तरह और सभी चिल्लाते हुए एक-एक मुर्गी, चावल, सिन्दूर ले-लेकर पहुँचते हैं । देखते-देखते पूरा माहौल पर्व पूजा में बदल जाता है ।

आदिवासियों के गीत में भी प्रकृति का वर्णन और उनके संघर्ष की कथा निहित होती है। उपन्यासों में अलग-अलग प्रसंगों में इन गीतों का जिक्र लेखकों ने किया है जो कि उनकी स्थानीय लोक संस्कृति का परिचायक है। 'बाजत अनहद ढोल', 'सहराना', 'पार' आदि उपन्यासों में इसके कई उद्धरण देखने को मिलते हैं।

होली के त्यौहार का आयोजन अवध प्रान्त के गांवों में एक विशेष घटना है। इसका महत्व कई स्तर पर समझा जा सकता है। ऐसे आयोजन गाँवों में जातीयता की भावना के परे एक 'सामूहिक एकता' का बोध करते प्रतीत होते है लेकिन ऐसे आयोजनों में भी जातीय भेदभाव, ऊँच-नीच का अंतर बनाये रखा जाता है ।

स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में संस्तरण और पितृसत्ता के स्तर पर सामाजिक विभाजन, ग्रामीण किसान समाज में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। आदिवासी समाज में स्त्री-पुरुष का भेदभाव अपेक्षाकृत कम है। संथाल स्त्रियों, पुरुषों के समानस्वतंत्र रूप से

आती-जाती हैं साथ ही वे अपनी अभिव्यक्ति में काफी मुखर भी है।स्त्रियों के अधिकार और सम्मानपूर्ण स्थान 'पार' उपन्यास के जनजाति समुदाय के 'खेरे' में सामुदायिक जीवन में परिलक्षित होता है। ग्रामीण जीवन में सामाजिक-धार्मिक समारोह और त्यौहार मनाये जाते हैं।

व्यक्तिगत/पारिवारिक समारोह कई प्रकार के देखे जा सकते हैं। बच्चे के जन्म पर उत्सव मनाया जाता है। यह उत्सव लड़का पैदा होने पर धूमधाम से मनाया जाता है। लड़की पैदा होने पर यह औपचारिक रीति-रिवाज, रस्म बनकर समाप्त हो जाता है। लड़का परिवार का वंश चलाने वाला माना जाता है और लड़की दूसरे की अमानत समझी जाती है। लड़की के युवा होने पर उसकी शादी करके उसे दूसरे के घर भेजा जाता है। लड़की को ऋण-बोझ समझा जाता है। इस कारण लड़के के जन्म पर ज्यादा उत्सव मनाया जाता है। घर के आर्थिक हालत के अनुसार भव्य भोजन की व्यवस्था की जाती है, जिसमें अपने रिश्तेदार, परिवार, गांव और जान-पहचान के लोगों को खाने का निमंत्रण दिया जाता है। निमंत्रण पर आने वाले लोग बच्चे के लिए कपड़े-पैसे इत्यादि देकर जाते हैं। बच्चे के नाना-मामा द्वारा उन्हें ज्यादा कीमतें-तोहफे इत्यादि देने का रिवाज माना जाता है। यह सामाजिक रिवाज भी आर्थिक हैसियत पर निर्भर करता है। बच्चे का नामकरण आमतौर पर ब्राह्मण ही करता है। दूसरा उत्सव ग्राम के कुछेक हिस्से में वरछा, जनेउ धारण कराने के नाम पर मनाया जाता है। यह किशोर अवस्था में किया जाता है। यह अपनी परम्परा और हैसियत के हिसाब से किया जाता है।

गाँव के त्यौहार प्रमुख रूप से प्रकृति और खेती से जुड़े हुए होते हैं। 'डूब' उपन्यास में जब मास्टर साहब गाँव छोड़ कर जाने लगते हैं तो रस्ते में अनेकसिंह से पूंछते हैं, "बेटे, अपने गाँव में किस महीने में क्या होता है, बताओ तो !" "आषाढ़ में..."

"आषाढ़ से क्यों? हमारा नया साल क्या आषाढ़ से शुरू होता है?"

"नहीं तो! पर मास्साव हमें यहीं से सुभीता..."

"आषाढ़ में किसान खेत में बखर, खाद और पाटा का काम निबटाते हैं। पानी बरसने पर मक्का, उरद, रामतिली, फिकार, कोदों, मूंग, धान, ज्वार की बुवाई, निराई, गुढ़ाई और बिराउनी करते हैं। इसी महीने की भडरिया नवीं को शादियों का लगन समाप्त

होता है। श्रावण में श्रावणी तीज, नागपंचमी, रक्षाबंधन और हल छठी। इस दिन औरतें हल का जुता अन्न नहीं खातीं। पसाई के चावल खाती हैं या फलाहारी। फिर आती है भुजरियाँ नवें-इस दिन पूजा के लिए बोया गेंहूँ एक दूसरे को देते-लेते हैं। अच्छी फसल की कामना करते हैं।...भादों में जन्माष्टमी । दूसरी फसल की तैयारी । जो खेत अब तक खाली पड़े रह जाते हैं उनमें असिंचित फसल बोई जाती है। उनकी जुताई शुरू होती है। इसी महीने में बनियों के दस दिन के व्रत होते हैं जिनमें वे हरी चीजें नहीं खाते । फिर दोल ग्यारस,हरियाली तीज जिस दिन औरतें उपवास करती हैं। झूले दल जाते हैं डाल-डाल पर। कातिक में पहली फसल कटती है । ज्वार और तिली दिवाली के बाद, बाकी सब दिवाली से पहले । इस महीने में दशहरा, दिवाली, देवठानी ग्यारस आती है। देवठानी ग्यारस के दिन से शादियों का लगन शुरू होता है जो आगे अषाढ़ तक चलता है। भैयादूज, अगहन में दूसरी फसल की बुवाई करते हैं। गेंहूँ, चना, मसूर, दलहन, जौ, मटर, धना, जीरा की पौद को पानी देते हैं। पूस में भी यही सब जारी रहता है। इसी महीने में मकर संक्रांति आती है, जिस दिन तिली से स्नान करते हैं।...फिर आता है माघ । कभी-कभी मकर संक्रांति इस महीने में आती है । वसंत पंचमी, शिवरात्रि भी इसी महीने में आती हैं । फिर फागुन...इस महीने में दूसरी फसल कटनी शुरू हो जाती है। चना वगैरह इसी महीने कटते हैं । होली इसी महीने आती है । टेसू के फूल सबका मन मोह लेते हैं। रंगपंचमी के दिन से पांच दिन तक फाग-ही-फाग का उत्सव मनाया जाता है और इसी महीने आती है फाग की भैयादूज। फिर आता है चैत। इस महीने खेत कटता है। गुड़-चना बांटा जाता है। नवदुर्गा , रामनवमी, पूर्णिमा को हनुमान जयंती, तेरस (त्रयोदशी) को महावीर जयंती इसी महीने में आती है...फिर बैसाख में अक्ती यानी अक्षय तृतीय यानी भगवान् परशुराम की जयंती । अक्ती के दिन सोन-पलाश के पत्ते सुखाकर बांटते हैं । एक दुसरे से अपनी गलतियों को क्षमा मंगाते हैं की भाई ख़ुशी की बात है की हमारी भी अच्छी फसल रही और तुम्हारी भी ..भाई काम-धाम के चलते तुमसे जो मिलना-बैठना नहीं हो पाया उसे हमरी मजबूरी समझ कर माफ़ कर देना । इसी महीने में डंगरा बोये जाते हैं । बेर, केंत तोड़कर सुखाये जाते हैं। अचार, तेंदू, खिन्नी, आम, महुआ इसी महीने बौराते हैं।..और तब आता है जेठ । अपना यही महीना। इसमें अषाढ़ की तैयारी, चैत की फसल की धुनाई-सफाई, कार्तिक में अधूरी छूटी मकानों की मरम्मत। पंगते जीमना, पइपाउनी निबटाना ।"[16] महिलाओं का समय को याद रखने का तरीका त्योहारों से जुड़ा हुआ हैं। 'डूब' उपन्यास में गोरा भाभी अनेक को टोकती हैं, "लाला तुम बहुतेरी

बातें बताना भूल गए।... नौरता, कुम्हार बब्बा के भैरों देवता भरने वाली बात, बैलों को रोग-रगेलु से बचाने का नून चटाने वाला दिन, यशोदा आ का घट पूजने वाला दिन । लाला, तुम्हें कुंवारी कन्याओं के त्यौहार तो याद रहे, पर ब्याहता बैयारबानी के तीज-त्यौहार याद नहीं आए। पेड़ भरने वाली बात-जब बच्चे को छोटी माता निकलती है तो उनकी मतारी कैसे जमीन पर लोटती-लोटती घर से मंदिर तक जाती है, ढोल-बाजे के साथ ।"[17]

गाँव में खेल कूद की संस्कृति में भी परिवर्तन देखने को मिलता है। खेल के मैदान लगातार छोटे या गायब होते जा रहे है । ग्रामीण क्षेत्र में अधिकांश गरीब परिवार से आने वाले सरकारी स्कूल कालेज में शिक्षा ग्रहण करते है। लेकिन यह शिक्षा भी उन्हें समान रूप से नहीं दी जाती। उनके साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार किया जाता है। इसके कई उदहारण देखने को मिलते है ।

गांवों में कुश्ती, कबड्डी, गुल्ली-डंडा, आदि जैसे स्थानीय खेल खेले जाते है। गाँव के समाज में गीत-संगीत वाद्य यंत्रों कों परंपरागत रूप देख जा सकता है। प्रकृति पर निर्भर गाँव में लोक संगीत की परंपरा ज्यादा मजबूत हैं । गांवों में 'बिरहा', 'चैत' 'कथा भागवत', 'नौटंकी' आदि लोक-संस्कृति की परम्परा का हिस्सा है । 'बाजत अनहद ढोल' उपन्यास में एक संथाल खाली समय में वंशी बजाता है।

"तुमित मारंग बांदा छाडा
चेदाकू पोरयानी पायडेरे दो
देलांग पोरयानी मोंदेनाय दिसं ने
देलांग पोरयानी ढाक तालाते।"

(हे कमल! तुम इतने बड़े तालाब को छोड़ कर छिछले पानी में क्यों हो? तुम पंचनद देश चलो, वहीं पानी के बीच रहेंगे)"[18]इसी तरह खेतों में काम करते समय संथाली किसानी गीत गाते है। "धरती को माँ पुकारने वाले संथालों के गीतों में में श्रम और उत्पादन का अद्भुत योग है।

खेती गृहस्थी के दिन आ गए है।
हमारे पास हल-बैल तो नहीं
हमारे लिए हल, बैल और भैसा खरीदो

पहाड़ की तारे में हुम खेती करेंगे।
बाडी में हमारे लिए एक कुआं खोदो
उसमे मिर्ची और बैगन लगाओ।
उसे कोढ़ों और पटाओ।
ऐसा करके बेहिसाब पैदा करो।''[19]

इस प्रकार से किसान का सामाजिक-संस्कृतिक जीवन उसकी खेती में आने वाले मूल्यों में परिवर्तन के साथ बदलता रहता है। इसके साथ ही स्थानीय स्तर पर धर्म, जाति, लिंग आधारित अन्तर भी स्पष्ट तौर पर दिखाई देते है। ग्रामीण आम जन जीवन से जुड़े हुए लोक मुहावरे काफी प्रचलित हैं । 'लोकऋण' उपन्यास में ऐसे कई मुहावरों का जिक्र किया गया है।

उत्पादन की आधुनिक तकनीकि का सामाजिक संस्कृति पर प्रभाव

कृषि प्रधान देश 'भारत' आज भी परंपरागत रूप से खेती के लिए मानसून और प्रकृति पर निर्भर है। उत्पादन के साधन और शक्तियों के अनुरूप खेती की संस्कृति भी विकसित होती है। जब उत्पादन के साधनों में तकनीकिगत परिवर्तन आते हैं तो सांस्कृतिक, सामाजिक अंतरसम्बन्ध और नैतिक मूल्यों में भी परिवर्तन आते हैं। इन मूल्यों-संस्कृति का मौन लोप कुछेक लेखकों को सालता भी है। यह छटपटाहट विवेकी राय के उपन्यास 'लोकऋण' में दिखाई देता है। जहाँ 'खत्म होते गाँव' और ग्रामीण जीवन मूल्यों को बचाने का प्रयास उपन्यास का केन्द्रीय विषय है।

गाँव में तकनीकी विकास बहुत धीमी गति से पहुंचता है। पहले रात में मिट्टी के तेल से दिया-बाती किया जाता था अब प्रकाश के लिए बिजली पहुँच गयी है। लेकिन गरीब किसान केरोसिन पर आज भी निर्भर है आजादी के दो दशक बाद भी तकनीकी और बुनियादी जरुरत बहुत धीमी गति से पहुँच रही है। इसका बेहतरीन उदाहरण वीरेन्द्र जैन के 'डूब' और 'पार' उपन्यास में देखने को मिलता है। इसमें आधुनिक तकनीकि विकास के भौतिक और सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभाव-परिणामों को सूक्ष्मता से चित्रित किया गया है।

आजादी के बाद 80-90 के दशक से शहरीकरण की दर बढ़ गयी है और गाँव भी शहरों के संपर्क में आने लगे है। खेती से होने वाली आय लगातार घटती जा रही है

जिससे काम धंधे की खोज में किसान शहरों की ओर पलायन करने को मजबूर है। शहर के लोग गाँव में भी अपना व्यवसाय बढ़ाना चाहते है जिससे गाँव शहर में संपर्क बढ़ रहा है। गाँव से शहर गए लोग वहां की बहुत से नई चीजे देख कर-सीखकर वापस गाँव आते है और अपने लोगो को भी जागरूक करते है। अब आधुनिक शिक्षा गाँव में भी पहुँचने लगी है। इन सब का ग्रामीण सांस्कृतिक, जीवन पर बारीक से असर पड़ता है।

गाँव के लोगों में पोशाक और उनके अभूषण आदि में धीरे-धीरे बदलाव आ रहा है। किसान भी परंपरागत धोती के बजाय शहर से सिले-सिलाये(रेडीमेड) कपड़े पहनने लगे हैं। देशी तकनीकी और हाथ से किये जाने वाले कार्य अब धीरे-धीरे बंद होने लगे है। कपड़े सिलने वाले दर्जी, सूत कातने वाले बुनकर विकास और बदलाव की भेंट चढ़ गए है, मिट रहे हैं। बाजार की वस्तु को इस्तेमाल करने की मजबूरी को 'विकास' के रूप में पेश किया जाता है।

उत्पादन के साधनों में तकनीकिगत परिवर्तन आने से सामाजिक संबंधों और पर्यावरण पर होने वाले प्रभाव को संजीव का उपन्यास 'फांस' बेहतरीन तरीके से दिखाता है। किस प्रकार जहरीले कीटनाशकों का प्रयोग करने से कीट तो उतने नहीं मरे जितनी तितलियाँ मर गयी। इस तरह इन आधुनिक तकनीकि रसायन का वहां के पर्यावरण पर बहुत ही घातक असर पड़ रहा है। खेती की उत्पादकता और आत्मनिर्भरता बढाने के लिए प्रकृति पर निर्भरता को आधुनिक तकनीकी से कम से कमतर करने का प्रयास किया जा रहा है। हालाँकि इससे किसानों की आर्थिक स्थिति तो खास नहीं सुधारी, आत्मनिर्भरता नहीं आयी बल्कि थ्रेसर, टैक्टर, उर्वरक आदि का इस्तेमाल करने के चलते कई दूरगामी असर पड़ते हैं। जांत गीत, कटाई बुआई के समय के गीत भी पुराने उत्पादन के साधनों के साथ लुप्त हो जाते हैं।

सामाजिक सम्बन्ध की जहाँ तक बात है, वर्ण व्यवस्था की उपज-जाति व्यवस्था, जजमानी व्यवस्था के प्रकार्य को उपयोगितावादी नजरिया इसे ग्रामीण किसान जीवन का एक बहुत महत्वपूर्ण और आवश्यक विशेषता के रूप में स्थापित करते हैं। इसकी विशेषता पर बल देते हुए वे इसके शोषणात्मक पक्ष को जाने-अनजाने में दरकिनार कर देते हैं।

दूसरा यह विचार बड़े पैमाने पर फैलाया जाता है कि, देश के गरीबों की तकलीफों के लिए जनसंख्या जिम्मेदार है। गरीब जनता की तकलीफों के लिए उसे ही जिम्मेदार ठहरा दो। इससे अच्छा तरीका क्या हो सकता है। इस तरह के विचार फैलाये जाते हैं। जनता की तकलीफें उनकी बढ़ती जनसंख्या की वजह से है। इतने ज्यादा लोग हैं उनको क्या-क्या दें? इतने ज्यादा बच्चे मत पैदा करो। आपकी तकलीफें दूर हो जायेंगी। छोटा परिवार होगा, दो बच्चे रहेंगे तो उनकी परवरिश भी अच्छी हो पायेगी, उनको अच्छी शिक्षा दे पाओगे। अगर बीमार होंगे तो अच्छा इलाज भी सम्भव हो जायेगा। इसलिए जनता की जो तकलीफें हैं उसके लिए जनसंख्या वृद्धि ही जिम्मेदार है। यह भुखमरी, गरीबी, अशिक्षा, बीमारी जैसी जनता की तकलीफें हैं, उनके लिए जनसंख्या ही जिम्मेदार है। ऐसे विचार देश में अलग अलग माध्यमों से फैलाये जाते हैं।

क्या वाकई जनता की इन तकलीफों के लिए जनसंख्या वृद्धि ही जिम्मेदार है? यह गरीब किसान, मजदूर का चेतनाशील हिस्सा जनसंख्या वृद्धि को जिम्मेदार नहीं मानता है। चेतनाशील मेहनतकश जनता, राजनीतिक रूप से शिक्षित किसान, मजदूर और अपने अधिकारों के प्रति जागरूक गरीब लोग जानते हैं कि हमारी तकलीफों की जड़ में असमान वितरण और विषमता पैदा करने वाली व्यवस्था ही है। वास्तव मेंदेश में भुखमरी, गरीबी जैसी समस्याओं का कारण अत्यधिक जनसंख्या नहीं है। देश के संसाधन, सम्पदा पर एकाधिकार जमाने के लिए कानून बना लिए गये हैं। इस बीच सम्पदा, साधन और श्रम से पैदा होने वाली वस्तुओं पर भी एकाधिकार बनाने के लिए नीतियां बन गयी हैं। इन चीजों से ही अमीरी, गरीबी पैदा होती है। जो व्यक्ति एकाधिकार जमाने वालों में शामिल हैं वह अमीर हैं। जो व्यक्ति उत्पादन के साधन मात्र हैं वह गरीब बन कर रह जातें हैं। यह सिलसिला पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है। इसमें कुछ अपवाद होते होंगे। वैसे 18 साल पुरानी एक सरकारी रिपार्ट थी जिसे अर्जुनसेन गुप्ता ने प्रस्तुत किया था। उन्होंने कहा था कि 836 मिलियन लोग भारत में रोजाना 20 रूपये में गुजारा करते हैं। क्यों रोजाना इतने लोग 20 रूपये ही कमा पा रहे हैं? मेहनतकश जनता का चेतनाशील हिस्सा यह समझता है क्यों 20 में 70 प्रतिशत जनता गुजारा कर रही है। आज भी 14.3 करोड़ लोग भूमिहीन जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इसमें मजदूर, किसान, गरीब और मेहनतकश ही शामिल है। यह कोई मजबूरी में ऐसा नहीं करते हैं। यह जानबूझकर व्यवस्था की नीतियों के कारण

ऐसा होता है। यह सचेत रूप में ऐसा किया जाता है। अब जनता की बहुसंख्यक आबादी तकलीफों में जीवन व्यतीत करेगी। तभी अल्पसंख्यक शासक वर्ग सुख-चैन, आराम और सुविधाओं में जीवन व्यतीत कर पायेगा। बहुसंख्यक जनता के शोषण लाभ और देश की प्राकृतिक सम्पदा,साधन पर एकाधिकार ही अमीरी का कारण है।

देश में व्याप्त अमीरी-गरीबी पैदा की गयी है। अमीरी-गरीबी, समानता-असमानता को हमारी व्यवस्था बनाकर रखना चाहती है। इसी कारण पैसे वाले का जीवन अमूल्य होता है। गरीब रोजाना मर जाये किसी को कोई चिन्ता नहीं। यह 'मरने के लिए पैदा' ही होते हैं। भारत 'यूनाइटेड नेशन डेवलपमेंट प्रोग्राम (यूएनडीपी)' के मानव विकास सूचकांक में 189 देशों की सूची में 130वें पायदान पर है। इस स्तर में लगातार गिरावट देखी जा सकती है जबकि भारत की जी.डी.पी. दुनिया में तहलका मचा रही और वह दुनिया की 6वीं बड़ी अर्थव्यवस्था बन रही है। भारत क्षेत्रफल की दृष्टि से 7वां स्थान रखता है। खूब प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर है। अब इतना विकास हो रहा है तब देश में इतनी गरीबी, भूखमरी, अशिक्षा, कुपोषण, बीमारियां क्यों हैं? अगर यह सब है तो वह इतना साधन सम्पदा और संसाधनों का क्या कर रहा है। फिर देश में किसका विकास हो रहा है? यह विकास के आंकड़े, जी.डी.पी. सिर्फ कुछ अमीर वर्ग के लिए है जिसकी यह व्यवस्था है। उनका यह खेल देश के विकास के नाम पर हो रहा है।

देश में इतना संसाधन है कि जनसंख्या में एक समान वितरण किया जा सकता हैं। असमान वितरण ही बहुसंख्यक जनता की तकलीफों का मुख्य कारण है पर उनकी तकलीफों के अन्य कारण बताने वाले तमाम विचार फैलाते हैं। देश में गरीब का यदि एक ही बच्चा क्यों न हो तब भी उसे अच्छी शिक्षा नहीं मिल पायेगी क्योंकि शिक्षा खरीदने-बेचने की वस्तु बना दी गयी है। शिक्षा खरीदने के लिए गरीब के पास पैसा ही नहीं है। यही हाल स्वास्थ्य सम्बंधी सुविधाओं का भी है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के पैमाने के अनुसार प्रति 1000 व्यक्तियों पर एक डाक्टर हो जबकि भारत देश में 11,000 कि जनसंख्या पर एक ही डाक्टर उपलब्ध है। यह डॉक्टर अपनी सेवाओं को पैसा में बेचते हैं। डाक्टर व्यवस्था के संचालकों की देख-रेख में रहते हैं। अगर बहुसंख्यक जनसंख्या की देख-रेख के लिए डाक्टर बनाये जायें और सबको फ्री में एक समान शिक्षा मुहैया करायी जाए तो देश की बहुसंख्यक जनसंख्या की तकलीफों को

दूर किया जा सकता है। जनता की वास्तविक समस्याओं को भी कम किया जा सकता है।

बहुसंख्यक जनता की समस्याएं हमारी अपनी व्यवस्था की देन है। यह व्यवस्था जनता की समस्याओं पर खड़ी है। इसलिए वह वास्तविक समस्याओं से हमारा ध्यान हटाने के लिए भी काम करती हैं। "आर्थिक कार्रवाइयों के सिलसिले में जहां पूंजीवादी तर्क का बेरहम उपयोग होता है वहीं आम जनता में उलझाने वाले, दकियानूसी, जातिवादी, धार्मिक तथा परलौकिक मूल्यों का प्रसार किया जा रहा है। इसके लिए रेडियो, टेलीविजन, प्रेस मीडिया, इलेक्ट्रानिक, सोशल, प्रिन्ट, संस्थाओं और संगठनों का सहारा तो लिया ही जाता है-नैतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की फेरी का पेशा करने वालों की एक पूरी फौज को भी इस काम में लगा दिया जाता है। इस फौज में साधु-संन्यासियों के अलावा विभिन्न धार्मिक संगठनों तथा मंदिरों के अध्यक्ष तथा कर्मचारी भी शामिल हैं। देश की व्यवस्था और उसकी सरकारें खुद जनता की विचारधारा को बदलने के लिए इस श्रेणी में लोगों को जानबूझकर काम में लगाती हैं। स्वामित्वधारी वर्ग ऐसे लोगों की देखभाल के लिए बेहिसाब खर्च करते हैं और इसलिए धार्मिक ट्रस्ट के रूप में तरह-तरह की संस्थाएं स्थापित करते हैं। इन तथाकथित नैतिक-आध्यात्मिक शिक्षाओं के प्रचारकों की गतिविधियों को वे संरक्षण भी प्रदान करेते हैं ।

यह प्रचार भी कई तरह से किया जाता है। प्रेस, प्रकाशनों, कथाओं, जन सम्मेलनों, मेलों और धार्मिक उत्सवों के अनंत वैविध्य के माध्यम से। खासकर हिंदू धर्म में तो ऐसे उत्सवों की कोई गिनती नहीं है। सरकार स्वयं उत्साह से भजन मंडलियों, साधु-समाजों और अन्य धार्मिक संस्थाओं का आयोजन करती हैं।

यह सांस्कृतिक चेतना बदलने की बात ए.आर.देसाई 1990 से पहले कह रहे थे। आज भी कलेवर तकनीक बदलकर ही सही पर हमारी सरकार ऐसा ही कर रही है। बहुसंख्यक जनता को अपनी-अपनी समस्याओं की मूल वजहों से भरमाने का काम बहुत तेजी से हो रहा है।

आजादी के बाद से किसान जीवन में परिवर्तन लाने की योजना बनायी जा रही थी। यह परिवर्तन क्यों लाया जा रहा था। इस परिवर्तन का फायदा किसे दिलाने की योजना थी? इस परिवर्तन से किसानों को कुछ लाभ हुआ कि नहीं? यह आज भी

विचारणीय प्रश्न बना हुआ है। यह परिवर्तन आर्थिकरूप में आयेगा जिससे सांस्कृतिक जीवन भी बदलने लगेगा। आर्थिक, सांस्कृतिक जीवन एक साथ बदलेंगे या दोनों में बदलाव एक दूसरे को प्रभावित करेंगे। इन सवालों को वैचारिक मतभेद के साथ देखा जा सकता है।

"देश के उत्पादन में अधिक से अधिक वृद्धि करना तथा देहात में संचार साधनों के विकास से स्वास्थ्य, सफाई और शिक्षा में सुधार लानाः 1- गांवों के सामाजिक और आर्थिक जीवन में बदलाव लाने के उद्देश्य से एक सुनियोजित सांस्कृतिक परिवर्तन का सिलसिला चालू करना। प्रथम योजना का यह विषय बाद में बनी अन्य पंचवर्षीय योजनाओं में भी चालू रखा गया। स्वेच्छा से प्राप्त आम लोगों के सहयोग से सामुदायिक विकास कार्यक्रम के नाम से चलाई गयी अनेक सामाजिक-आर्थिक योजनाओं का लक्ष्य देश के सामाजिक जीवन और उत्पादन प्रणाली में वांछनीय परिवर्तन लाना था।"[20]

यह परिवर्तन किस गति से आ रहा है? आर्थिक, सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन एक साथ आ रहा है। आर्थिक और तकनीकी परिवर्तन पक्ष में तेजी से आ रहा है। सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन में ग्रामीण भारत पिछड़ जा रहा है? आज भी ग्रामीण भारत में थोड़ा-बहुत परिवर्तन के साथ सांस्कृतिक जीवन एक जैसा व्यतीत हो रहा है।

धार्मिक व्यवहार सांस्कृतिक जीवन का एक बड़ा हिस्सा होता है। धार्मिक रीति-रिवाज और उसको निभाने वाला अनुशासन किस तरह से हमारी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था को कायम रखता है। हमारे देश विशेषकर ग्रामीण भारत की बहुसंख्यक जनसँख्या जब अपने काम करने का परिणाम तार्किक रूप से नहीं समझ पाती है, उस परिणाम का कर्म के साथ तार्किक सम्बन्ध और परिणाम का सफल-असफल होने के वास्तविक कारणों को नहीं खोज पाती है। तब वह सब कुछ अपने भाग्य के हवाले कर देती है। यह भाग्य अप्राकृतिक ईश्वर सत्ता के द्वारा संचालित मान लिया जाता है। हमने अपना कर्म कर दिया है, अब तो भगवान ही मालिक है। इस भाग्य को, इस समय जो हो रहा है उसके लिए पुराने कर्मों का फल परिणाम बताया जाता है। आज जो कुछ करूंगा वह अगले जन्म में भोगना पड़ेगा। इस प्रकार सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के पीछे किसी अदृश्य सत्ता की ताकत को खड़ा कर दिया जाता है। सामाजिक-

आर्थिक विषमता को ईश्वरीय मर्जी के रूप में पेश किया जाता है। यह सब धार्मिक अनुशासन और सांस्कृतिक विचारों के आधार पर किया जाता है।

'यदि यह हमारे भाग्य में लिखा है तो हम क्या कर सकते हैं?हम अपने चाहे से भी भगवान की इच्छा को टाल नहीं सकते। जो भी लिखा है वह होकर रहेगा।' किन्तु यह भाग्यवाद तभी उभरता है जब लोग अपनी समस्या को सुलझाने का प्रयास कर लेने के बाद भी सफल नहीं हो पाते हैं। नियतिवाद और भाग्य का यह बोध हिन्दुओं के कर्म के सिद्धांत से जुड़ा है। इस बोध के अनुसार, जो आत्मा के स्थानान्तरण और पुनर्जन्म पर बल देता है, हमारे पूर्वजन्म के कार्यों से हमारा वर्तमान जीवन प्रभावित होता है और जो कुछ हम इस जन्म में करेंगे उससे अगले जन्म का निर्धारण होगा। गांव के लोग इन दोनों विचारों को इस प्रकार एक व्यवहारिक नियम में ढालते हैं, हमारे पिछले जन्म के आधार पर इस जन्म का मार्ग निर्धारित हुआ है, किन्तु उस जीवन में 'सही' ढंग से कार्य करने पर हमारी मृत्यु के बाद के जीवन का स्वरूप बदल सकता है।"[21]

ऐसी चेतना आज भी ग्रामीण क्षेत्रों के किसानों में देखी जा सकती है। वह मौत को जीवन का अन्त नहीं समझते हैं। उनको लगता है मौत के बाद 'अच्छे या बुरे' कर्मों का फल ईश्वर देता है। 'अच्छे कर्म' करेंगे तो स्वर्ग मिलेगा, 'बुरे कर्म' करेंगे तो नरक मिलेगा। नरक में प्रताड़ना झेलनी पड़ती है। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही यह मानते हैं कि मृत्यु ही अंत नहीं है, इसके बाद भी कुछ है। दोनों ही मृत्यु के बाद आत्मा के गंतव्य को महत्व देते हैं। मुसलमान कयामत की घड़ी तक अपनी कब्र में रहना चाहता है जबकि उसे उसके कार्यों के हिसाब से जहन्नुम में जगह मिलेगी। हिन्दू का जीवन एक प्रकार से एक अन्तहीन प्रक्रिया है। मृत्यु के बाद या तो व्यक्ति स्वर्ग में जाता है या नरक में या फिर से वह जन्म लेता है। अपने पिछले जन्म की जाति से उंची या नीची जाति में हो सकता है या वह मनुष्य से नीचे की श्रेणी के पशु-जगत की किसी भी कोटि में जन्म ले सकता है। इसीलिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति यह चेष्टा करे कि उसे स्वर्ग मिले या फिर किसी आदरणीय जाति और भले परिवार में उसका जन्म हो।

यह वर्णन गांव के लोगों से कहीं सुनने को मिल सकता है। बातचीत, लोककथा, मिथक और पुराणों के माध्यम से ये विचार बचपन से ही दिमाग में भर दिये जाते

हैं। कभी-कभी ऐसा मिथकीय इतिहास उनके लिए प्रेरणा का स्त्रोत बनता है। इसका उदहारण 'यमुना के बागी बेटे' में देखने को मिलता है। जीवन में 'बुढ़ापा' या 'वृद्धावस्था' एक विशेष अवस्था है जिसकी चिंता अलग अलग तरह से की जाती है। बुढ़ापे की चिन्ता सताने लगती है। वहां पर स्वर्ग-नरक का डर सताने लगता है। फिर अपने जीवन में किये गये 'पापों' को धोने के लिए तमाम कर्म-काण्ड, धार्मिक अनुष्ठान करने पड़ते हैं ''जब-तक जवानी रहती है आदमी उन्माद में रहता है। पैसा रहने तक सोने की चमक-दमक आदमी को अन्धा कर देती है। किन्तु बुढ़ापे में आदमी अपनी जवानी में किये गये कामों पर पश्चाताप करता है अपनी धुन्धली दृष्टि से वह सोने की पागल कर देने वाली चमक को अब नहीं देख पाता और तब उसका ध्यान धर्म की ओर जाता है।''[22]

धार्मिक अनुशासन सांसारिक समस्याओं से छुटकारा दिलाने का एक माध्यम है। जाति की परम्पराओं और धर्मचर्चा के सामान्य नियमों का स्वीकरण, व्रत - उपवास रखना और त्यौहार मनाना, जीवन-यात्रा के संस्कार-सम्बंधी सामाजिक नियमों का पालन तीर्थस्थलों तथा पवित्र नदियों में स्नान के लिए यात्रा को धर्म का अंग गिना जा सकता है। विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु विशेष पूजा एवं निर्माण धर्म के माध्यम से ही करता है।

किसान का सामाजिक जीवन और उसकी संस्कृति खेती-किसानी से जुडी हुयी है। सामाजिक संस्कृति में आने वाले नए परिवर्तन में शिक्षा के चलते आयी जागरूकता, चेतना, परम्परागत मूल्यों के इतर नए मूल्यों की स्थापना करती है। किसान का तेजी से मजदूर में बदलाव उसकी सामाजिक स्थिति एवं किसानी के मूल्यों-संस्कृति को भी बदल देती है। इन सूक्ष्म-व्यापक परिवर्तनों का यथार्थ चित्रण किसान जीवन के यथार्थ को व्यापकता में समझने के लिए बहुत जरुरी है।

जीवन जीने के तरीके या दैनिक जीवन में काम करने के तरीके, आदते, रीति-रिवाज आदि सब कुछ संस्कृति का अंग है जो कि व्यापक आर्थिक प्रक्रियाओं से इतर नहीं बल्कि उन्ही का एक भाग है। सामाजिक सांस्कृतिक जीवन व्यक्ति और समूह या समाज के निजी जीवन का हिस्सा होता है इसीलिए संस्कृति राजनीति, प्रतिरोध और वर्चस्व का सबसे प्रभावशाली संवेदनशील आधार है। सरकारी शासन-प्रशासन की राजनीतिक-आर्थिक नीतियों का प्रभाव किसान समाजके समग्र जीवन पर पड़ता है।

शासक वर्ग द्वारा हमेंशा ही वर्चस्व और प्रभुत्व की विचारधारा समाज की मुख्यधारा के विचार और संस्कृति के रूप में थोपी जाती रही है। अपनी विशेष पहचान के नाम पर हाशिये के गरीब, छोटे जाति वर्ग के किसान समुदाय की पहचान को संस्तरण में निचले पायदान पर रखा जाता रहा है। शोषण के लम्बे इतिहास के साथ ही प्रतिरोध का इतिहास भी लम्बा रहा है । यह दूसरी बात है कि अक्सर इतिहास ने प्रतिरोध की संस्कृति को अपराध की संस्कृति के रूप में चित्रित किया है। यह प्रतिरोध की संस्कृति सामाजिक रीति-रिवाज, परंपरा-मूल्यों को नकार कर अपने अस्तित्व के लिए हमेशा ही संघर्षरत रही है। मनुष्य जीवन का सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष हमेशा ही उसका सबसे 'निजी,' 'करीबी' या 'अपना' जीवन होता है इसीलिए राजनितिक-आर्थिक स्तर पर परिवर्तन के बाद भी इस पक्ष में परिवर्तन धीरे-धीरे दिखाई देता है। यह परिवर्तन चाहे वर्चस्व की संस्कृति को लगातार चुनौती देते हुए प्रतिरोध का हो अथवा अपने वर्चस्व को बनाये रखने के लिए किये जाने वाले तमाम प्रयासों का, अपने सभी रूपों में सांस्कृतिक पक्ष मनुष्य के जीवन का सबसे जीवंत पक्ष होता है। किसान जीवन के सम्बन्ध में भी यह बात उपन्यासों के माध्यम से रेखांकित की गयी है।

सन्दर्भ

---

[1]एम.एन. श्रीनिवास: आधुनिक भारत मे सामाजिक परिवर्तन, पृष्ठ संख्या17

[2]योगेन्द्र सिंह: भारतीय परम्परा का आधुनीकरण, पृष्ठ संख्या 2

[3]एम.एन. श्रीनिवास:आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, पृष्ठ संख्या15

[4]लुईस अल्थुय्सर: आइडियोलॉजी एंड आइडीओलोजिकलस्टेट अप्रेट्स, पृष्ठ संख्या 4

[5]जगदीश चन्द्र:धरती धन न अपना, पृष्ठ संख्या183

[6]वही से: पृष्ठ संख्या187

[7]विवेकी राय: लोकऋण, पृष्ठ संख्या3

[8]संजीव: फ़ांस, पृष्ठ संख्या 61

[9] वही से, पृष्ठ संख्या 56

[10]वही से, पृष्ठ संख्या 99

[11]बनाफ़र चन्द्र, ज़मीन, पृष्ठ संख्या 30

[12]ए.आर. देसाई: भारत का विकास मार्ग: मार्क्सवादी दृष्टि

[13]वही से: पृष्ठ संख्या 78

[14]वही से: पृष्ठ संख्या 17

[15]मधुकर सिंह: बजात अनहद ढ़ोल, पृष्ठ संख्या 6

[16] वीरेंद्र जैन: डूब, पृष्ठ संख्या117-20

[17] वही से, पृष्ठ संख्या120

[18]मधुकर सिंह: बाजत अनहद ढोल, पृष्ठ संख्या 24

[19]वही से, पृष्ठ संख्या 106

[20]वाई.बी.माथुर: गाँव की हालत-1885-1985, पृष्ठ संख्या 64

[21]एस.सी. दुबे: भारतीय ग्राम,पृष्ठ संख्या 53

[22]वही से, पृष्ठ संख्या 95

अध्याय 6

समकालीन हिंदी उपन्यासों में किसानों का राजनैतिक प्रतिरोध

किसान के जीवन से सम्बंधित अनेक मशहूर दोहों में से एक घाघ का दोहा 'उत्तम खेती मध्यम बान, अधम चाकरी भीख निधान' में खेती को जीविका का सबसे उत्तम साधन माना गया है। आज स्थिति यह है कि कृषि प्रधान देश में कृषि के क्षेत्र को ही अनदेखा कर केवल बड़े उद्योगों और सेन्सेक्स की बढ़ोतरी को ही विकास मान लिया गया है और कृषि लगातार एक घाटे का सौदा होती जा रही है । शोध प्रबंध के दूसरे और तीसरे अध्याय में किसान जीवन की ऐतिहासिकता और आर्थिक संरचना के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट होती है कि किसानों की दशा हर समयकाल में एक सी ही रही है| परिणामस्वरूप किसानों के विद्रोह सर्वत्र होते रहे है ।

ऐतिहासिक रूप से बदलते समय-समाज के आर्थिक-राजनैतिक सन्दर्भ में देखें तो किसान जीवन अपने आप में तमाम तरह के संघर्ष का प्रतीक है। शोषण का प्रतिरोध करने के लिए इसके प्रति जागरूकता जरुरी है और यह जागरूकता अपने हकों-अधिकारों के प्रति चेतना से आती है। यही चेतना शोषण का प्रतिरोध करने के लिए आवश्यक संगठन की बुनियाद बनती है। अगर हम अब तक हुए प्रमुख किसान आन्दोलनों को देखें तो जिस स्तर तक भी वे सफल हो पाए हैं और जिन भी कारणों से असफल रहे हैं उनमें एक प्रमुख कारक विभिन्न स्तरों पर किसानों में चेतना के स्तर का अंतर है । साहित्य रचना के अंतर्गत किसानजीवन की समस्याएं एवं उनके प्रतिरोध को साहित्य के अलग-अलग स्वरुप में दर्ज किया गया है ।

साहित्य में प्रतिरोध की अभिव्यक्ति

साहित्य में किसान जीवन को आधार बना कर लेखन होता है। चूँकि किसान का सम्पूर्ण जीवन ही त्रासदीपूर्ण और संघर्षमय है, अतः इसकी अभिव्यक्ति भी जीवन की अलग-अलग आयामों में प्रतिबिंबित होती रही है। संघर्ष है तो देर-सबेर प्रतिरोध होना स्वाभाविक है। प्रतिरोध का स्वरुप उसकी तीव्रता, आवृत्ति और सफलता कई कारकों पर निर्भर करती हैं जैसे चेतना, जागरूकता, संगठन, नेतृत्व, रणनीति, संसाधन आदि। शोषण-उत्पीड़न का स्वरुप इसकी प्रतिरोध की संस्कृति में दिखाई देता है। उदाहरणस्वरुप आदिवासी लोकगीत में संघर्ष और प्रतिरोध के गीत काफी मुखर है।

साहित्य एवं कला में अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह प्रतिरोध नाटक, गद्य, कविता, कहानी आदि में मिलता है। आधुनिक काल में लोक-साहित्य के अलावा किसानों की प्रथम बार गद्यात्मक रूप में अभिव्यक्ति बांग्ला के 'नीलदर्पण' (1860) नाटक में हुई है। यह नाटक 1857 के प्रथम स्वधीनता-संग्राम के एक वर्ष बाद अर्थात् 1858 के किसान विद्रोह पर आधारित है। इस नाटक पर तत्कालीन शासन ने प्रतिबंध लगा दिया था।इसमें खेतिहर मजदूर, किसान और संभ्रान्त भू-स्वामी के रिश्तों को नये ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ़ विद्रोह में चित्रित किया गया है। इस नाटक के द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य में तोराप नाम के पात्र का संवाद है कि- "चाहे मार क्यों न डालें, मैं नमकहरामी नहीं करूँगा...जिन बड़े बाबू की वजह से जान बची है, जिनकी जमींदारी में खेती करता हूँ, जो बड़े बाबू हल-बैल बचाने को परेशान हैं, झूठी गवाही देकर उन्हीं बड़े बाबू के बाप को कैद करा दूँ? मुझसे कभी न होगा, चाहे जान चली जाए।" नील की खेती के विरोध में भारतवर्ष का किसान 19वीं सदी से लेकर 20वीं सदी के दूसरे दशक तक रहा।

इसी तरह 'चंपारण का किसान-आंदोलन' (1917-18) भी 'तिनकठिया' के नियम के विरोध में था। नील की खेती ने खाद्यान्न संकट को पैदा किया। अनाज की कमी अकाल में अत्याधिक लोगों की मौत का कारण बनी। उसके मूल में खाद्यान्न फसलों की जगह नील की खेती ही रही। इसके विरोध में किसान एक जुट हुए। उनमें अपनी अस्मिता का बोध और अस्तित्व की रक्षा का भाव पैदा हुआ। इस रूप में देखें तो 'नीलदर्पण' नाटक का किसान आंदोलनों के परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक महत्व है। अंग्रेजों के लिए तभी से 'नीलहे' या 'नीलकर' शब्द प्रचलन में आया। किसानों की प्रतिरोधी चेतना को तीव्र करने में नील की खेती मूल कारक रही।

अन्य क्षेत्रीय भाषाओँ पर नजर डालें तो उड़िया के प्रसिद्ध उपन्यासकार फकीर मोहन सेनापति का 'छह माण आठ गुण्ठ' (1897) उपन्यास उल्लेखनीय है। इस उपन्यास में परंपरागत कृषि आधारित समाज के बदलते रूप की अभिव्यक्ति हुई है। शोषित निरीह जुलाहा दम्पत्ति, भगिआ और सारिआ की शोकपूर्ण करुण गाथा इसका कथ्य है। गोविन्दपुर का जमींदार रामचन्द्र मंगराज संपदा और अधिकार के वशीभूत और चंपा के बहकावे में 'छह माण आठ गुण्ठ' जमीन पर गिद्ध दृष्टि डालता है। यह जमीन भगिआ और सारिआ की है। धर्म की आड़ और मंगराज की चालने हँसते-खेलते दम्पत्ति और 'नेत' (भगिआ और सारिआ के कोई संतान नहीं थी, इसलिए उन्होंने एक

गाय पाल ली, उसका नाम नेत रखा) को भूमिहीन और पागल कर दिया। यह उपन्यास भू-संपदा की चाह को लेकर रचा गया है। इसके लिए नीति-अनीति को ताक पर रखा गया है। दंपत्ति की जमीन की कुर्की कराकर, घर को तुड़वा दिया गया। कर्ज़ कैसे मनुष्य की जिंदगी को लील लेता है ? इसकी भी इसमें सम्यक प्रस्तुति हुई है। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हिंदी में आर्थिक अधोपतन को 'जीर्ण-जनपद' में अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। इसके अलावा नाटकों में भी आर्थिक-संदर्भ उपस्थित हुए हैं।

इस संदर्भ में साहित्य लेखन में प्रेमचंद का उल्लेख करना काफी प्रासंगिक है। साहित्य में किसानों की स्थिति का वर्णन यथार्थवादी ढंग से प्रेमचंद की लेखनी में प्राप्त होता है। ऐसा नहीं है कि इससे पहले किसी अन्य लेखक ने किसानों की समस्याओं पर नहीं लिखा लेकिन प्रेमचंद की रचनाओं में एक किसान चेतना की दृष्टि दिखाई देती है। इसी कालखंड में प्रेमचंद का लेखन युग-धर्म की प्रतिध्वनि बनता है। प्रेमचंद किसान को ग्रामीण-तंत्र और नई आर्थिक-व्यवस्था के तले दबते हुए देखते हैं। इसे वे 'महाजनी सभ्यता' के नाम से संबोधित करते हैं जिसमें पूँजीवाद का प्रेत पुराने मानों-प्रतिमानों को लीलता जा रहा है। नये सामाजिक-संबंध अर्थ की पिशाच भूमि पर अवस्थित हो रहे हैं। अर्थात् अर्थ ही युग-धर्म है।

इस महाजनी सभ्यता में किसान की रंगभूमि का मसान होना तय है। यह मसान गोदान के साथ होगा। प्रेमचंद लिखते हैं कि "पुरानी सभ्यता सर्वजन-सुलभ, प्रजातांत्रिक थी।...ज्ञान और उपासना का, गंभीरता और सहिष्णुता का सम्मान राजा भी करता था और किसान भी करता था।...आधुनिक प्रणाली ने जनसाधारण को अपनी परिधि से बाहर कर दिया है। उसने अपनी दीवार आडंबर पर खड़ी की है। भौतिकता और स्वार्थपरकता उसकी आत्मा है। इसके बावजूद जनतांत्रिक ही आधुनिक सभ्यता का सबसे प्रधान गुण कहा जाता है।"[1]

प्रेमचंद की दृष्टि में 'सरकार', 'साहूकार' और 'जमींदार' ये 'त्रिमूर्ति' काश्तकारों के सबसे बड़े दुश्मन हैं। प्रेमचंद की पक्षधरता उत्पादक एवं मेहनतकश वर्गों के साथ थी। प्रेमचंद अपने वैचारिक-लेखन में एक ओर वास्तविकता या यथार्थ को रेखांकित करते हैं तो दूसरी ओर संभाव्य-यथार्थ या आदर्श को साथ लेकर चलते हैं। जैसे-"क्या यह शर्म की बात नहीं कि जिस देश में नब्बे फ़ीसदी आबादी किसानों की हो उस देश में कोई किसान सभा, कोई किसानों की भलाई का आन्दोलन, कोई खेती का विद्यालय,

किसानों की भलाई का कोई व्यवस्थित प्रयत्न न हो। सैंकड़ों मदरसे औरकॉलेज बनवाये, यूनिवर्सिटियाँ खोलीं और अनेक आन्दोलन चलाये मगर किसके लिए? सिर्फ़ अपने लिए, सिर्फ़ अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए। और शायद अपने राष्ट्र की जो कसौटी आपके दिमाग में थी उसको देखते हुए आपका आचरण ज़रा भी आपत्तिजनक नथा। मगर नये ज़माने ने एक नया पन्ना पलटा है। आने वाला ज़माना अब किसानों और मजदूरों का है। दुनिया की रफ्तार इसका साफ़ सबूत देर ही है।"[2]

इसी लेख में प्रेमचंद कहते हैं कि ताल्लुकेदार और जमींदार समय की हवा का रूख पहचानें। किसानों से बेगारी लेना छोड़ दें, उनके साथ आदमियत का बर्ताव करें, इज़ाफा और बेदखली से परहेज करें, ताकि जनता के दिलों में उनकी इज्जत और उनके प्रतिश्रद्धा हो।जनता यानी काश्तकारों की हिमायत का एक प्रोग्राम तैयार करें और उसे अपनी कार्य-प्रणाली बना लें। पूँजीपतियों ने किसानों की खेती उजाड़ दी है। नई महाजनी सभ्यता (महाजनवाद या पूँजीवाद) के प्रेत से लड़ने के लिए एक नई समाज-व्यवस्था के स्वप्न को लेकर एक सिद्धांत पश्चिम से उदित हो रहा है जो नई संभावनाएँ पैदा करता है। यह अतिआशावाद आज घनीभूत अँधकार में मिट-सा गया है।

आजादी के पूर्व 'तेभागा आंदोलन' ('तेभागा' का अर्थ है- एक-तिहाई) 1946 के उत्तरार्ध में बंगाल में हुआ जिसमें बटाईदारों ने ऐलान कर दिया कि वे भूस्वामियों को उपज का आधा हिस्सा नहीं, बल्कि एक-तिहाई हिस्सा देंगे और हिस्सा बँटने तक उपज उनके अपने खामारों (घर से लगेखलियानों) में रहेगी, जोतदारों के खलिहानों में नहीं। यह आंदोलन बंगाल के 19 जिलों में फैला और लगभग 60 लाख किसान इस आंदोलन के सहभागी बने। यह आंदोलन आजादी के बाद समाप्त हुआ। इस आंदोलन के प्रमुख नेता थे- कृष्ण विनोद राय, अवनि लाहिरी, सुनील सेन, विभूति गुहा, मोनी सिंह इत्यादि। 'त्रावणकोर का संघर्ष' (1946), और 'वर्ली का संघर्ष' (1945) भी महत्वपूर्ण किसान आंदोलन थे, जिनको लेकर साहित्य मलयालम एवं मराठी भाषा में लिखा गया।

तेलंगाना आंदोलन (1945-1951) को लेकर 'माभूमि' नाटकवा. सी.रेड्डी भास्कर राव और सत्यनारायण सुन्कारा द्वारा तेलुगु भाषा में लिखा गया है जिसका हिंदी अनुवाद प्रो.वी.कृष्ण ने किया है। यह आंदोलन किसानों के भूमि-संघर्ष से जुड़ा हुआ है।

'माभूमि' नाम से वी.नरसिम्हा राव एवं कृष्ण चंदर ने फिल्म का निर्माण भी किया। इसमें जमीदार, दोरा, निजाम और सेना के संघर्ष के मध्य प्रजाशक्ति को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। "तेलंगाना के किसानों का विद्रोह देशमुखों, पटेल-पटवारियों द्वारा जमीनों की लूट, गैर-कानूनी लेवी, वेट्टी (बेगार) एवं वेटी चाकरी (मुफ्त सेवायें) और निचली जातियों की नौकरानियों के साथ दुर्व्यवहार आदि कारणों से हुआ, जिसने अधिकांश जनता को समान रूप से प्रभावित किया।आन्ध्र महासभा के नेतृत्व में 1940 में किसानों के शोषण के विरुद्ध कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं ने सर्वप्रथम आवाज उठाई। लेकिन असली संघर्ष 4 जुलाई, 1946 को आन्ध्र महासभा के कार्यकर्त्ता डोड्डी कुमारैया की हत्या के साथ शूरू हुआ जो एक गरीब धोबन की थोड़ी-सी जमीन को बचाने का प्रयास कर रहा था।...इसी समय पृथक तेलुगु भाषी राज्य के लिए संघर्ष छिड़ा हुआथा। साम्यवादियों ने इस आंदोलन का समर्थन किया ताकि उस क्षेत्र में निजामके प्रभाव को कमजोर किया जा सके।...1948 तक गुरिल्लाओं के प्रभाव में 25,000 गाँव आ चुके थे।"[3]

इसी दौर में आदिवासी या जनजातीय आंदोलन भी अपनी पृथक नृजातीय सांस्कृतिक पहचान के साथ जल, जंगल और जमीन के मुद्दे को लेकर आगे आता है। आदिवासी आंदोलन का इतिहास सन् 1740 के आस-पास से लिखित रूप में मिलता है। इन आदोलनों में गोण्डों, मुंडाओं (तमाड़ विद्रोह 1766 से 1790 के आस-पास तक), कोलों, संथालों, भीलों और खासी समुदायों के आंदोलनों को देखा जा सकता है।ये सब आंदोलन भूमि से जुड़े हुए थे।इनको लेकर कथाकार संजीव ('जंगल जहाँ शुरू होता है', 'सावधान! नीचे आग है', 'फाँस'), राकेश कुमार सिंह ('पठार पर कोहरा', 'महाअरण्य में गिद्ध') नाटककार हबीब तनवीर ('हिरमा की अमर कहानी') हृषीकेश सुलभ ('धरती आबा'), कथाकार हरिराम मीणा ('धूणीतपेतीर') रोजकेर केट्टा और निर्मला पुतुल का साहित्य सामने आया है। इन जनजातीय आदोलनों में कुछ नारे भी बने। जैसे- मध्यप्रदेश में- 'जल, जंगल, जमीन, ये हों जनता के अधीन' (भूमि, पानी और जंगल को लोगों के सामुदायिक नियंत्रण में रखा जाना चाहिए)।

समय-काल में शासन-सत्ता और सत्ता के लिए होने वाले आंदोलनों के सापेक्ष किसानों की अपनी समस्याएँ जटिल और बहुस्तरीय रहीं हैं। जहाँ अंग्रेजी उपनिवेशकाल के समय किसानों के समस्यायें प्रमुखतः अंग्रेजी उपनिवेशी सत्ता जनित थी (हालाँकि स्थानीय शासन किसानों के प्रति बहुत सौहार्दपूर्ण हो ऐसा भी नहीं था), इसमें

स्थानीय या देशी सामंतवाद और स्थानीय सेठ-महाजन, द्वारा समस्याएं द्वितीयक हो गयीं या अन्य शब्दों में कहें तो गरीब किसानों के देशी सामंतों-जमींदारों-सेठ महाजन से अंतर्विरोध अपेक्षाकृत हल्के पड़ गए। और उनका सामना प्रमुख रूप से अंग्रेजी सत्ता से रहा जिसके सांठ-गांठ में देशी राजा-रियासत रही थी। इसका उदहारण संथाल विद्रोह में देखने को मिलता है।

दूसरा स्तर स्वतंत्रता आन्दोलन के दौर में ब्रिटिश सत्ता के विरोध का है जहाँ गरीब-दलित-पिछड़ी जाति के छोटे किसान सीधे तौर पर देश की आज़ादी के लिए नहीं बल्कि अपने शोषण-उत्पीड़न से आज़ादी के लिए लड़ रहे थे। लेकिन इस दौर में स्वाधीनता आन्दोलन अपने उठान पर था इसीलिए देशी-स्थानीय नेताओं ने किसान आन्दोलन को अपने में समाहित कर लिया और उनकी तात्कालिक समस्यायें देश की बड़ी समस्यायों में खो गयी जिन्हें आज़ादी के बाद भी ईमानदारी से नहीं सुलझाया गया। इस सन्दर्भ में कमलाकांत त्रिपाठी का उपन्यास 'बेदखल' प्रासंगिक है जो राष्ट्रीय आन्दोलन और किसान आन्दोलन के अंतर्विरोध को उजागर करता है ।

तीसरा दौर आज़ादी के बाद का है। गरीब-किसानों से जो लोक-लुभावन वादे किये गए थे उन्हें पूरा नहीं किया गया। गोरों के स्थान पर देशी शासक थे पर समस्याएं वही थीं। इसी आज़ादी के मोहभंग को वीरेंद्र जैन के उपन्यास 'डूब' और 'पार' दिखाते हैं। 'खुले गगन के लाल सितारे' इसी मोहभंग का क्रांतिकारी प्रतिरोध है।

औपनिवेशिक शासन में किसान प्रतिरोध का सामाजिक संदर्भ

इस दौरान विरोध का सबसे बड़ा आधार राज्य द्वारा वनों के पारंपरिक अधिकार को ख़त्म करने का प्रयास था। वनों पर राज्य का एकाधिकार और उनका व्यावसायिक दोहन किसानों की जीविका और नैतिकता के विपरीतथी। राज्य एकाधिकार ने गांवों की स्वायत्तता को कम करने का काम किया। इस संदर्भ में हुये सामाजिक प्रतिरोध की खासबात यह है कि उसमें राज्य के एकाधिकार को निशाना बनाया गया। बहुतसे क्षेत्रों में पहले किसानों ने इन नए नियमों को वापस लेने की याचिका दायर की पर जब उनकी कोई सुनवाई नहीं हुई तो उन्होंने राज्य के नियंत्रण को सीधी चुनौती दी। उन्होंने उन क्षेत्रों पर हमला किया जहाँ वनविभाग का नियंत्रण था और जहां मुनाफे के लिए हमला हो रहा था।कई मौको पर यह विरोध वनविभाग के क़ानूनों का

सामूहिक उल्लंधन के रूप में सामने आया तो कई बार लुक-छिपकर आगजनी की घटनाएँ या अत्याचारी अधिकारियों के कत्ल के रूप में सामने आता रहा है।

विश्व के अन्य भागों में होने वाले किसान आंदोलन की तरह ही भारत में भी सामाजिक प्रतिरोध की एक तकनीकी के रूप में आगजनी का प्रतीकात्मक और उपयोगितावादी महत्व था। प्रतीकात्मक इसलिए क्योंकि इसमें इस दावे का विरोध किया जाता था कि मुख्य संसाधनों पर राज्य का स्वामित्व है और उपयोगितावादी इसलिए क्योंकि इसमें उन्हीं स्तरों को निशाना बनाया जाता था जहां राज्य का स्वामित्व था।

अलग अलग समय और स्थानो पर हुये ऐतिहासिक किसान आंदोलनों से तुलना कर ने पर यह बात स्पष्ट होती है कि वहाँ भी विरोध का लोक-प्रचलित धर्म से जुड़ाव रहा है। बहुत से क्षेत्रों में प्रकृति का प्रथागत उपयोग और संसाधन उपयोग और संरक्षण की पारंपरिक व्यवस्था से शासित होता था। इसमें प्रकृतिक संसाधनों के दोहन की मात्र और रूप का धर्म लोकगीत और परंपरा से नियमन होता था।

औपनिवेशिक शासन में संसाधनों के प्रबंधन की इन देशज व्यवस्थाओं का दमन कर दिया गया और कई मौके पर ये विलुप्त हो गयी। अलग अलग समुदायों ने अलग अलग तरीके से औपनिवेशिक शासन के इन प्रभावों पर अपने अपने तरीके से प्रतिक्रिया दी। उदाहरण के तौर पर बैगा लोगों ने अपने ऊपर हल से खेती की व्यवस्था थोपने का विरोध किया इसके लिए उन्होंने अपनी उत्पत्ति के मिथक का सहारा लिया और कहा कि उन्हें विशेष रूप से यह निर्देश मिला है कि वे धरती माता की छाती पर हल ना चलाएं।

जैसा कि एल्विन ने लिखा है कि गोंड लोगों को यह पक्का यकीन था कि उनके द्वारा अपने वनों को खोना कलयुग के आने की निशानी है जो कि अंधकार का युग होता है। जिसमें उनकी व्यापक चिकित्सा परंपरा पूरी तरह से अप्रभावकारी हो जाएगी। आधुनिक सभ्यता की शक्ति इतनी मोहक औरकपटीहैकिखुदउनकेदेवताभीशक्तिशालीलोगों के पास चले गए हैं। ये औद्योगिक समाज की देशव्यापी विशेषताओं का प्रतिरोध करने में खुद असमर्थ थे,'सभी देवताओं ने ट्रेन पकड़ली और वन को छोड़कर शहरों में चले गए, जहां उनकी सहायता से शहरी लोगो की समृद्धि बढ़ी।"[4]

किसानों द्वारा प्रतिरोध के तरीकों की आलोचनात्मक विवेचना काफी की गयी है और अनुसंधानकर्ताओं ने दिखाया है कि किसान लोग मुख्यत निरक्षर लोगो से बनी दुनिया में काम करते हैं, और इसीलिए कई किसान आंदोलन में लिखित घोषणा पत्र का अभाव होता है। ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचने से पहले यह आवश्यक है कि हम सामाजिक प्रतिरोध के विभिन घटकों को पुनिर्मित करते हुये किसानों की कार्यवाइयों की एक सुनिश्चित विचारधारात्मक अंतर्वस्तु को सामने लाएँ।

बदलते परिदृश्य को ध्यान में रखते हुये यह बात बिलकुल सही है कि अलग-अलग क्षेत्रों और अलग-अलग दौर में संसाधनों के उपयोग और विरोध के अलग अलग रूप सामने आए। अपने प्रारम्भिक रूप में यह न सिर्फ राज्य प्रबंधन से अपने असंतोष को दिखाते थे बल्कि ये संचार और सहयोग के पारस्परिक नेटवर्क पर भी काफी निर्भर थे।ध्यान देने योग्य बात यह है कि औपनिवेशिक अधिकारी यह मानते थे कि गांवो या कबीलों के मुखिया या सरदार जैसे लोग स्थानीय सत्ता और प्राधिकार का केंद्र हैं जिनसे उन्हें प्रतिरोध की चुनौती मिल सकती है। लेकिन वास्तव में इन नेताओं ने सदैव अपने कबीले या गाँव को वरीयता दी है।

राजस्थान में 1990 में बने 'मजदूर किसान शक्ति संगठन' (एम.के.एस.एस.) ने ग्रामीण गरीबों के लिए न्यूनतम मजदूरी, भूमि अधिकार, रोजगार और विकास कार्यक्रमों हेतु आंदोलन किया। यह आंदोलन जनता के लिए सूचना प्राप्त करने के अधिकार हेतु संघर्ष से जुड़ गया। इसका बड़ा योगदान रहा।

'इंडिया' के विरूद्ध 'भारत' का नारादिया गया । 'भारत' शब्द का प्रयोग 'इंडिया' के लिए देशी नाम के रूप में किया जाता है जो कृषक समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है और 'इंडिया' पश्चिमीकृत नाम है जो औद्यौगिक उत्पादन सहित नगरीय केन्द्रों का प्रतिनिधित्व करता है।

देशी सामंतवाद और अंग्रेजी उपनिवेशवाद के शोषण का दोहरा प्रतिरोध

स्वतन्त्रता आंदोलन के दौर में हुये किसान आंदोलन पर राष्ट्रवादी आंदोलन का प्रभाव देखा जा सकता है लेकिन किसान प्रतिरोध के विश्लेषण में यह एक बहुत ही सावधानी बरतने वाली बात है कि सभी किसान आंदोलन स्वधीनता आंदोलन की कड़ी

का हिस्सा नहीं थे। उनके अपने स्थानीय मुद्दे थे जो कि प्रत्यक्ष रूप से सीधे तौर पर स्वाधीनता आंदोलन का भाग नहीं थे।

20वीं शताब्दी के प्रारंभ में बनने वालेराजनैतिक-आर्थिक परिदृश्य में किसान की हालत अत्यंत संवेदनशील होने लगती है और इस देश का किसान संगठित रूप से आंदोलन करता है। इसका नेतृत्व पहली बार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं गाँधी, राजेन्द्र प्रसाद, जे.बी. कृपलानी, राजकुमार शुक्ला, पीर मुहम्मद और ब्रजकिशोर प्रसाद के साथ 'चंपारन आंदोलन' (1917-18) में जुड़ता है। उसी प्रकार 'खेड़ा आंदोलन' (1917-18) से मोहनलाल पांड्या जुड़े थे| गाँधीजी मार्च1918 में इस आंदोलन से जुड़े। इस आंदोलन की सम्यक् विवेचना करते हुए इतिहासकार सुमित सरकार ने लिखा है कि "खेड़ा सत्याग्रह, जो भारत में पहला वास्तविक गाँधीवादी किसान सत्याग्रह थाएक छिट-पुट आंदोलन बनकर रह गया। 559 में से केवल 70 गाँवों पर ही इसका प्रभाव पड़ा और जून में मामूली सी रियायत लेकर ही आंदोलन को स्थगित कर देना पड़ा।" देश के अन्य भागों में भी संगठित किसान आंदोलन हुये। देश के स्तर पर फैलने वाली राजनैतिक चेतना ने किसानों में भी पर्याप्त जागरूकता फैलाई। अलग अलग राज्यों में भी उनकी स्थानीय समस्याओं के अनुसार राजनैतिक चेतना का विस्तार हुआ और वहाँ होने वाले आंदोलन में भी उनका प्रतिबिंब दिखाई देता है।

राजस्थान का 'बिजोलिया' आन्दोलन प्रजा-शक्ति से उत्पन्न हुआ। इन व्यापक आंदोलनों पर उस समय के स्वतन्त्रता आंदोलन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है, इन आंदोलनो पर गांधी का प्रभाव दिखायी देता है और साथ ही काँग्रेस पार्टी का भी हस्तक्षेप दिखाई देता है। गुजरात का 'बारदोली' (1927-28) किसान आंदोलन गाँधीवादी तरीकों को अपनाकर सफलता प्राप्त करने वाला पहला किसान आंदोलन था। यह आंदोलन 'बारदोली' में लगान में की गई22 प्रतिशत वृद्धि के खिलाफ 1927 में आरंभ हुआ। स्थानीय स्तर पर इसके नेता कुंवरजी तथा कल्याण जी मेहता थे। उन्हीं के प्रयासों व अनुरोध से वल्लभभाई पटेल ने संघर्ष का नेतृत्व अपने हाथ में लिया। डॉ. युवराज कुमार ने 20वीं शताब्दी के तीसरे दशक के कृषक आंदोलनों की एक प्रमुख विशेषता की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि -"कृषक-चेतना व जुझारूपन ने अपने को संगठित रूप से सुदृढ़ करने का प्रयास किया। इन्द्रनारायण द्विवेदी की संयुक्त प्रान्त किसान सभा (1918), जवाहरलाल नेहरू, बाबा रामचन्द्र की अवध किसान सभा (1920), एन.जी. रंगा की रैयत एसोशियन, गुंटूर (1923), संयुक्त प्रान्त

किसान संघ (1924), स्वामी सहजानन्द की बिहार प्रादेशिक किसान सभा (नव.1929) इसी प्रयास के प्रतीक थे। बंगाल में फजलुलहक की कृषक प्रजा पार्टी (जुलाई1929) तथा पंजाब में फज्ले हुसैन की युनियनिस्ट पार्टी किसान हितों को लेकर स्थापित किए गए राजनैतिक संगठन थे।''

टिहरी रियासत और अंग्रेजी उपनिवेश सत्ता ने मिलकर 'वन संरक्षण कानून' लागू किया। पहाड़ों पर में गरीब किसानों का जीवन और आजीविका दोनों ही निर्भर रहते हैं । ऐसी नीतियों का किस प्रकार बिना सोचे समझे क्रियान्वन किया जाता है और क्या असर पड़ता है इसका विवरण विद्यासागर नौटियाल के उपन्यास 'यमुना के बागी बेटे' में दिया गया है। उपन्यास में वर्णित घटना का ऐतिहासिक रूप से महत्व हैं। एक तो इसलिए भी क्योंकि रंवाल्टो द्वारा अपने हक़ की लड़ाई का वर्णन इतिहास में भी दर्ज नहीं किया गया हैं और इसके दमन की घटना आज भी गढवाल क्षेत्र की स्थानीय जनश्रुतियों में मिल जाती हैं।

गरीब किसानों और राजदरबार के बीच यह संवाद उल्लेखनीय है , ''एक बात साफ़ तरीके से समझ लो! तुम लोग दरबार की जमीन पर मुफ्त में रहते आये हो । दरबार की भूमि फ़ोकट की नहीं हैं ।''

''हम तो हमेशा से ऐसा ही करते आये हैं माराज ।''

''हमेशा की बात तो तुम लोग भूल जाओ । अब वैसा नहीं चल सकता जैसा आज तक चलता आया है। दरबार के कीमती जंगलों को बाहिफाज़त नहीं छोड़ा जा सकता ।''

''हमारे खलिहानों को भी मुनारों के भीतर से ले लिया गया है साब । चरान-चुगान के जंगलों से हमें बेदखल किया जा रहा है । एइसे में हम कहा जायेंगे माराज?''

''तुम जहाँ चाहो, जा सकते हो । लेकिन रिजर्व फारेस्ट में तो मैं किसी को घुसने नहीं दूंगा। न घास के लिए, न लकड़ी के लिए,न भेड़-बकरियों, ढोर-डंगरों को लेकर चरान-चुगान के लिए। जंगलों के अन्दर खलिहान तो मैं हरगिज नहीं बनने दूंगा।''[5]

किसानों ने इन वन कानूनों को अपने हितों के खिलाफ समझा और उन्होंने रियासत से इस कानून को खत्म करने के लिए हर संभव गुहार लगाई पर रियासत नहीं पसीजी। किसानों और टिहरी रियासत (जिन्हें अंग्रेजी औपनिवेशिक सत्ता का संरक्षण

प्राप्त था) में संघर्ष होता है जिसमें सैकड़ों किसान मार दिए जाते हैं । अपने हक, अधिकार और सम्मान के लिए यह बगावत पहाड़ी किसानों के लिए प्रेरणा स्त्रोत बनती है । 'यमुना के बागी बेटे'उपन्यास में टिहरी गढ़वाल रियासत और उसकी प्रजा के संबंधों को दिखाया गया हैं । इन संबंधों का लेखक ने यथार्थवादी दृष्टि से विश्लेषण किया हैं । टिहरी गढ़वाल रियासत के किसानों कि जिस तरह कि चेतना विकसित हो रही थी उससे लग रहा था कि किसान के प्रतिरोध का स्वर त्रासदी में जायेगा। लेखक ने कोई भी आदर्शवाद स्थापित न करते हुए किसानों की चेतना, प्रतिरोध के तरीको के आधार पर उनका जो भविष्य बनता, उसी को दिखाने की कोशिश की है ।

'यमुना के बागी बेटे' में किसानों में वर्गीय चेतना का आभाव देखा जा सकता हैं। वे शासन, सत्ता और प्रजा के संबंधों के अंतर्विरोधों को नहीं समझते हैं । इसके चलते वह जब ज्यादा तकलीफ में होते हैं तो प्रशासन को अपनी समस्याएं बतानाजरुरी समझते हैं| किसान अपनी समस्याएँ लेकर चुप-चाप नजर झुका कर दरबार का हर आदेश मानते रहते हैं और उनसे ईमानदार जवाबदेही की मासूम आशा करते हैं। दरबार को उनकी समस्याओं से कोई लेना देना नहीं था । किसानों ने पहली बार स्वयं दरबार का उनके प्रति उदासीन रवैया देखा था।

जंगल और पहाड़ पर किसान जिन्दा रहता हैं। रियासत उन्हें जंगल जाने से रोकने के लिए जंगल की सुरक्षा और विकास के नाम पर कानून भी बनाता हैं। इस बात पर एक किसान सरकारी मुलाजिम से कहता हैं, ''जंगल की रक्षा तो हम करते हैं साब । जंगल तो हमारे मां-बाप हैं हुजुर । जंगल नहीं रहेंगे तो परजा कैसे जियेगी हुजुर?'' सारा झगड़ा तो जंगल बचाने का हैं पंडितजी । हम जंगल के पेड़ों को खड़ा रखना चाहते हैं, जंगल राज वाले उन्हें ठेकेदारों को बेचकर कटवा देने का बेरहम कानून बना रहें हैं । ...लंबी बहस छिड गयीं । प्रजा की ओर से कहा जाता था कि वे जगंलों के महत्त्व से खूब अच्छी तरह वाकिफ हैं और अपनी ओर से सैकड़ों वर्षों से उनकी रक्षा करते आये हैं । ''हम अच्छी तरह जानते हैं कि वे नहीं रहेंगे तो बनवासी भी जिन्दा नहीं रह सकते।''[6]

किसानों के खिलाफ कानून लाये जा रहे थे किसानों को लग रहा हैं की ऐसा पहली बार हो रहा हैं। इस कारण कानून को किसान मानने के लिए तैयार नहीं थे । किसानों

में आक्रोश बढ़ रहा था। किसानों में चेतना का स्तर एक समान नहीं हैं। कुछ एक किसान आगे बढ़ कर इस आक्रोश को संगठित करते हैं। लेकिन बिना रणनीति के और अस्पष्ट लक्ष्य के किसान जगह-जगह विद्रोह कर रहे थे। राजदरबारी अपने राज के हित में यह बगावत को कुचलना चाह रहे थे। राजदरबारी किसानों से समझौते के लिए सुलह समझौता भी करता हैं और राजा के विलायत से लौटने तक किसानों से शांति बनाये रखने और नया कानून लागू करने की बात करता हैं । "जब तलक श्री महाराज विलायत से लौट नहीं आते रंवाई के लोग कोई ढढँक नहीं करेंगे । और हुकूमत की ओर से तब तक नया कानून लागू नहीं किया जायेगा ।"[7] इस समझौते को तोड़कर किसानों से वार्ता की बात की जाती हैं। किसानों की तकलीफों को दूर करने का आश्वासन दिया जाता हैं । जब किसान वार्ता के लिए कुछ किसान आते हैं तब उन्हें रस्ते में गिरफ्तार कर लिया जाता हैं । किसान आगे क्या करे? इसकी रणनीति नहीं बनाते हैं । जैसे निहत्थे थे उसी रूप में एकत्रित होकर प्रतिरोध करते हैं । राजदरबारी उनकी भीड़ पर गोलियां चला देता हैं । सेना पूरे आन्दोलन को कुचल देती हैं ।

"कुछ ही मिनटों के अन्दर नत्थूसिंह कमांडेट की फ़ौज ने उन निहत्थे लोगों को तिन तरफ से घेर लिया। चौथी दिशा में यमुना माई अथाह जलराशि से उफनती हुई यामुना माई।"रियासत की पलटन में चार सिपाही ऐसे थे, जिनको इस हिदायत के साथ भीड़ के बिच भेज दिया गया कि वे लोगों को समझाएं की वे शांति से काम लें और हुकूमत के खिलाफ बलवा न करे । अपने चार लोगों को अपनी ओरआते देख भीड़ के अन्दर से उनके स्वागत में तरह-तरह की आवाजें आने लगी ।... वे समझ रहे थे कि उन चारों को भेजकर दीवान उनके प्रतिनिधियों को शायद समझौता वार्ता के लिए बुलाना चाहता हैं । उन सिपाहियों के लोगों के बीच पहुंचते-पहुंचते ढलानों पर निशाना साध कर बैठे सिपाहियों ने भीड़ पर ताबड़तोड़ गोलियां चलाना शुरू कर दिया। कुल अट्ठारह लोगों की मौके पर ही मौत हो गयी।"[8] किसान राजदरबार पर बार-बार भरोसा करते हैं और बार-बार धोखा खाते हैं।

यह यमुना घाटी में बसे उन किसानों की बगावत थी जो रियासत से अपनी तकलीफें दूर करना चाहते थे पर रियासत तो उनकी तकलीफों से ही फल-फूल रही थी यह भोले-भाले किसान भूल रहे थे । किसान बागी होकर अपने हक़ अधिकार पाना चाहते थे और सामानांतर अपनी व्यवस्था भी कायम करना चाहते थे । किसानों में अपने

वर्गीय हितों की पूर्ति के लिए चेतना का आभाव पर्याप्त रणनीति नहीं बना पाते हैं। अपने हक को लेकर उनकी चेतना विकसित होती हैं। वे सोचते हैं कि राजदरबार हमारी तकलीफें दूर कर सकता हैं पर आज तक करता भी आ रहा हैं । जंगल पहाड़ हमारे हैं हम इन्हें बचाते हैं और यह हमें सदियों से पाल-पोस रहे हैं । यह मुल्क हमारा हैं और राजा नहीं मानेंगे तो हम उनका राज भी नहीं स्वीकार करेंगे। ऐसा किसान सोचने लगे थे । एक मुखबिर से राजा को यह बात पता चल जाती हैं। मुखबिर सूचना का ब्यौरा बिना किसी कूटनीतिक शब्दावली का प्रयोग किये कुछ इस प्रकार देता हैं, ''बहुत साफ़ जुबान में यह अफ़सोस भरी जानकारी देनी पड़ रही हैं की रंवाल्टे अपने को मुल्क मानने लगे हैं और रियासती सरकार को 'दरबार' । वे किसी भी समय अपनी अलग सरकार बनाने की घोषणा कर सकते हैं । गाँव-गाँव में रंवाल्टे खुलेआम ऐलान करने लगे हैं कि इस मौके पर जो कोई 'मुल्क' के खिलाफ जायेगा, देवमंदिर में उसकी गर्दन उड़ा दी जाएगी।''[9] यह सूचना राजा के अधपढ़े लिखे जासूसों ने टूटी-फूटी भाषा में भेजी।

जब राजा ने सेना भेजी तब भी किसानों को लग रहा था कि राजा उनकी तकलीफें सुनने अपने हकीमों को भेज रहे हैं । पर राजा विद्रोह की किसी भी सुगबुगाहट को कुचलना चाहता था । किसानों पर सीधी गोलियां चलवा दी गयी थी, वे बिना लड़े ही हार गए थे। किसानों में वर्गीय चेतना का आभाव लेखक बार-बार दिखाता हैं। किसानों को यह समझना होगा कि जब तक अपने हक़ अधिकार के लिए वे खुद नहीं लड़ेंगे बार-बार धोखा खायेंगे, ठगे जायेंगे। उपन्यास में रंवाल्टो के किसानों का अंत वास्तविक अंत दिखाई देता हैं । यह उपन्यास ऐतिहासिक ढांचे में वर्तमान की कहानी कहता हैं। यह समाज का वास्तविक यथार्थ को व्यक्त करने में सक्षम भी दिखता हैं।

किसान आंदोलनों की पृष्ठभूमि, किसानों की चेतना, संगठनिक विकास त्रासदीपूर्ण रहा है । अगर इतिहास में जाये तो इसकी शुरुआत ईस्ट इण्डिया कंपनी के आगमन के बाद अंग्रेजी शासन के द्वारा भूराजस्व की दर अत्यधिक बढ़ा देने से होती है। अंग्रेजी उपनिवेशवादी सत्ता ने अत्यधिक भूराजस्व के साथ-साथ अपने फायदे के लिए किसानों से जबरदस्ती फसल भी पैदा करते थे। नील और कपास जैसी नकदी फसलें इसमें प्रमुख थीं । अंग्रेजी उपनिवेश यहाँ 'भारत' में जमीन ठेके पर, खरीद कर या लीज पर लेकर गरीब भूमिहीन किसानों से खेती करवाते थे और उनके श्रम का अत्यधिक शोषण करते थे।

अंग्रेजी उपनिवेशवाद और भारतीय सामंतवाद दोनों मिलकर किसानों का शोषण उत्पीड़न करते हैं और लगान की वसूली का काम अंग्रेजों ने भारतीय सामंतों को दे रखा था । लगान की दरें ज्यादा होने के कारण इन किसानों को सूद पर ऋण लेना पड़ता था। भारतीय किसान, अंगेजी उपनिवेश, भारतीय सामंत और सूदखोर महाजन इन तीनों के शोषण उत्पीड़न से गुजरता था।

इस शोषण-उत्पीड़न का व्यवस्थित और संगठित विरोध कई महत्वपूर्ण आंदोलनों में देखने को मिला है। स्वाधीनता आन्दोलन में अवध किसान आन्दोलन महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह आन्दोलन पूर्वी उत्तर प्रदेश के फैजाबाद, सुल्तानपुर जिलों में बाबा रामचंद्र के नेतृत्व में किसान सभा आन्दोलन सक्रिय रहा । हरदोई जिले में 'एका' आन्दोलन प्रभावशाली रहा । 1950 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन के पश्चात् किसान आन्दोलन और सक्रिय हुआ उस समय विश्वव्यापी मंदी के चलते कृषि उत्पादित वस्तुओं के मूल्य में भारी गिरावट आयी जो कि किसानों के लिए हानिकारक साबित हुई । 1921 के बाद बाबा रामचंद्र के किसान आन्दोलन को कुचल दिया गया ।"[10] 'बेदखल' का अवध आन्दोलन, किसान समस्याओं का स्वाधीनता आन्दोलन से अंतर्विरोध को दिखता है ।

आज़ादी का मोहभंग और क्रांतिकारी आन्दोलन एवं वैकल्पिक समाधान की खोज

आजादी के बाद बाँधों, राजमार्गों और कल-कारखनों के नाम पर किसानों की भूमि का अधिग्रहण किया गया। इससे किसानों में असंतोष फैला। उन्होंने1960 के दशक से लेकर सन्1990 तक भारतीय राजनीति को व्यापकता से प्रभावित किया। नक्सलबाड़ी-आंदोलन में भूमिहीन खेतिहर वर्ग के साथ, गरीब मजदूर और युवा वर्ग भी शामिल हुआ। इसके ताप को कम करने के लिए विनोबा भावे का 'भूदान आंदोलन' और 'गरीबी हटाओ' कार्यक्रम सामने आये। नक्सलबाड़ी आंदोलन ने भारतीय जनमानस को व्यापकता से प्रभावित किया। इस आंदोलन पर व्यापक साहित्य लिखा गया। हिंदी में कुमारेन्द पारसनाथ सिंह ने 'बोलो मोहन गाँजू' नाम से काव्य लिखा। नक्सलबाड़ी के बाद विभिन्न राज्यों की किसान से जुड़ी हुई प्रांतीय सभाओं और विभिन्न पार्टियों के किसान संबंधी संगठनों ने किसान के मुद्दों को प्रमुखता से सामने लाने का काम किया। जैसे-'शेतकरी संगठन' (महाराष्ट्र में शरद जोशी के नेतृत्व में) और भारतीय किसान यूनियन (पश्चिमी उत्तर प्रदेश में, महेन्द्र सिंह टिकैत के नेतृत्व में) इत्यादि।

'सहराना' उपन्यास में सहरिया जनजाति का जीवन दिखाया गया है । जहाँ सहरिया रहते हैं उस जगह को सहराना कहा जाता है। चम्बल घाटी में स्थित इस जनजाति के लोग आमतौर पर छोटे भूमिहीन किसान हैं। यह दूसरे बड़े माध्यम किसानों की जमीन पर मजदूरी करते हैं। वे बड़े किसानों, साहूकारों के यहाँ बेगारी करते हैं । अब धीरे-धीरे उनमें चेतना आ रही है। उनके आस पास धनाढ्य व्यापारी, बड़े किसान उनकी मेहनत और जमीन को मुफ़्त में पाना चाहते हैं । उपन्यास में एक पात्र मिश्रीलाल मास्टर हैं जो पढ़ने के साथ सूद पर पैसा उठाते हैं और आस-पड़ोस में भागवत कथा करते हैं। और जो उनसे कथा भागवत नहीं करवाता है उससे बदले का भाव भी रखते हैं ।

एक अन्य पात्र चुन्नीलाल सेठ हैं जिनकी अढ़ाती की दुकान है । वे किसानों को सूद पर ऋण देते हैं और लम्बी-चौड़ी जमीन के मालिक हैं। वे सहराना की जमीन भी अपने कब्जे में करना चाहते हैं।

तीसरे पटेल नामक एक बड़े किसान हैं जिन्हें अपने खेती सम्बन्धी काम के लिए हमेशा मजदूरों की जरुरत रहती है । इस तरह ये तीन प्रकार के लोगों का यह मुख्य धंधा है । इस मुख्य धंधे के अलावा पंचायती, ठेकेदारी और चुनाव में अपने-अपने हित की पार्टी के लिए वोट कराना और समय-समय पर अपनी पार्टी के अनुसार आन्दोलन के लिए गरीबों को इकठ्ठा करके ले जाना। इन तीनों की तिकड़ी सहरियों से मुफ़्त में काम कराना चाहती हैं । इसके लिए मिलकर तीनों षड्यंत्र रचते हैं। कभी सहराना के लोगों पर चोरी का इल्जाम लगते हैं तो कभी उनपर हमला करते हैं। मिश्रीलाल मास्टर और पटेल में सहरियों के खिलाफ बात-चीत कुछ इस प्रकार होती है। "कहो, कैसो आनो भयो पटेल?" मास्टर ने पूंछा ।

"आज तो परलो हो गई मराज! ऐसा घाटी में कबऊं नाय भयो। कोई भड़िया चार कुंतल मूंगफली ले गए ।"

"हूँ ; नों थाने में जानों हैं ?" मिश्रीलाल मास्टर फिर से तखत पर बैठते-बैठते बोले।

"हो मराज!" पटेल ने हामी भरी!

"पर थाने में दरोगा तुमाई बात सुनोगो ?"

च्यों नई सुनोगो, मराज । वा को तो काम जेई है ।''

''बस, तुम जाई बात के तो निरे गंवार हो ! ढोर में रहत हो तो उतई ई अकाल है । देखो जा चोरी में सहरियन का हाथ जरुर है । तुम बिन के नाम की रिपोट करोगे नई और ऐसी रिपोट दरोगा लिखेगो नई ।''

अबकी बार पटेल चकरा गए। इस बात को तो हर कोई जनता है की घाटी का सहरिया चोरी नहीं करता। फिर सहरिया का हाथ चोरी में कैसे ही सकता है। फिर वह सहरियों के नाम चोरी में कैसे लिखवाएगा !

''सहरिया चोरी करे या न करें, तुम उनके ही नाम की रिपोर्ट लिखानी पडैगी। तभी जा मामले में सही तफ्तीश हो सकेगी।''[11]

किस तरह बीस साल पहले यह सेठ चुन्नीलाल सहरिया लोगों का शोषण करता है इसका जिक्र निचे दिए गए उद्धरण से पता चलता है। ''सही में वह सतयुग था। तब के सहरिया कुछ और ही थे। उनके मुंह में तब जबान तक नहीं थी। सहरिया चाहे जैसा भी दम ख़म वाला हो वह किसी गैर सहरिया के सामने पड़ते ही कांपने लगता था। किसी की आँख से आँख मिलाने में वह घबराता था। तब वह एक सेर बाजार के बदले में पूरा दिन काम करता था। अगर शादी-ब्याह के समय सौ पचास रूपया लेता तो लम्बे समय के लिए बंधुआ हो जाता था। तब कोई-कोई तो सौ रूपए के ब्याज में पूरी जिंदगी काम करने को राजी हो जाता था। तब बिना बुलाये बेगारियों की भीड़ उनके दरवाजे पर लगती थी। वे बेगारी भी छांट-छांट कर लेते थे । दिन में एक बार आधे पेट खाना देकर बारह घंटे तक काम लेते थे। आजकल तो बेगार का बस नाम भर रह गया है।''[12]

सेठ चुन्नीलाल ने सहराना की जमीन पर अपना कब्ज़ा करने का सपना देखा था। ''कभी उन्होंने सपना देखा था की यह नदी और पहाड़ियों के बीच का मैदान एक न एक दिन उनका होगा। उनकी जागीर के नाम से जाना जायेगा जिसके बीच-बीच में दूर-दूर बसे सहरानेऔर गाँव उजाड़ दिए जायेंगे। उन्हें उजाड़ कर ऊपर पहाड़िया के जंगल में बसा दिया जायेगा। लेकिन अब लगता है की वह सपना सपना ही बना रहेगा।''[13]

इस क्रम में सहराना उपन्यास की सहरिया जनजाति का अपने उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध किया जाने वाला प्रतिरोध उल्लेखनीय है । सहरिया जनजाति की नई पीढ़ी में धीरे-धीरे चेतना आ रही है। वह अपने ऊपर होने वाले जुल्म के खिलाफ बोलने लगे थे।

अब सहराने का अस्तित्व ही एक तरह से खतरे में पड़ गया था। वहां जब भी चार-छह लोग इकठ्ठा होते, वहीँ सहराने को लेकर चर्चा शुरू हो जाती। वहां के सयाने लोगों का मत था कि अब इस जगह पर सहराने को बसाये रखने में कुछ भी लाभ नहीं है । जब जीविका के साधन यहाँ नहीं हैं तो सरहाने को भी यहाँ नहीं रहने देना चाहिए। लेकिन सहराने के जवान छोकरे इस बात से सहमत नहीं हो रहे थे। वे पुरा के लोगो से दो-दो हाथ करना चाहते थे। उसके लिए सहराने का यही रहना जरुरी था। उन्हीं छोकरों के कारण सहराना अन्दर ही अन्दर उबल रहा था।''[14]

सहराने में यह गरीब, भूमिहीन छोटे किसान का बड़े किसानों के बीच संघर्ष देखा जा सकता है। बड़े किसानों के साथ सूदखोर महाजन, व्यापारी, पुलिस सरकार आदि रहती है। छोटे किसान अपनी एकता और अदृश्य सत्ता की ताकत के बलबूते संघर्ष करते हैं। इस संघर्ष में पुलिस और यही लुटेरे बड़े किसान, महाजन और सत्ता के चाटुकार पहले हारते हैं और सहरियों से दर कर भाग जाते हैं। फिर बड़ी संख्या में सरकारी शक्ति लगाकर गाँव को घेर कर जुल्म ढाहते हैं और पूरे गाँव को बंधक बनाकर पुलिस स्टेशन ले आते हैं।

''अच्छा! सूअर के बच्चों ! तुमने बोलने की कसम खा रखी हैं शायद? अब मैं देखता हूँ कि तुम बोलते हो की नहीं ?''

यह कहते कहते वहां बैठे लोगों पर दरोगा ने लाते बरसानीशुरू कर दी। उधर से दोनों सिपाही भी लाठियां लेकर पिल पड़े। ...अंत में दरोगा और सिपाही अपने अपने बाहुबल का प्रयोग करते करते थक गए, तब वे अपने आप खड़े रह गए। दरोगा सूरजपाल सिंह आज फिर इस बात पर आश्चर्य करने लगे किसहरिया कौम न जाने किस माटी की बनी है। इतनी मार खा कर भी, इतनी ऊँची धमकी सुनकर भी न तो रोया-गिडगिडाया और न कोई समझौता करने को आगे आया। अन्य किसी कौम के लोग होते तो ऐसी घुड़की में सब कुछ करने लगते।

इधर मिश्रीलाल मास्टर भी निराश होने लगे थे। उन्हें दरोगा की यही बात पसंद नहीं है । उसमें जैसे-तैसे करके हवा भरो भी, लेकिन थोड़ी देर में पंचर टायर की तरह वह हवा निकल जाती है।''[15]

सहरिया अपने ऊपर होने वाले पुलिस के जुल्म को सहते रहे । जैसे ही पुलिस ने उनके देवता के लिए रखी सामग्री और देवता पर गुस्सा निकलना शुरू करती है , तब सहराना के लोगों में आक्रोश आ जाता है। यह उनकी आस्था, शक्ति और विशवास पर हमला था। उनमे से सबसे वरिष्ठ सहरिये ने पुलिस और गाँव के लुटेरों पर हमला का आदेश दे दिया।

''सबसे पहले मंगलू डोकरा में हरकत हुई। उसने सर से बंधी केसरिया पाग के ऊपर से साफी डालकर ठोड़ी के निचे कास कर बांध ली। वह उठ खड़ा हुआ और मानो पूरे सहराने को ललकारता हुआ बोला- हे... मोड़ीचोदऔ...! ऐसे लुक के च्यों बैठे हो? हे... मोड़ाऔ... मारौ मोड़ीचोद कों ...!'' और फिर उसी दिन शाम को जब सहारने में एक ट्रक भरकर पुलिस आ धमकी उस दिन सहारने की जो गति बनी, वह काफी दिनों तक याद रही। लोगों को घरों से खींच-खींच कर नंगा कर दिया गया। औरत-मरद की कोई मर्यादा बची नहीं रह सकी । लगभग आधे सहराने को पुलिसवाले जानवर की तरह घेरकर थाने तक ले गए। जो कुछ कसर बाकी रह गयी थी वह थाने में जाकर पूरी की गयी । उनमे से सोलह लोगों को छांटकर हवालात में बंद कर दिया गया और बाकी को देर रात गए छोड़ दिया गया। एक बार फिर सहराना बुरी तरह करह उठा।''[16] देश में इस तरह के अनगिनत सहराना देखे जा सकते हैं। यह गरीब, छोटे भूमिहीन किसानों की हकीकत जान पड़ती है।

सन्1980 के दशक तक किसान मुद्दे प्राथमिक हो रहे थे क्योंकि किसानों ने अराजनैतिक अर्थात मौजूदा राजनैतिक दलों की संस्कृति और तिकड़म से अपने को अलग रखा। एक नई राजनीति की शुरूआत की। लेकिन 1990 के आस पास नयी आर्थिकी और नेतृत्व की चाह ने किसान आन्दोलन को कमजोर कर दिया।

सत्ता 'किसान वर्ग' से धैर्य की अपेक्षा करती रही हैं। आजादी-पूर्वधार्मिक-सत्ता किसान से गरीब में भी 'गोदान' करवाती है तो आजादी के बाद 'आधुनिक तीर्थ-स्थलों' के नाम पर उसके धैर्य की परीक्षा लेती रही है। आधुनिक 'तीर्थ-स्थल' उसके जीवन को स्वाहा और होम करने में लगे रहे। यह सब व्यवस्था के नाम पर हुआ। कल के नाम

पर हुआ। किसान, भूत या कल बन गया। तब उसने साठ के दशक के उत्तरार्ध में अपनी ताकत से पहचान करायी। इसी दौर को आधार बनाकर विनोद कुमार ने 'समर शेष है' उपन्यास लिखा तो महाश्वेता देवी ने'1084 वें की माँ' उपन्यास की रचना की। जिसमें नक्सलबाड़ी आंदोलन की दस्तक पूरी कथा भूमि के वातावरण पर हावी है। इसी दौर में सर्वाधिक सामाजिक आंदोलनों का स्वर तीव्र हुआ। इन आंदोलनों में मजदूर, दलित, स्त्री और जनजातीय या आदिवासी सामाजिक वर्गों का प्रमुख स्वर है। इनमें दलितों ने भूमिहीन वर्ग के रूप में और मजदूरों ने भी भूमि की आकांक्षा की चाह में आंदोलन किये। ये सामाजिक, जातीय संघर्ष के साथ-साथ आर्थिक सवाल को विशेषकर भूमि के प्रश्न को प्रासंगिक बनाते हैं। जैसे-जिग्नेश मेंवाणी का 'ऊना आंदोलन'। यह सामाजिक के साथ-साथ आर्थिक आंदोलन भी है।

किसान की पहचान को देखने से ज्ञात होता है कि इसमें सवर्ण से लेते हुए पिछड़ों की विशाल संख्या के साथ ही दलित मानी जाने वाली जातियों की भी अच्छी उपस्थिति है, साथ ही मुस्लिम, सिख यानी दूसरे समुदायों का प्रतिनिधित्व भी अच्छा है यानी किसान एक तरह से अपने आप में जाति, धर्म और भाषा जैसे भेद के परे एक सम्पूर्ण पहचान रखने का माद्दा रखता है। लेकिन इसके बावजूद भी आज तक किसान पहचान की राजनीति कभी दूसरे पायदान तक भी पहुँचती नहीं दिखी है। किसान की पहचान पर यह राजनैतिक एकता सम्भव हुई तो किसान राजनीति वर्तमान समय में पूरी राजनैतिक व्यवस्था से अलग बनेगी क्योंकि 'किसान' विशुद्ध आर्थिक और सामाजिक चिन्तन है। कृषि यानी किसानी को लाभप्रद बनाते ही तीन सबसे बड़ी अंतर्संबंधित समस्याएँ सुलझ जाएँगी। पहली, गाँव में ही लोगों को काम मिलने लगेगा; दूसरी, काम मिलने के साथ अपने इलाके को छोड़कर जाना यानी विस्थापन या पलायन बन्द होगा क्योंकि पलायन का सबसे बड़ा कारण काम की तलाश ही होता है और इसी के साथ तीसरी समस्या यानी शहरों पर दबाव कम हो जाएगा। तो किसान और कृषि को लाभ में लाते ही देश की विषम समस्या का समाधान मिलना शुरू हो जाएगा। लेकिन न तो शासन-प्रशासन द्वारा ऐसे प्रयास किये जाते हैं और न किसान आन्दोलन ही व्यापक राष्ट्रीय स्तर पर अपने मुद्दों पर राजनीति कर पाता है ।

किसान आन्दोलन या कृषक संघर्ष की झलक औपनिवेशिक काल से पहले के दिनों में शुरू हुई मानी जा सकती है । किसान का प्रतिरोध अन्दोलन की प्रकृति और स्वरुप के

अंतर को व्यवस्थित रूप से समझने के लिए इसे हम तीन खंड में बाँट सकते है । यूँ तो शोषण-उत्पीड़न के साथ किसान प्रतिरोध की घटना किसी न किसी रूप में रही है लेकिन प्रतिरोध के स्वरुप, अपनी संगठनात्मक क्षमता, स्पष्ट विचारधारा, कुशल नेतृत्व, संसाधन और व्यापक जनसमर्थन आदि इन सब आधारों पर किसान प्रतिरोध की व्यवस्थित विवेचना संभव है । अध्ययन की सरलता की दृष्टि से किसान आन्दोलन का यह वर्गीकरण न सिर्फ क्षेत्रीय विविधता और समय काल के अंतर के आधार पर किया जाना चाहिए बल्कि विश्लेषण और आलोचनात्मक मूल्यांकन के लिए भी किसान आंदोलनों की प्रकारिकी का विभाजन, समाज और राजव्यवस्था के स्वरुप के आधार पर भी किया गया है । इस अध्याय में किसान प्रतिरोध और आन्दोलन की विवेचना इन्हीं मानदंडों पर की गयी है जिसके तीन प्रमुख स्तर है । यह विभाजन समय और शासन-व्यवस्था के आधार पर शोषण के तरीकों और प्रतिरोध के स्वरुप के आधार पर किया गया है ।

सर्वप्रथम औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश शासन-व्यवस्था और अंग्रेजों के खिलाफ हुए किसान विद्रोह का जिक्र है जो की मोटे तौर पर 1728 से माना जाता है । इसी स्तर में समय के साथ भारतीय सामंतवाद और ब्रिटिश उपनिवेशवाद की सांठ-गाँठ से बढ़ी हुयी लगान और जबरन खेती जैसे मुद्दों को लेकर हुए किसान आन्दोलन है । मध्य भारत में हुए संथाल विद्रोह, उत्तर भारत में हुए नील विद्रोह, उत्तराखंड के टिहरी-गढ़वाल में हुए किसान विद्रोह आदि को रख सकते है । इन विदोह और आन्दोलन की विवेचना हिंदी उपन्यास 'बाजत अनहद ढोल', 'यमुना के बागी बेटे', 'चोटी मुंडा और उसका तीर' के माध्यम से की गयी है ।

दूसरे स्तर में वे किसान आन्दोलन शामिल हैं जो की 19वीं शताब्दी में स्वतंत्रता आन्दोलन के दौर में ब्रिटिश हुकूमत और देशी सामंतवाद के खिलाफ हुए । इन आंदोलनों में अवध का किसान आन्दोलन प्रमुख है जो की 'बेदखल' के माध्यम से अवध प्रान्त के किसान आन्दोलन की झांकी पेश करता है ।

इसी क्रम में तीसरे स्तर पर आज़ादी के बाद हुए 'विकास', 'सुधार' के दौर में अपने ही देश की राज व्यवस्था में आज़ादी-न्याय और बराबरी की मांग करने वाले क्रांतिकारी किसान आन्दोलन शामिल हैं। जिसमें नक्सलबाड़ी आन्दोलन, श्रीकाकुलम

का आन्दोलन, तेभागा आन्दोलन इन आदि शामिल हैं। इन सशस्त्र विद्रोह की समीक्षा 'खुले गगन के लाल सितारे', 'सहराना' उपन्यासों के माध्यम से की गयी है ।

आज़ादी के बाद जटिल होती किसान समस्या और राजनितिक इच्छाशक्ति का आभाव, भ्रष्टाचारपूर्ण-दोषपूर्ण नीतियाँ क़ानूनी तकनिकी की अनावश्यक जटिलता ने किसान समस्याओं को और भी बाढा दिया है । इस क्रम में उदारीकरण के बाद राजनैतिक अर्थव्यवस्था ने जिन नीतियों को अपनाया है वे कृषि और कृषक दोनों के लिए ही बहुत ही घातक, विनाशकारी साबित हुयी हैं । उदारीकरण और नई आर्थिक नीति की इन समस्याओं की विवेचना संजीव के उपन्यास 'फ़ांस' के माध्यम से किया गया है। साथ ही इस दौर में नव-सामाजिक आन्दोलन की प्रकृति, संगठन, विचारधारा, माध्यम का भी विश्लेषण किया गया है। साहित्य में किसान समस्याओं और उनके प्रतिरोध का चित्रण नाटक, उपन्यास और कहानी आदि में काफी लम्बे समय से किया जाता रहा है । भाषाई एवं क्षेत्रीय विविधता के बावजूद इन किसान आंदोलनों की समस्याएँ और शत्रु - शासन व्यवस्था एक ही रहे है ।

बंगाल के पूर्वी प्रान्त में हुआ नक्सलबाड़ी आन्दोलन आज़ादी के बाद भी जारी गरीब छोटे किसान के शोषण-उत्पीड़न के विरुद्ध एक क्रांतिकारी और सशस्त्र आन्दोलन था । विचारधारा के स्तर पर बात करें तो नक्सलबाड़ी आन्दोलन की विचारधारा सपष्ट थी जिसमें वैकल्पिक व्यवस्था का भी चेहरा था । इस सशस्त्र विद्रोह का भारतीय शासन व्यवस्था ने पुलिस के माध्यम से क्रूर दमन किया ।

नक्सलबाड़ी आन्दोलन सरकार की गरीब किसानों के प्रति भ्रम और दिखावे के कानून के कारन पैदा हुआ था और बाद में आगे चल कर यह आन्दोलन बराबरी की लड़ाई के साथ जुड़ गया । उपन्यास 'खुले गगन के लाल सितारे' इसी आन्दोलन की जीवंत और क्रूर दमन की तस्वीर सामने रखता है । ''नक्सलबाड़ी आन्दोलन ने इस भ्रान्ति का अंत दिखया जी सुधार कानूनों के साथ जुडी हुयी थी । यह सर्वविदित हो गया है की देश की सरकार न तो समर्थ है और न ही चाहती है की कृषि सुधार को क़ानूनी रूप से आगे विकसित किया जाय और व्यवहार में लाया जाय ।''[17]

जब सरकार भूमि सुधार नहीं कर पायी तब मजबूरीवश जनता को यह काम खुद अपने हाथों में लेना पड़ा । ''1967 के मार्च महीने में नक्सलबाड़ी पश्चिम बंगाल इलाके के किसानों ने जमीनों पर कब्ज़ा करना शुरू कर दिया । यह किसान के संघर्ष

का नया अध्याय था ।''[18] संघर्ष को दबाने के लिए जमींदारों ने अपनी निजी फ़ौज से लेकर सरकारी फ़ौज-पुलिस की मदद लेनी शुरू कर दी थी । मजबूरीवश किसानों को भी कब्जाई जमीन बचाने और आन्दोलन चलाने के लिए सशस्त्र संघर्ष का सहारा लेना पड़ा था ।

''देश में पहली बार सशस्त्र आन्दोलन ने भूमिहीन मजदूरों की चेतना को उभरा और संगठित मुकाबले के लिए उन्हें सरे जमीन पर खड़ा किय । इस देश का यह पहला अनुभव है की भूमिहीन अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए खुनी आन्दोलन करने पर आमादा हुआ ।''[19] इस लड़ाई को बिना राजनितिक और वैचारिक आधार दिए सफल नहीं किया जा सकता था । नक्सलबाड़ी आन्दोलन मार्क्सवाद विचारधारा से प्रभावित था । उन्होंने वैकल्पिक राजनितिक व्यवस्था के एक खाका प्रस्तुत किया था । उन्होंने इस लड़ाई को बराबरी, समानता की लड़ाई बना कर गरीबों को राजसत्ता अपने हाथों में लेने के प्रयास दिखाया था । और सरकार को तुरंत भूमि सुधार करने की आवश्यकता का अहसास कराया था । इस आन्दोलन ने देश में क्रान्ति की उम्मीद को पैदा कर दिया था और अहसास कराया था की जाति-वर्ग के आधार पर लोग संगठित होकर व्यवस्था परिवर्तन कर सकते हैं । इन्होने सरकार को बताया था की देश के गरीबों का सुख चैन छीन कर देश में अमन चैन से नहीं रह सकता ।

नक्सलबाड़ी आन्दोलन की शुरुआत ने भारतीय समाज और राजनीती में व्यापक बदलाव की आकांक्षा को रेखांकित किया । इस आन्दोलन से पहली बार किसानों की असीमित, अग्रगामी क्रांतिकारी चेतना और संगठन क्षमता का उद्घाटन हुआ । इस आन्दोलन ने पहली बार दलितों और स्त्रियों की मुक्ति और रज्यों की स्वायत्तता के प्रश्न को समूचे परिदृश्य पर सामाजिक और मानवीय सरोकारों के साथ उजागर किया ।

यह आन्दोलन आज की क्रांति का नायक नहीं हो सका, कल की क्रांति शिक्षक अवश्य बनेगा। इस आन्दोलन के नेता चारू मजूमदार ने अपने जीवन के अंतिम दिनों में कहा था, ''हजारों युवकों ने ऐसे ही जान नहीं दिए । बलिदान कभी व्यर्थ नहीं जाता। जिन आदर्शों के लिए उन लोगों ने जीवन दिया, वह प्रतिष्ठित होकर रहेगा ।''[20] जनभागिता के स्तर पर नक्सलबाड़ी आन्दोलन में स्पष्ट वैचारिक-राजनैतिक चेतना ने पढ़े-लिखे नवयुवकों को भारी संख्या में आकर्षित किया। जहाँ गरीब किसान मजदूर अपने हकों

के लिए लड़ रहे थे वही ये शहरी कालेज में पढने वाले छात्र-छात्राएं राजनैतिक विचारधारा के आधार पर इन गरीब किसानों की लड़ाई में शामिल हुए थे । सहभागिता के इस प्रकार को उपन्यास के पात्र गोविन्द दा अपने अनुभवों को साझा करते हुए कुछ इस तरह बताते हैं, ‘‘मेरी ही तरह हजारों युवकों का जमावाड़ा दिन पर दिन बढ़ता जा रहा था जिन्हें भारत के गांवों के किसानों की सोचनीय दशा, उनके गिरवी रखे खेत, कर्ज, लगान, हत्या, भयानक गरीबी में घास के दानों का पिसा भात खाना ...झिंझोड़ता था...जैसे चारों तरफ से एक आवाज आ रही थी...हमें मुक्त करो...हमें जीवन दो।

नक्सलबाड़ी में हुए जमींदारों के विरुद्ध भूमि दखल के आन्दोलन ने जैसे हमें विश्वास का नया आकाश दिया और हम सभी कुछ कर गुजरने को हौसला संजोये नवयुवकों पर नक्सल भाव छा गया... मक्का-मदीना बन गया। नक्सल्बाडी हमारे लिए...आमार बाड़ी नक्सलबाड़ी तोमार बाड़ी नक्सलबाड़ी, सकलेर बाड़ी नक्सलबाड़ी। क्योंकि नक्सलबाड़ी ग्राम में ही पहली बार विद्रोह के स्वर फूटे थे और जमीन दखल की लड़ाई शुरू हुयी थी।

नक्सलबाड़ी आन्दोलन के आलोचनात्मक मूल्यांकन में इस पर आदर्शवाद से प्रभावित बताया जाता है लेकिन असफल होने के बावजूद इस आन्दोलन की तीव्रता तथा तात्कालिक और दूरगामी प्रभावों को देखते हुए यह भविष्य में वैकल्पिक व्यवस्था देने के सपने को वर्तमान जीवन में यथार्थ में तब्दील करने की दिशा में बुनियादी कदम था। गोविन्द उपन्यास के लक्ष्य के बारे में बताते हैं, ‘हमारा लक्ष्य था-गाँव को वर्ग शत्रुओं से मुक्त कर उन पर अपना अधिकार ज़माना और फिर एक दूसरे गाँव, दूसरे गाँव से तीसरे होते हुए बहुत शीघ्र ही एक मुक्तांचल की स्थापना और फिर क्रांति की धारा को शहर की ओर मोड़ना ।

इस आन्दोलन ने समाजवाद को भारत में मात्र विचारधारा और विमर्श के विषय से एक सामाजिक वास्तविकता के रूप में स्थापित करने का साहसिक प्रयास किया । वर्ग संघर्ष की इस लड़ाई का दमन भी होना ही था जो की हुआ भी। नक्सलबाड़ी आन्दोलन में किसानों राजकीय दमन से भयंकर क्षति उठानी पड़ी थी । केवल नक्सलबाड़ी में ही 3,000 किसान मारे गए। बंगाल के अन्य देहाती इलाकों में 4000 किसान तथाकथित ‘मुठभेड़ों’ में शहीद हुए। कलकत्ता में 25,000 क्रांतिकारियों का

(अधिकांशतः छात्र और उनके परिवारों के सदस्य) क़त्ल कर दिया गया। बिहार और असं राज्यों में शहीदों की संख्या 6,000 से भी अधिक थी । फिर भी तमाम गलतियों के बावजूद नक्सलबाड़ी आन्दोलन और श्रीककुलम आन्दोलन का महत्व इस बात में है की इसने वह परस्तहिम्मती की स्थिति नहीं आने दी है जो तेलंगाना विद्रोह के दमन के बाद मेहनतकश जनसमुदाय में आयी थी।

क्रांतिकारी किसान आन्दोलन उन क्षेत्रों में ज्यादा सफल हुए थे जहाँ पर जनता का ज्यादा उत्पीड़न हो रहा था। इस उत्पीड़न के कारण जनता ने क्रांतिकारी गतिविधियों का पूरा समर्थन किया था। सबसे पहले तेभागा आन्दोलन था। जिसमें किसानों को सफलता मिली। "आन्दोलन पूर्वी बंगाल के एक बड़े भाग में फ़ैल गया। किसान सभा के कार्य कर्ताओं के नेतृत्व में किसान लाल झंडे के नीचे और लाठी से लैस होकरफसल काटने के लिए धन के खेतों में पहुच गए। कम किये गए उत्पादन शुल्क का बंटवारा जोतदार के खलिहान में नहीं हुआ जैसा की आमतौर पर होता था। बल्कि बरगादार को साथ लेकर हुआ। महीनों लम्बे संघर्ष के दौरान जिसमें तीर और भालों से लैस आदिवासियों ने सबसे सक्रीय भाग लिया, 33 किसान पुलिस द्वारा मार दिए गए।"[21] इस किसान आन्दोलन पर भी पुलिस का दमन हुआ। फिर भी किसानों ने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष किया और संघर्ष में उनके लिए एक नई आज़ादी का आगाज़ दिखाई पड़ा। "बंटाईदारों ने भूस्वामियों से तेभागा अर्थात कृषि उपज के दो तिहाई की मांग रखी। अब तक ½ भाग ही मिलता आया था। इस प्रकार फसल के बंटवारे, लगान चुकाने की प्रक्रिया, अनावश्यक वसूली तथा किसानों और जमींदारों के बीच विषमतापूर्ण सम्बन्धों के खिलाफ बंगाल में चलाया पहला कदम था। इस आन्दोलन में महिलाओं ने बढ़-चढ़ कर भाग लिया था। इसी आन्दोलन के कारण ही बरगदोली कानून बना था।"[22] यह तेभागा आन्दोलन किसानों के लिए बड़ी जीत थी।

किसानों का एक अन्य महत्वपूर्ण आन्दोलन आंध्रप्रदेश के श्रीकाकुलम में हुआ था । उपलब्धि के स्तर पर श्रीकाकुलम किसान आन्दोलन काफी सफल हुआ जिसने किसानों को काफी राहत दिलाई थी उन्हें शोषण से मुक्ति दिलाने की पूरी कोशिश की थी । "आन्दोलन को प्रारंभ में आश्चर्यजनक सफलता मिली। खेत मजदूरों की मजदूरी पांच गुना बढ गयी, पैदावार का दो तिहाई जमीन जोतने वाले किसान को मिलने लगा, 1,500 से 2000 एकड़ के बीच गिरवी जमीन गिरिजनों को वापस मिल गयी, 5,000 एकड़ परती जमीन वन अधिकारीयों के नियंत्रण से मुक्त करा करके गिरिजनों

में बाँट दी गयी और राज्य ने लगभग तीन लाख रूपए का कर्ज माफ़ कर दिया।''[23] इसकी सफलता के मूल में सांगठनिक एकता और मजबूत रणनीति निहित थी। इस आन्दोलन में किसानों ने कई तरह से अपना विरोध प्रदर्शन किया। ''इस आन्दोलन को सफलतापूर्वक चलने वाला संगठन 'गिरिजन संघम' इन उपलब्धियों के जरिये राजनितिक रूप से मजबूत हुआ और इस क्षेत्र के सारे गिरिजनों के सामूहिक आंदोलनों के रूप में विकसित हुआ । संघर्ष के रूप में जन रैली, प्रचार अभियान, जन प्रदर्शन, काम बंदी और सीधी जन कार्यवाही, शिक्षा कार्यक्रम और विचार-विमर्श शुरू किये गए।''[24] इससे पहले तक किसानों का जीवन बहुत ही दब्बूपन के साथ व्यतीत हो रहा था। जमींदारों के शोषण-उत्पीड़न के कारण उनका मनोबल टूट गया था और उनमें आत्मविश्वास की कमी थी । लेकिन किसानों के अगुवा दस्तों ने इन शोषणकारी जमींदारों को खुलेआम उनके अपराध की सजा दी। जिससे किसानों का खोया हुआ आत्मविश्वास वापस आया और उनमे वर्गीय चेतना का विकास हुआ । फिर किसानों ने अपने आन्दोलन को हर स्तर पर खुल कर समर्थन देना शुरू किया। जमींदारों का सफाया और उनकी संपत्ति जब्त करके बाकी के किसानों में बाँटने के काम को जन समर्थन मिलने लगा था । ''छीना हुआ सामान और नकद पैसा गरीब गिरिजनों में बाँट दिया जाता। शुरू में गिरिजन स्वभावतः वह सामान लेने में बहुत हिचकते थे लेकिन हासिल की गयी सफलताओं और अनेक धनी किसानों ने शहर भाग जाने से पुलिस के सामने उनका दर ख़त्म हो गया । अब वे उन तर्कों को स्वीकार करने लगे जो वर्ग शत्रुओं के वध की आवश्यकता सिद्ध करते थे ।''[25] किसानों को अपने शोषक को सजा देने में आज़ादी महसूस हो रही थी । इन शोषणकारी धनी जमींदारों का वध शोषण के अंत का एक प्रतीक था । ''जुलाई 1969 के 'लिबरेशन' में सूचना दी गयी की टेक्क्ली हल के अंतर्गत अकुलापल्ली गाँव के एक जमींदार के वध के समय 400 व्यक्ति मौजूद थे। पर्वतीपुरम में पुलिस थाने से करीब एक मील की दुरी पर एक जमींदार के वध को छापामार दस्ते के अलावा 1,200 से 1,500 लोगों ने उत्साह के साथ देखा। जैसे ही वध समारोह समाप्त हुआ लोग अतिशय उल्लास से फट पड़े थे।''[26]

श्रीकाकुलम के किसान आन्दोलन की सफलता इतनी ज्यादा थी की बहुत बड़े इलाके में किसानों ने अपनी सत्ता कायम कर ली थी। ''मार्च 1969 में श्रीककुलम में करीब 500 से 700 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र नक्सलवादियों के कब्जे में थे। सारा राजकीय

प्रशासन ध्वस्त हो चुका था। वन राजस्व तथा अन्य सरकारी अधिकारियों का लाल इलाके में प्रवेश वर्जित था। किसान संघर्ष संगठन ने अपने को सर्वोच्च सत्ता घोषित कर दिया था ।"[27] इस सफलता को देख आन्दोलन के नेता चारू मजुमदार ने श्रीकाकुलम को भारत का येनान और किसान का मुक्तांचल होने का दावा किया था। यह देश में शोषण-उत्पीड़न से मुक्ति का एक मॉडल बनेगा। चारू मजुमदार मार्च 1969 में इस मुक्त क्षेत्र में आये थे और यह भविष्यवाणी की थी कि "श्रीकाकुलम भारत का येनान-क्रांतिकारियों का लाल आधार इलाका बन जायेगा जिससे सशस्त्र विद्रोह की लपटें अन्य क्षेत्रों में फैलेंगी।"[28] पर राज्य और केंद्र सरकार ने इस आन्दोलन को युद्ध स्तर पर ले लिया था। इन क्रांतिकारी आन्दोलन के किसानों को ख़त्म करने के लिए अर्ध-सैनिक बल लगा दिए थे । अर्ध सैनिक बल नाम के होते हैं वह पूरी तरह सेना जैसा ही काम करते हैं । चूँकि अंतर्राष्ट्रीय कानून के हवाले से कोई देश गृहयुद्ध की घोषणा के बिना अपने देश में दमन के लिए सेना नहीं लगा सकता है। पर यह 'अर्ध सैनिक बल' तैयार और प्रशिक्षण सब सेना वापस ही लेते हैं । बस कहने भर के लिए ही अर्ध सैनिक है । अर्ध-सैनिक आन्दोलन का कुचलना शुरू कर दिया ।

मई 1970 तक अधिकांश नेतृत्वकारी कार्यकर्ता पुलिस के साथ सीधी मुठभेड़ में मारे गए। सैकड़ों छापामारों और गिरिजनों पर सोते समय अचानक धावा बोल दिया गया और उन्हें बंदी बनाकर जेल में डाल दिया गया । अगस्त 1970 तक 1,641 छापामार सैनिकों को गिरफ्तार किया गया था । रिजर्व पुलिस की टुकड़ियाँ जब अचानक गांवों में आयी और छापामारों की तलाश करने लगी गिरिजन समूहों में पहाड़ की ओंर निकल गए । पुलिस को जली हुयी झोपड़ियां और निर्जन मकान मिले ।

1970 के आरंभ तक राजसत्ता आन्दोलन को पूरी तरह तोड़ने में सफल हुई और आंध्र प्रदेश का गृहमंत्री भारतीय सामाजिक इतिहास की सन्दर्भ पुस्तक में 'शांतिरक्षक' का ख़िताब पा गया । भारत में यह सुपरिचित तथ्य है कि अधिकांश नक्सलवादी गिरफ्तारी के बाद क्रूर यातना के फलस्वरूप मर गए। सरकार ने नक्सलवादियों को जिन्दा या मुर्दा पकड़ने के लिए पुलिस अधिकारीयों को पदोन्नति तथा वीरता और देशभक्ति के पुरस्कारों का ऐलान किया । जैसा कि सितम्बर 1973 में विजयवाड़ा (आँध्रप्रदेश) के एक पुलिस अधिकारी ने बताया,बहुत से पुलिस अधिकारी प्रतिदिन कम

से कम तीन नक्सलवादियों को गिरफ्तार करना अपना कर्तव्य मानने लगे।'' फिर एक बार अमीरों ने लड़ाई जीत ली थी।

स्वतंत्र भारत में आर्थिक विकास के दूसरे चरण में 'उदारीकरण', 'भूमंडलीकरण' के तहत नई आर्थिक नीति को लाया गया। भारत में नवउदारवाडी आर्थिक नीतियों के कारन कृषि अर्थव्यवस्था में भयंकर संकट पैदा हो गया है । इस कृषि संकट का विश्लेषण करते हुए नवम्बर-दिसंबर 2011 के 'फिलहाल' पत्रिका के सम्पादकीय में कहा है की ''1990-91 तक देश के मुश्किल से एक तिहाई फसली क्षेत्र पर ही सिंचाई की सुविधा मौजूद थी। ऐसे में नवउदारवादी नीतियों के तहत खेती में पूंजी निवेश और कम किया गया। बैंकिग सुधारों के नाम पर खेती के लिए सांस्थानिक कर्ज के स्त्रोत सुख गए, खेती पर राजकीय इमदाद (सब्सिडी) कम किया गया, इससे खेती की लगत बढती गयी, फिर 1995 में कायम विश्व व्यापर को बढ़ावा दिया। इससे खेतिहर पैदावार के बाजार भावों में भारी गिरावट आयी, खासकर कपास, काली मिर्च, काफी जैसी फसलों के भावों में। इन सबका नतीजा हुआ कि पहले ही लचर और कमजोर खेतिहर आर्थिक तंत्र ध्वस्त हो गया, राजसत्ता ने खेती से अपने पैर खींचे तो उसकी जगह निजी महाजनों की बन आई । वे कर्ज से लेकर खाद बीज कीटनाशक मुहैया करने और पैदावार की खरीद-बिक्री का काम भी धड़ल्ले से बिना किसी कायदे-कानून के करने लगे । इस तरह कमजोर किसान कर्ज के ऐसे दुश्चक्र में फंसते चले गए। जो लगातार उन्हें जकड़ता गया । नव उदारवादी दौर में एक बड़ा संकट ऋण ग्रस्तता और सूदखोरी का पुनरोदय है। यह सामान्य कर्ज व्यवस्था नहीं है यह कृषकों के लिए गले की फांस बनता जा रहा है।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के 59 दौर के आकलन जनवरी-दिसंबर 2003 के अनुसार, ''देश में ग्रामीण परिवारों की कुल संख्या 14 करोड़ 70 लाख 90 हजार है। इनमें से 60 प्रतिशत किसान परिवार है और 48 प्रतिशत किसान परिवार कर्ज में डूबे थे । 1991 की आर्थिक नीतियों के कारण किसान ज्यादा कर्ज में डूबते जा रहे है। एक अन्य रिपोर्ट 'द बर्डन ऑफ फार्मर डेट' सीपी चंद्रशेखर, जयति घोष 2005 के अध्ययन के अनुसार 100 कर्जदार किसान परिवारों में से 29 ने महाजनों से कर्ज लिया।'' महाजनों के कर्ज दर बहुत ज्यादा होती है जिसे कृषक चुकाने में असमर्थ होते है। कृषक खेती के काम काज के अलावा शादी-व्याह के लिए भी कर्ज लेते है।

कृषि उत्पादित वस्तुओं में उदारीकरण की नीतियाँ भी कृषि अर्थव्यवस्था के लिए भयानक साबित हो रही है। विश्व व्यापर संगठन के तहत कृषि के बारे में समझौता' पर दस्तखत करने के बाद उत्पाद मूल्यों पर व्यापार उदारीकरण का प्रभाव कृषि संकट की एक मुख्य वजह है। व्यापार उदारीकरण के चलते इन मूल्यों में भारी गिरावट देखी जा सकती है। इन मूल्यों में गिरावट बहार से आयात बढ़ने से भी हुआ है। कृषि उत्पादों की कीमते घट रही हैं । लगत कीमतों में लगातार उछाल आ रहा है। संकट का डर दिखा कर किसानों से कीमते वसूल की जा रही हैं लगात कीमते तेजी से बढ़ रही है। जबकि उत्पादों की कीमत स्थिर हैं । तमाम कृषि लागतों, खाद, कीटनाशक, बीज, सिंचाई और परिवहन व् कोल्ड स्टोरेज जैसी अधिसंरचना की कीमते आसमान छू रही हैं। अनेक राज्यों में चिरस्थायी बिजली संकट के कारण किसानों को डीजल इंजन का सहारा लेना पड़ रहा है और डीजल की कीमतें बीस साल में तीस गुनी हो गयी हैं ।

यही हाल परंपरागत बीज की कीमतों का है । जेनिटिकली परिवर्धित बीजों के एकाधिकारी मूल्यों का तो कहना ही क्या ? लागत कीमतों में उछाल से उत्पादों की कीमतें लगातार घट रहीं है। विश्व बैक की नित्यों के चलते सिंजेंटा कारगिल मौसैंटों जैसी बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भारतीय कृषि में बीजों का व्यापार करने के लिए घुसीं। इनके द्वारा बेचे जाने वाले बीज ऐसे थे जिन्हें भारी मात्र में खाद और कीटनाशकों की जरुरत पड़ती थी और दूसरी ओर इन बीजों का पुनर्निवेश नहीं हो सकता। किसानों द्वारा पारंपरिक रूप से इस्तेमाल की जाने वाली चीजों को अलग से नहीं खरीदना पड़ता था और उनका पुनुर्चक्रण भी संभव था। नए पेटेंट कानूनों द्वारा संरक्षित जैव प्रौद्योगिकी द्वारा उत्पादित इन महंगे बीजों ने पारंपरिक बीजों का स्थान ले लिया। हर साल खरीदना मज़बूरी हो गयी है और इन बीजों के फलने के लिए जरुरी उर्वरक और कीटनाशक को भी प्रचुर मात्रा में ख़रीदा जाना आवश्यक हो गया । ऐसे में खेती लागत मूल्य अचानक ही काफी बढ़ गया ।

किसान उदारवादी आर्थिक नीतियों से पहले परंपरागत स्त्रोतों से खाद बीज जुटा लेते थे जिससे कृषि लागत कम से कम रहती थी । इन नीतियों के कारण कृषि लागत अचानक से कई गुना बढ़ गयी और उत्पादन मूल्य की कीमत लगातार स्थिर या कम हो रही थी । राज्य के सामाजिक नियम और आर्थिक नीतियों की वजह से किसान और खेती लगातार हाशिये पर जा रही है और उन्हें संरचनात्मक भेदभाव झेलना पड़

रहा है । ऐसे में किसानों द्वारा की गयी आत्महत्याएं वास्तव में व्यवस्था द्वारा की गयी हत्याएं ही हैं । राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो द्वारा किसानों की आत्महत्याओं का सरकारी आंकड़ा प्रस्तुत किया जाता है । ज़ाहिर है किसानों की आत्महत्या की वास्तविक संख्या इससे बहुत अधिक होगी जो कि अनेक कारणों से इन आकड़ों में शामिल नहीं है । ''किसानों की आत्महत्या के इस आंकडे में सोलह वर्षों का अर्थ है 1995 में 10720 किसानों ने आत्महत्या की तो 2010 में 15960 किसानों ने ।''[29]आज यह आंकड़ा बहुत अधिक बढ़ गया है। नवउदारवादी नीतियों से किसान किस तरह फंस गये है । नीतियों के कारण आत्महत्या करनी पड़ रही है । इन समस्याओं की वजहों को संजीव ने अपने उपन्यास 'फ़ांस' में बखूबी दिखाया है । किसान समस्या के इतने व्यापक संकट के लिए किये गए लोकतान्त्रिक आंदोलनों की भी विवेचना की है।

''शेतकारी लोगों की गुहार सुनकर प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह और राहुल गाँधी आये थे। 1997 से 2006 तक यहाँ 15,000 किसान आत्महत्या कर चुके थे। समूचे देश में यह संख्या ढाई लाख तक पहुँच गयी थी। विदर्भ के ग्यारह जिलों में ही तीस हज़ार, दिल्ली मुंबई और पता नहीं कहाँ कहाँ से लोग आये, समितियां बनी। जाँच पड़ताल हुयी । सभी का कहना था की विदर्भ कृषि का ज्वालामुखी है, सुप्त ज्वालामुखी। कर्ज उतरना तो दूर किसानों की आमदनी ही इतनी कम है की खेती में बने रहना मुमकिन नहीं।''[30]

इस उपन्यास में संजीव ने वर्तमान समय की कृषि समस्या के वैकल्पिक समाधान के रूप में मेंडालेखा गाँव के रूप में दिया है। जहाँ गाँव आत्मनिर्भर है और अपनी हर समस्या का हर संभव निदान स्वयं करते हैं। यह गाँव आज के समय की किसान समस्याओं के समाधान के मॉडल के रूप में देखे जा सकते हैं। इसका वर्णन लेखक कुछ इस प्रकार करता है। ''वे मेंडालेखा गाँव में नहीं एक आश्चर्यजनक लोक में थे। क्या कोई ऐसा देश भी है इस भूमंडल में जहाँ मंदिर नहीं हैं, मस्जिद नहीं हैं, गिरिजाघर नहीं हैं, धर्म नहीं है, जाति नहीं है, गालियाँ नहीं हैं, स्तुतियाँ नहीं, बलात्कार नहीं, दारू नहीं, हत्या नहीं, आत्महत्या नहीं, बांस ही या कोई भोजपत्र, धन हो या कोई दूसरी फसल, अल्टीमेट मालिक ग्राम समाज है । जहाँ ग्राम समाज के निर्णय के बिना कोई पत्ता नहीं हिलता और जहाँ एक औरत भी अगर 'ना' कर दे तो 'हाँ' न हो ?''[31]

देश की सामाजिक-आर्थिक संरचना में किसान एक आधारभूत अंग है। यदि यह वर्ग अपनी अलग-अलग सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान के परे उठ कर अपनी समस्याओं को राजनितिक स्तर पर संगठित होकर आन्दोलन करे तो देश की तमाम समस्याओं के समाधान संभव हैं . लेकिन जैसा कि उपन्यासों के माध्यम से भी साबित होता है की कई कारणों के चलते किसान अपनी समस्याओं के समाधान के लिए संगठित नहीं हो पाते। भारत में हुए तमाम किसान आन्दोलन का मुल्ल्यांकन करने से इस बात का पता चलता हैं की तीव्र आक्रोश के बावजूद उनकी आवाज़ कोई स्थायी वैकल्पिक समाधान नहीं दे पाती। इन सामाजिक -संस्कृतिक पहचान के चलते ही किसान आन्दोलन में संगठन, स्पष्ट विचारधारा, जनसहभागिता, नेतृत्व और कुशल रणनीति का अभाव देखने को मिलता है ।

सन्दर्भ

[1]रामविलास शर्मा: प्रेमचंद की सहित्यिक दृष्टि

[2]वही से, पृष्ठ संख्या

[3]वीर भारत तलवार, नकसलबाड़ी के दौर में

[4]वेरियर एल्विन: 1958, पृष्ठ संख्या 58

[5]यमुना के बागी बेटे: विद्यासागर नौटियाल,सामयिक प्रकाशन 2006, पृष्ठ संख्या 65

[6]वही से, पृष्ठ संख्या 90

[7]वही से, पृष्ठ संख्या 91

[8]120 पृष्ठ संख्या वही से ,

[9]वही से पृष्ठ संख्या70 ,

[10]कथादेश, मई 2012, पृष्ठ संख्या 87-88

[11]सहराना:पुन्नी सिंह, ग्रन्थ निकेतन, दिल्ली 2010, पृष्ठ संख्या 25

[12]वही से, पृष्ठ संख्या 132-133

[13]वही से, पृष्ठ संख्या 133

[14]वही से, पृष्ठ संख्या 124

[15]वही से, पृष्ठ संख्या 130

[16]वही से, पृष्ठ संख्या 132

[17]खुले गगन के लाल सितारे: मधु कांकरिया, पृष्ठ संख्या 40-41

[18]वही से, पृष्ठ संख्या 2

[19]वही से, पृष्ठ संख्या 3

[20]वही से, पृष्ठ संख्या 40-41

[21]क्रिस्टियन सिग्रिस्ट: भारत में किसान संघर्ष(1756-1975) आनंद कुशवाहा(अनुवाद) मैक्मिलियन प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 19

[22]कथादेश (पत्रिका)

[23]ईश्वरीय प्रसाद:भारत का किसान आन्दोलन, पृष्ठ संख्या 77

[24]वही से, पृष्ठ संख्या 77

[25]वही से पृष्ठ संख्या 82

[26]वही से, पृष्ठ संख्या 83

[27]वही से, पृष्ठ संख्या 84

[28]वही से , पृष्ठ संख्या 83

[29]कथादेश: पृष्ठ संख्या33

[30]संजीव: फ़ांस, पृष्ठ संख्या66

[31]वही से, पृष्ठ संख्या 241

निष्कर्ष

यथार्थवाद वैचारिक पद्धति से साहित्य लिखने की विधि है । वैसे कई विचारधाराओं ने अपने साहित्य लिखने की पद्धति को यथार्थवाद से जोड़ने की कोशिश की है। उदहारण के तौर पर मनोविश्लेषणवादी विचारधारा, अस्तित्ववादी विचारधारा और प्रकृतिवादी विचारधारा आदि। इन विचारधाराओं ने अपने साहित्य को यथार्थवादी माना पर इनका यथार्थवाद आधा-अधूरा जान पड़ता है।

यथार्थवादी साहित्य लेखन मार्क्सवादी विचारधारा पर आधारित है। यथार्थवादी साहित्य वर्तमान परिस्थितियों का मूल्यांकन करते हुए, उनके भविष्य की ओर भी इशारा करता है। यथार्थवाद की तीन महत्वपूर्ण श्रेणियां है। पहला-यथार्थवाद, दूसरा-समाजवादी यथार्थवाद और तीसरा-जादुई यथार्थवाद। यह तीन श्रेणियां अपने समय-काल और परिस्थितियों के अनुसार साहित्य में प्रयोग की जाती है। समाजवादी यथार्थवाद साहित्य में बहुत आगे की वैचारिकपद्धति मानी जाती है। यह साहित्य में समाज के हर पक्ष को बराबरी के रूप में दिखाने का हिमायती है। समाजवादी यथार्थवाद को कुछ विद्वान यथार्थवाद का हिस्सा नहीं मानते हैं, उनके अनुसार वह साहित्य में 'यूटोपिया' को जगह देता है।

इस शोध प्रबंध का विषय 'समकालीन हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन का यथार्थ है ।' किसान देश की अर्थव्यवस्था का एक मजबूत स्तम्भ हैं। आधार ग्रन्थ के रूप में किसान जीवन पर आधारित चयनित हिंदी उपन्यास की कथा वस्तु, अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों और अलग-अलग पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर ली गयी है।

कृषि अर्थव्यवस्था का ऐतिहासिक विश्लेषण करने से पता चलता है कि किसान सदियों से शोषण-उत्पीडन का शिकार होता आया है। किसान के श्रम का शोषण हर युग में अलग-अलग रूपों में बदलकर होता रहा है। संचय करने की प्रवृत्ति, भूमि पर निजी स्वामित्व, अमीरी-गरीबी यह सब समाज में एक व्यवस्थित प्रक्रिया के तहत विकसित हुआ है। किसानों में वर्ग की श्रेणी भी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के विकास के साथ पैदा हुई है।

सभी किसान की कुछ एक समस्याएं एक सामान दिखाई पड़ती हैं। भौगोलिक और अलग वर्ग के कारण कुछ समस्याएँ अलग-अलग भी है। किसानों की कुछ समस्याएँ

सदियों से चली आरही हैं और इस पुरानी समस्याओं में कई नई समस्याएँ भी जुड़ रही हैं। ऐतिहासिक रूप से देखने से पता चलता है की तत्कालीन व्यवस्था ही जिम्मेदार रही हैं। किसानों की स्थिति का प्राचीन, मध्य एवं आधुनिक कालों में अध्ययन किया गया है। पर इन सब में सबसे जटिल स्थिति आधुनिक काल में दिखाई देती है। अंग्रेजी उपनिवेश और भारतीय सामंतवाद ने मिलकर किसानों का शोषण किया था। 'आज़ादी' के बाद देश के किसानों को थोड़ी बहुत राहत मिलती दिखी। इस दौर में सैद्धांतिक रूप से किसानों की समस्याओं पर ध्यान देने की कोशिश की गयी। इसके लिए जमींदारी उन्मूलन कानून, सीलिंग एक्ट, भूमि सुधार जैसे कानून लाये गए। पर कानूनों का वास्तविक उद्देश्य देशी-विदेशी पूंजी के हितों को पूरा करना था। विकास, आत्मनिर्भरता हासिल करने के लिए उद्योग-धंधों की जरुरत के नाम पर लाये गए ये यह कानून अंततः गरीब-किसान मजदूर का शोषण कर देशी-विदेशी पूंजीपतियों को ही लाभ पहुंचाते रहे हैं। 1990 के बाद औद्योगिक धंधों के लिए और भी खुली छूट दे दी गयी।

जब किसान संगठित होकर मुकाबला करते हैं तब शोषण उत्पीडन थोडा धीमा हो जाता है और अपना स्वरुप बदल कर नए कलेवर में आ जाते है। किसान जीवन की समस्याएँ 1947 से पहले भी थी जो की 1947 के बाद भी बदस्तूर जारी हैं। पहले किसान खेती में पुनरुत्पादन परंपरागत रूप से कर लेते थे जिसमें उनकी लगत कम से कम रहती थी। पर नई आर्थिक नीतियों और बाज़ार की जरूरतों के लिए किसान नया बीज,खाद, रसायन उर्वरक का खेती में इस्तेमाल करने को मजबूर किये जा रहे हैं। इनसे कृषि में पुनरुत्पाद करने की लागत बहुत बढ़ जाती है। इस लागत को पूरा करने के लिए किसान ऋण पर निर्भर होना पड़ता है। फसल पर हमेशा मानव निर्मित और प्रकृति निर्मित आपदा आती है। जिसके चलते किसान पुराना ऋण चुका नहीं पाते हैं और इस तरह ऋण के चक्र में फंस जाते हैं। इन समस्याओं के कोई हल न मिलने की स्थिति में किसान अवसाद में चले जाते हैं और कोई रास्ता न बचने पर अंततः आत्महत्या का रास्ता अपनाने को मजबूर हैं।

हिंदी उपन्यास किसानों की इन समस्याओं का चुनाव करते हैं। क्या कृषि व्यवस्था और किसान वर्ग की समस्याओं को समग्रता में हिंदी उपन्यास उठा पा रहे है? यह शोध का केन्द्रीय प्रश्न है।

समकालीन हिंदी उपन्यास किसान जीवन और कृषि अर्थव्यवस्था की समग्र रूप में मुकम्मल तस्वीर नहीं खींच पाये हैं। कुछ एक जरुरी उपन्यास में किसान जीवन को समग्रता में खींचने की कोशिश की है। हिंदी उपन्यास के अंतर्गत यह प्रयास बहुत कम हैं। फणीश्वरनाथ रेणु को प्रेमचंद की परंपरा का रचनाकार कहा जाता है। उनके उपन्यास 'मैला आँचल' को आंचलिक उपन्यास कहा जाता है उसमें किसान जीवन की अभिव्यक्ति भी हुई है । पर किसान जीवन का यथार्थ समग्रता में नहीं दिखाई पड़ता है। भूमि विभाजन का प्रसंग रेणु बहुत ही मनोगत रूप में अभियक्त करते हैं। जमींदार का ह्रदय बदल जाता है, वह अपनी भूमि, भूमिहीनों में बाँट देता है। क्या जमींदारी प्रथा के खात्में का यह यथार्थवादी वर्णन है?

पंजाब क्षेत्र की पृष्ठभूमि पर लिखने वाले जगदीशचंद्र के दो उपन्यास 'धरती धन न अपना' और 'जमीन तो अपनी थी' हैं । जिसमें 'धरती धन न अपना' को यथार्थवादी उपन्यास कहा जा सकता है । इस उपन्यास में काली नामक एक पात्र भूमिहीन किसान है। वह जीवन-यापन के लिए शहर में मजदूरी करने जाता है। कुछ वर्षों में अपना पक्का घर बनाने और बसने के इरादे से वापस आता है। पर गाँव की स्थिति उसे ऐसा नहीं करने देती। मजबूरन उसे गाँव छोड़कर दोबरा शहर भागना पड़ता है। पहली बार काली अपनी मर्जी से शहर में मजदूरी करने गया था लेकिन दूसरी बार सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की मार की वजह से उसे गाँव छोड़ना पड़ा था। उपन्यास में सामंतवादी व्यवस्था के आगे काली का वही हश्र होता है जो कि वास्तविक और यथार्थवादी ढंग से होना चाहिए था।

आधार ग्रन्थ के रूप में चयनित उपन्यास का मूल्यांकन समाजवादी यथार्थवाद के नजरिये सेकिया गया है।चयनित आधार ग्रंथों में जगदीशचन्द्र का उपन्यास 'जमीन तो अपनी थी' समाजवादी यथार्थवाद की कसौटी पर पूरी तरह से खरा नहीं उतरता। यह उपन्यास, 'किसान जीवन'और 'वर्ग संघर्ष' दोनों को ही अपने सही रूप में चित्रित नहीं करता। मात्र भाषा, कथानक का यथार्थ चित्रण रचना को यथार्थवादी नहीं बना देता। इस क्रम में जगदीश का पहला उपन्यास 'धरती धन न अपना' अपेक्षाकृत यथार्थवादी है। इस उपन्यास में जातीय, वर्गीय चेतना और किसान की श्रेणियों का आपसी अंतर्विरोध वास्तविकता के साथ रेखांकित हुआ है। संसाधन, संगठन और स्पष्ट विचारधारा के अभाव में किसानों के प्रतिरोध की परिणिति बिना किसी चमत्कारिक नायकत्व या आदर्श की स्थापना के, यथार्थवादी ढंग से हुई है। दूसरे उपन्यास 'जमीन

तो अपनी थी' में लेखक यथार्थवाद से भटक कर मनोगत विचार का शिकार होता दिखाई पड़ता हैं। काली के दिन अचानक बदल जाते हैं, उसकी मेहनत रंग लाती है और उसके बेटे आईएएस, डाक्टर बन जाते हैं। असल जिंदगी में कितने गरीबो के दिन अचानक यूँ ही सिर्फ मेहनत के बल पर बदल जाते हैं? इस उपन्यास में लेखक ने यथार्थवाद की बुनावट होने के बाद भी आदर्शवादी अंत दिखाया है। हिंदी में यथार्थवादी उपन्यास नहीं के बराबर आ रहे हैं और किसान जीवन को केंद्र में रख कर लिखे जाने वाले यथार्थवादी उपन्यास तो और भी कम हैं।

समकालीन हिंदी उपन्यासों में कुछ उपन्यास किसान प्रतिरोध के इतिहास की पृष्ठभूमि पर लिखे गए हैं। इस तरह के उपन्यास में इतिहास का बहुत ही प्रासांगिक और सजीव वर्णन देखने को मिलता है। क्या वास्तव में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि या नायक पर लिखे जाने वाले उपन्यासों को यथार्थवादी कहा जा सकता है? असल में लेखक इतिहास के माध्यम से वर्तमान के सवालों को उठता है। वैसे ऐतिहासिक और कल्पना को लेकर साहित्य में अलग बहस है।ऐतिहासिक ढांचे को लेकर लिखने वाले अधिकांश लेखक वर्तमान को इतिहास में घटते हुए दिखाते हैं और इतिहास के बहाने वर्तमान की ओर इशारा करते हैं।

समकालीन उपन्यासों में 'बेदखल', 'बाजत अनहद ढोल', 'यमुना के बागी बेटे'यह तीन उपन्यास अलग जगह और समय की तीन ऐतिहासिक घटनाओं पर लिखे गए हैं। 'बेदखल' 1920-21 में हुए अवध किसान आन्दोलन पर लिखा गया है। अवध किसान आन्दोलन की असफलता को बताते हुए लेखक इस बात की ओर भी इशारा करता है कि क्यों आज के किसान आन्दोलन सफल नहीं हो पा रहें हैं?इसका जवाब लेखक पुरानी गलती से सबक लेते हुए उसे न दोहराने के सबक के रूप में दे रहा है। अगर आज किसान अपनी संघर्ष लड़ाई जीत रहे होते तब उपन्यासकार ऐतिहासिक ढांचे में बदलाव कर देता हैं। इसीलिए ऐतिहासिक घटना और पात्रों पर आधारित रचनात्मक उपन्यास यथार्थवादी श्रेणी में लाये जा सकते हैं।

संजीव ने 2015 में 'फ़ांस' उपन्यास लिखा था। जो किसान जीवन और कृषि अर्थव्यस्था का समग्रता में विश्लेषण करता है। किसान क्यों आत्महत्या कर रहे हैं? इसकी क्या वजह हो सकती हैं? इसको बहुत ही सूक्ष्मता से संजीव ने अपने उपन्यास में दिखाया है। दूसरी तरफ किसान अपनी समस्याओं का समाधान खोज रहे हैं। अपनी

कृषि के लिए खुद ढांचा खड़ा कर रहे है। जिसका जीवंत उदाहरण लेखक ने मेंडालेखा ग्राम के रूप में दिया है। यह कृषि व्यवस्था का यथार्थवादी वर्णन कहा जा सकता है।

बात चाहे किसान की समस्याओं की हो या उनके आपसी अंतर्विरोध की, जीवन के सभी आयाम का गतिशीलता में समग्र अध्ययन एक महत्वपूर्ण पक्ष है। इस प्रकार का चित्रण वीरेंद्र जैन के उपन्यास 'पार' और 'डूब' में देखने को मिलता है। ग्रामीण समाज और शहरी समाज की गतिशीलता का यह अंतर यथार्थवादी चित्रण का प्रमुख तत्व है।

देश की अर्थव्यवस्था उदारवादी नीतियों के नाम पर देशी-विदेशी पूंजी के लिए उदार हो गयी। पूंजी के लिए इस उदारता का किसानों पर बहुत ही नकारात्मक असर पड़ा। देश में नई आर्थिक नीतियों के तहत, भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण जैसी व्यवस्थाओं को लागू किया गया। 'भूमंडलीकरण' का अर्थ आर्थिक रूप से मजबूत देशों द्वारा अपने माल और पूंजी को कमजोर देशों में लाकर मुनाफा कमाने का उद्देश्य पूरा करना है। 'उदारीकरण' का तात्पर्य देशी-विदेशी पूंजी और उद्योग-धंधों के लिए उदार होना और इस प्रक्रिया से पीड़ित जनता के प्रति कठोरता से पेश आना है।

आज भारत की अर्थव्यवस्था विश्व में तेजी से उभरती छठवीं बड़ी अर्थव्यवस्था है। हाल में ही जारी हुई तमाम रिपोर्ट अर्थव्यवस्था की नकारात्मक छवि प्रस्तुत करती हैं। वर्तमान समय में बेरोजगारी की दर पिछले चालीस वर्षों में सबसे अधिक हुई है। नई आर्थिक नीतियों के तहत अर्थव्यवस्था ने भूमंडलीकरण, निजीकरण और उदारीकरण को अपनाया गया है, बावजूद इसके जीडीपी में कृषि क्षेत्र की हिस्सेदारी लगातार घटी है। यह एक बहुत ही विरोधाभासी स्थिति है। जब तक जीडीपी में कृषि का प्रतिशत नहीं बढ़ेगा तब तक देश विकसित देशों की श्रेणी में नहीं आ सकता है और न ही सामाजिक न्याय के अपने वादे को पूरा कर सकता है। वर्ष 2017-18 में हुए राष्ट्रव्यापी किसान आन्दोलन ने यह साबित कर दिया की किसान मुद्दों को लेकर सरकार बुरी तरह से नाकाम रही है। देश में जिस प्रकार की कृषि नीतियों के तहत (जेनिटकली परिवर्धित बीज) को लागू किये जाने का प्रयास किया जा रहा है, उनका आने वाले समय में कृषि, कृषक और हमारे पर्यावरण पर दीर्घकालिक नकारात्मक प्रभाव पड़ेंगे। किसी भी प्रकार की नीति को लागू करने से पहले समुचित शोध अनुसन्धान किये जाने की आवश्यकता है। इसके लिए देश में उन्नत, आधुनिक कृषि

संस्थान की स्थापना, लगातार विचार-विमर्श, संगोष्ठी, शोध अनुसन्धान किये जाने की जरुरत है। वर्तमान समय में साहित्य में किसान जीवन को केंद्र बना कर लिखे जाने वाली रचनाओं में कमी दर्ज की गयी है। नए परिदृश्य में किसान जीवन की समस्याओं पर साहित्य में गंभीर और जिम्मेदार लेखन की आवश्यकता है।

परिशिष्ट

1. प्रति हज़ार व्यक्तियों पर प्रति हेक्टेयर भूमि का वितरण

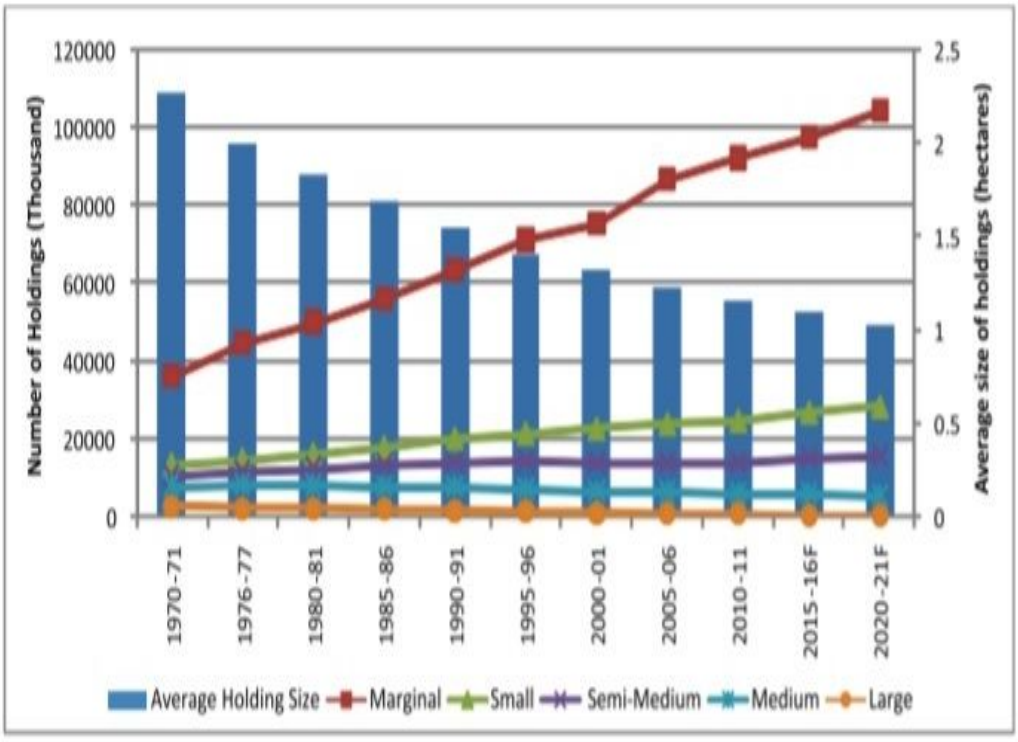

स्त्रोत: कृषि मंत्रालय, 2010-11, कृषि सांख्यिकी

2. आकार समूह के आधार पर कृषि योग्य भूमि का वितरण

No. of Holdings: ('000 Number)
Area Operated: ('000 Hectares)
Average size: (Hectares)

Category of Holdings	Number ('000) of Holdings			Area			Average Size of Holdings		
	2000-01*	2005-06*	2010-11	2000-01*	2005-06*	2010-11	2000-01*	2005-06*	2010-11(P)
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)	(8)	(9)	(10)
Marginal (Less than 1 hectare)	75408 (62.9)	83694 64.8	92826 67.1	29814 (18.7)	32026 (20.2)	35908 (22.5)	0.40	0.38	0.39
Small (1.0 to 2.0 hectares)	22695 (18.9)	23930 18.5	24779 17.9	32139 (20.2)	33101 (20.9)	35244 (22.1)	1.42	1.38	1.42
Semi-Medium (2.0 to 4.0 hectares)	14021 (11.7)	14127 10.9	13896 10.0	38193 (24.0.)	37898 (23.9)	37705 (23.6)	2.72	2.68	2.71
Medium (4.0 to 10.0 hectares)	6577 (5.5)	6375 4.9	5875 4.2	38217 (24.0)	36583 (23.1)	33828 (21.2)	5.81	5.74	5.76
Large (10.0 hectares and above)	1230 (1.0)	1096 0.8	973 0.7	21072 (13.2)	18715 (11.8)	16907 (10.6)	17.12	17.08	17.38
All Holdings	**119931 (100.0)**	**129222 (100.0)**	**138348 (100.0)**	**159436 (100.0)**	**158323 (100.0)**	**159592 (100.0)**	**1.33**	**1.23**	**1.15**

**-Excluding Jharkhand*

Source: Department of Agriculture, Cooperation & Farmers Welfare [Agriculture Census 2010-11 (Phase-1)].

स्त्रोत : कृषि मंत्रालय, 2010-11

3. विश्व आयात-निर्यात में भारतीय कृषि के आयत-निर्यात की भागीदारी

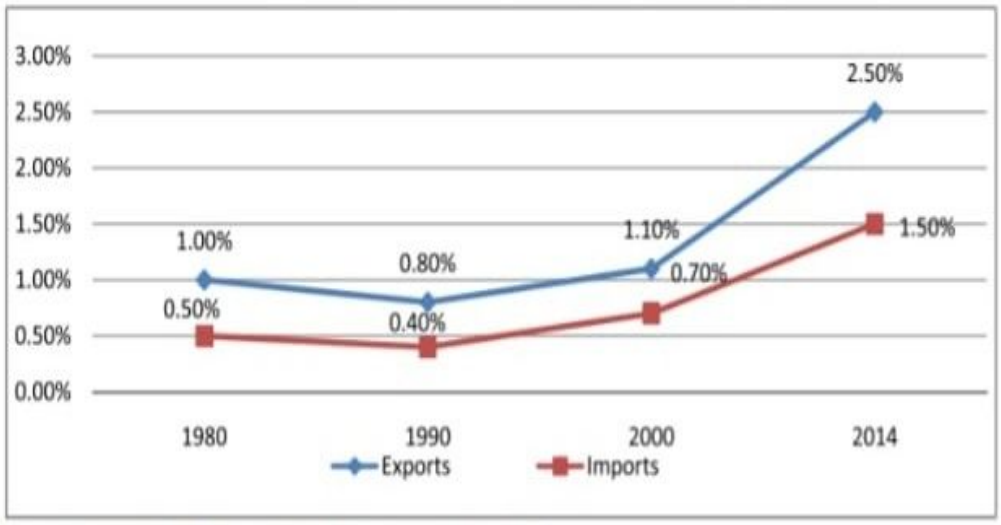

Source: International Trade Statistics 2015, World Trade Organization (WTO)

स्त्रोत : अंतर्राष्ट्रीय व्यापार सांख्यिकी, 2015 विश्व व्यापर संगठन

4.भारत में भूमिगत जल का वर्गीकरण

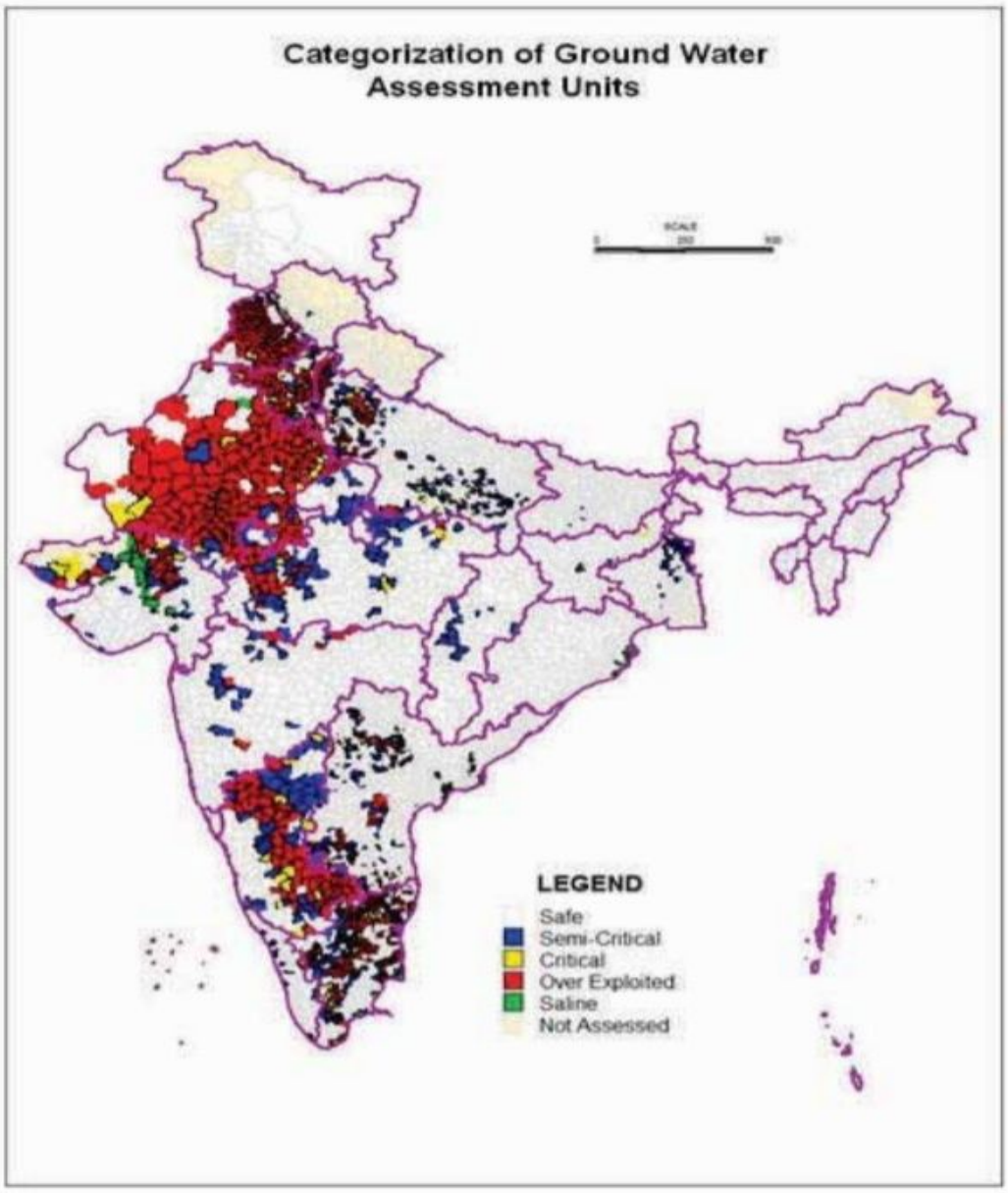

स्त्रोत: भारतीय कृषि मंत्रालय 2014-15

5.राज्यवार कृषि क्षेत्र में विकास दर

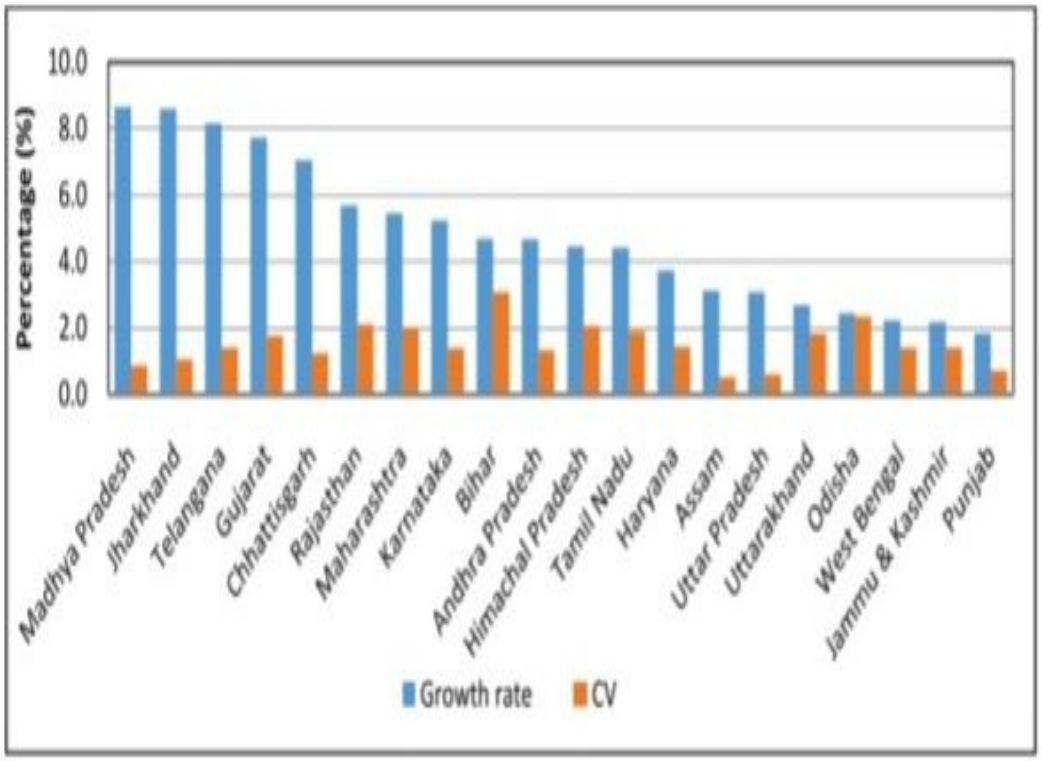

स्त्रोत : भारतीय कृषि मंत्रालय, वर्ष 2014-15

6.कृषि हेतु उपलब्ध कुल सिंचित क्षेत्र

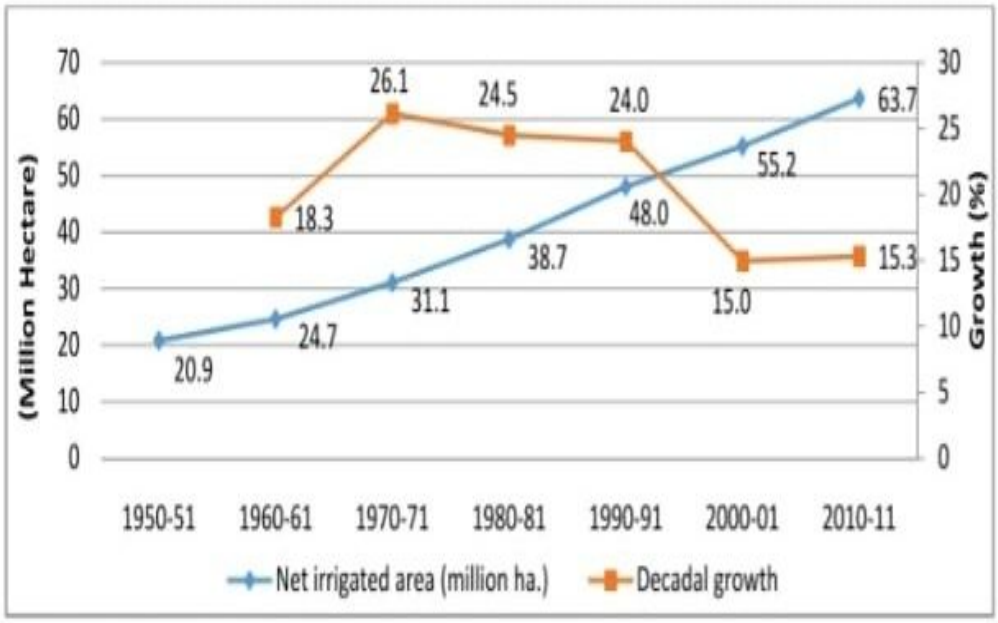

Source: Directorate of Economics and Statistics, Ministry of Agriculture and Farmers Welfare

स्त्रोत: आर्थिक एवं सांख्यिकीय निदेशालय, भारतीय कृषि एवं किसान कल्याण मंत्रालय,2010-2011

7.अवध का किसान आन्दोलन

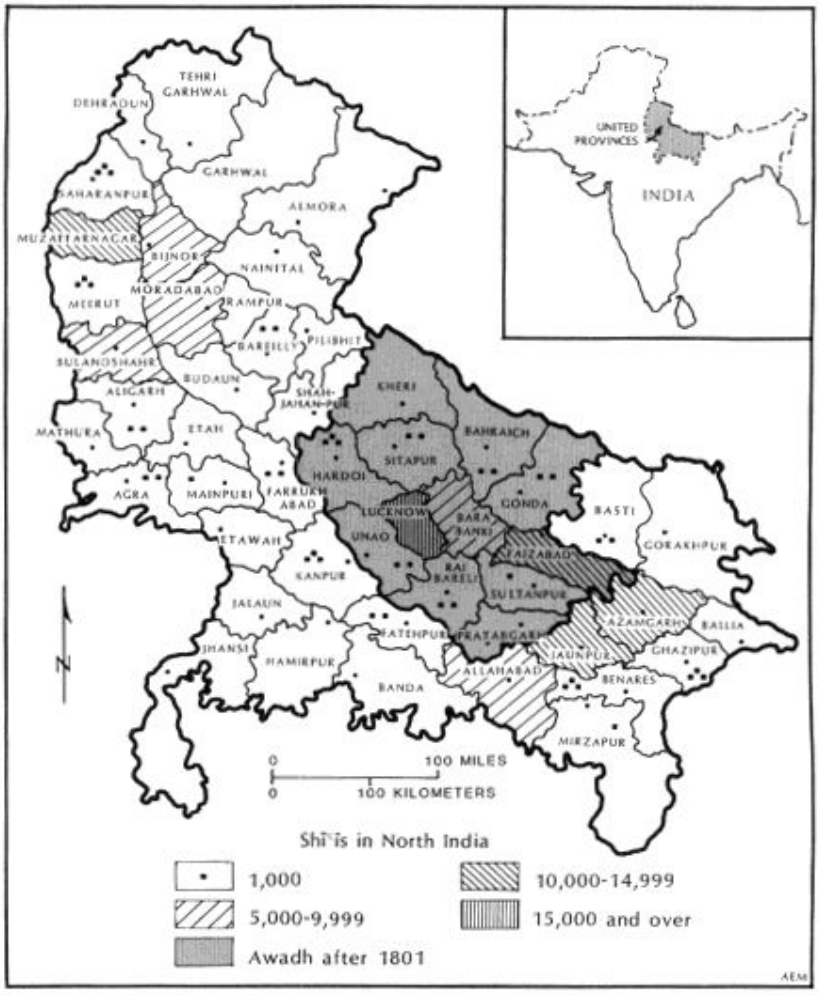

स्वतंत्रता पूर्व उत्तर प्रान्त में अवध क्षेत्र

8. भारत में किसान आत्महत्या

Year	No. of Farmers Committed Suicide
2000	16603
2001	16415
2002	17971
2003	17164
2004	18241
2005	17131
2006	17060
2007	16632
2008	16196
2009	17368
2010	15964
2011	14027
2012	13754
2013	11772
2014	12360
2015	12602
2016	11370
Total	**262630**

स्त्रोत: भारतीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो 2016

ग्रंथ – सूची(Bibliography)

आधार – ग्रंथ (Primary Sources)

- जगदीशचन्द्र: धरती धन ना अपना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली: प्रथम संस्करण, 1972
- जगदीशचन्द्र: जमीन अपनी तो थी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली: प्रथम संस्करण , 1976
- विवेकी राय: लोकऋण, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली:प्रथम संस्करण,1977
- वीरेंद्र जैन: डूब, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,1991
- वीरेंद्र जैन: पार,वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,1994
- कमलाकान्त त्रिपाठी: बेदखल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,1997
- मधु कांकरिया: खुले गगन के लाल सितारे, किताब प्रकाशन, प्रथम संस्करण,2000
- बनाफरचन्द: जमीन, यात्री प्रकाशन, सादतपुर, दिल्ली, प्रथम संस्करण,2004
- मधुकर सिंह: बाजत अनहद ढोल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2005
- विद्यासागर नौटियाल: यमुना के बागी बेटे, समसामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2006
- पुन्नी सिंह: सहराना, ग्रंथ निकेतन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2010
- संजीव: फांस, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2015

सहायक – ग्रंथ (Secondary Sources)

- त्रिभुवन सिंह: हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स, वाराणसी, पंचम संस्करण 1997

- डॉ. शिवकुमार मिश्र:यथार्थवाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1990

- जी. एल. भल्ला : (अनुवाद : रजनीश कुमार)भारतीय कृषि आजादी के बाद, नई दिल्ली,2010.

- पी. साईनाथ: (अनुवादक:आनंद स्वरुप वर्मा). तीसरीफसल (भारत के निर्धनतम जिलों की दास्तान). नई दिल्ली, 2003.

- पूरनचंद जोशी: भारत में भूमि सुधार अध्ययनों का सर्वेक्षण. ग्रंथशिल्पी (इंडिया) प्रा॰ लि. नगर, दिल्ली, 2012.

- एंगेल्स: परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति. पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस प्रा. लि., नई दिल्ली2010 (प्रथम संस्करण हिन्दी)

- प्रधान हरिशंकर प्रसाद: खेतिहर समाज (खण्ड I). फ़िलहाल ट्रस्ट, एस- 46/2, कृष्ण नगर, पटना,2006.

- हरबंस मुखिया (संपादक):फ्यूडलिज्म और गैरयूरोपीय समाज. ग्रंथशिल्पी (इंडिया) प्रा॰ लि॰, अनुवादक : आदित्य नारायण, नई दिल्ली,1998.

- अवधेश प्रधान (संपादक):किसान और संयुक्त मोर्चा. ग्रंथशिल्पी (इंडिया) प्रा॰ लि॰, दयानंद मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, 2002.

- रोडनी हिल्टन(संपादक):(अनुवादक: प्रदीपकान्त चौघरी). सामंतवाद से पूँजीवाद में संक्रमण. ग्रंथशिल्पी, दिल्ली, 2007.

- प्रो. रामबक्ष : प्रेमचंद औ रभारतीय किसान: वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1982.

- व्ला . इ . लेनिन : राज्य और क्रांति, राज्य के संदर्भ मे मार्क्सवाद की शिक्षा और क्रांति में सर्वहारा वर्ग के कार्यभार, पीपल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा॰) लिमिटेड, 2010 . (प्रथम संस्करण हिन्दी)

- सूर्यभान राय (संपादक) :स्वाधीनता आन्दोलन में किसानों की भूमिका और उनका भविष्य, शिक्षा दीक्षा प्रिंटिंग प्रेस

- रामशरण जोशी (संपादक) :समकालीन सरोकार, वैश्वीकरण के दौर में.समयांतर प्रकाशन, दिल्ली, 2006.

- श्यामचरण दुबे(अनुवाद- वंदना मिश्र): भारतीय समाज. नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई-दिल्ली, 2005.

- माओ. त्से. तुंग.: माओ. त्से. तुंग की रचनाएँ, प्रतिनिधि चयन, एक खंड में. राहुलफाउंडेशन, लखनऊ, 2004.

- पुष्पराज :नंदीग्राम डायरी,पेंगुइन बुक्स इंडिया,नई दिल्ली,2009.

- स्वामी सहजानंद सरस्वती :किसान कैसे लड़ते हैं ? श्याम विहारी राय द्वारा ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया), प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली,2010.

- डा॰ महेंद्र प्रताप: उत्तर प्रदेश में किसान आन्दोलन. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998.

- कार्ल मार्क्स, फडरिक एंगेल्स: कम्युनिष्ट पार्टी का घोषणापत्र. राहुल फाउंडेशन, लखनऊ,1999.

- रामाज्ञा शाशिधर : किसान आन्दोलन की साहित्यिक जमीन.अंतिका प्रकाशन,गाजियाबाद ,2012

- डा. विजय कुमार: आधुनिक भारतीय इतिहास के साहितित्यक स्रोत एक अध्ययन.काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना संग्रहालय भवन, 2003.

- एजाज अहमद (अनुवाद- मनोज झा): किनकी सदी, किनकीसहस्राब्दी ? मौजूदा समय पर विचारविमर्श, संवाद प्रकशन, मेरठ (पहला संस्करण) 2008.

- रामधारी सिंह दिवाकर: अकाल संध्या भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्युशनल एरिया, लोदीरोड, नई दिल्ली, (पहला संस्करण) 2006.

- भीमसेन त्यागी: जमीन (उपन्यास).भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्युशनल एरिया, लोदीरोड, नई दिल्ली (पहला संस्करण) 2003.

- नामवर सिंह: कहानी: नई कहानी,लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 2008.
- विजय मोहन सिंह: बीसवीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य. राजकमल प्रकाशन प्रा॰ लि, नई दिल्ली, (पहला छात्र संस्करण) 2010.
- मधुरेश: हिन्दी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, इलाहाबाद(चौथा संस्करण) 2008.
- रामदरश मिश्र: हिन्दी उपन्यासएक अन्तर्यात्रा. राजकमल प्रकाशन प्रा॰ लि॰, नई दिल्ली,(तीसरी आवृति)2012.
- रामस्वरूप चतुर्वेदी: हिन्दी काव्य का इतिहास (कबीर से रघुवीर) लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007.
- रामविलास शर्मा: महावीर प्रसाद दृिवेदी और हिन्दीनवजागरण. राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1977.
- एल. नटराजन: भारत के किसान विद्रोह (1850-1900), वाणी प्रकाशन दिल्ली, 1999.
- चारू मजूमदार: संग्रहित रचनाएं (1962- 72),समकालीन प्रकाशन, (दृितीय संस्करण) 2001.
- डा॰ बच्चन सिंह: आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास. लोकभारती प्रकाशन, इलहाबाद , 2010.
- व्ला. इ.लेनिन: एक कदम आगे, दो कदम पीछे. पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा॰)लिमिटेड, नई दिल्ली, 2011.
- गोपाल राय:हिन्दी उपन्यास का इतिहास. राजकमल प्रकाशन प्रा॰ लि॰, नई दिल्ली , 2005.
- गोपाल राय:हिन्दी कहानी का इतिहास. राजकमल प्रकाशन प्रा॰ लि॰, नई दिल्ली, 2011.
- पकंज सुवीर: अकाल में उत्सव, शिवना प्रकाशन, सीहोर मध्यप्रदेश, 2016
- रैल्फ फॉक्स, नरोत्तम नागर (अनु.) उपन्यास और लोक जीवन, पीपल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, 2008

- मार्टिन निकोलस: सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना, राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ, 2006
- खेतिहर क्रांति:एकमात्ररास्ता, क्रांति प्रकाशन, 1978
- नाउम्मीदी की फसल:भारत मे कृषि संकट, पर्सपेक्टिव्स,2009
- विश्वव्यापी कृषि संकट: मन्थली रिव्यू में प्रकाशित लेखों का संग्रह, गार्गी प्रकाशन, सहारनपुर, 2009
- सुरेन्द्रपाल सिंह : कृषि संकट:बदल रहा किसान आंदोलन, प्रकाशन देस हरियाणा कुरुक्षेत्र
- अरविन्द: सम्राज्यवादी वैश्वीकरण:भारत पर एक अभूतपूर्व हमला, न्यूविस्टास पब्लिकेशन दिल्ली, 2007
- मारिस कानफोर्थ:द्वंदात्मक भौतिकतावाद, प्रकाशक अनिल खेतान, करेंट बुक डिपो कानपुर, 2001
- सैयद नजमुल रज़ा रिज़वी: अठारहवीं सदी के जमींदार, पीपुल्स पब्लिकेशन हाउस, 1988
- रामशरण शर्मा: शूद्रों का प्राचीन इतिहास, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 2007
- सब्यसाची भट्टाचार्य: आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 2012
- मनोरंजन मोहन्ती: चीनी क्रांति, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली यूनिवर्सिटी, 1994
- डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा:टूटे वायदों का अनटूटा इतिहास, भारतीय राज्य और आदिवासी लोग, सहयोग पुस्तक कुटीर, नई दिल्ली, 2011
- बिपन चंद्र: भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उद्भव और विकास, अनामिका पब्लिकेशन एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि. नई दिल्ली, 2008
- कल्याण मुखर्जी, राजेन्द्र सिंह यादव:भोजपुर बिहार मे नक्सलवादी आन्दोल, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,1980

- डॉ. राजीव नयन प्रसाद:विश्व का इतिहास 1950 ई. तक, भारती भवन पब्लिकेशन एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2005

- भगवतशरण उपाध्याय: खून के छीटे इतिहास के पन्नों पर, पीपुल्स पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली,2008

- एच. डी. संकालिया:भारत में प्रागैतिहासिक प्रौद्योगिकी, पीपुल्स पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली,1991

- माओत्से-तुङ: सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना, राहुल फाउंडेशन, लखनऊ, 2004

- मार्टिनहार्ट-लैंड्सबुर्ग, पॉलबुर्केट: चीन और समाजवाद बाजारू सुधार और वर्ग संघर्ष, फिलहाल ट्रस्ट, पटना,2010

- कार्लमार्क्स: मजूरी, दाम और मुनाफ़ा, पीपुल्स पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली,1999

- सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) का इतिहास, कामगार प्रकाशन, दिल्ली, 2001

- व्ला. इ. लेनिन: संकलित रचनाए खण्ड 3, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981

- डब्ल्यू. एच. मोरलैंड: अकबर की मृत्यु के समय का भारत, ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली,1976

- विनोद मिश्र:संकलित रचनाएँ, समकालीन प्रकाशन, पटना,2013

- गणेश शंकर विधार्थी: चुनी हुई रचनाएँ, राहुल फाउंडेशन, लखनऊ,2006

- दिवेश विजय: यूरोपीय संस्कृति, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली यूनिवर्सिटी,2009

- व्ला. इ. लेनिन:उग्रवादी कम्युनिज्म एक बचकाना मर्ज़, पीपुल्स पब्लिकेशन हाउस (प्रा.) लि., नई दिल्ली,1978

- मार्क्स, ऐंगल्स:संकलित रचनाएँ, खंड-2 भाग-1, प्रगति प्रकाशन,1977

- व. अगाफ़ोनोव:मार्क्सवाद-लेनिनवाद और विकास का गैर-पूंजीवादी रास्ता, प्रगति प्रकाशन, मास्को,1978

- राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त खंड - 2, दि शांघाई टेक्स्ट बुक ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी, 2004
- लालबहादुर वर्मा: भारत की जनकथा, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद,2012
- ज्योर्जी दिमित्रोव:फासीवाद के खिलाफ जनमोर्चा, समकालीन प्रकाशन, पटना,2003
- जी. एस. भल्ला:भारतीय खेतिहरों की स्थिति, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास,2014
- अन्ना लुईस्ट्रांग:स्तालिन युग, आरोही बुक ट्रस्ट,2004
- मिखाइल गोर्बोचेव:पेरेस्त्रोइका, पीपुल्स पब्लिशिग हाउस (प्रा) लि. नई दिल्ली,1988
- लिओह्यूबरमन:मनुष्य की भौतिक सम्पदाएँ, गार्गी प्रकाशन, सहारनपुर,2004
- अनाटोली लुनार्चासकी: रुसी साहित्य में यथार्थवाद (समालोचना, 2005)1987
- जार्ज लुकास:समकालीन साहित्य में यथार्थवाद, ग्रंथशिल्पी नई दिल्ली, 2002
- ब्रतोल ब्रेख्त: रंगमंच खंड 5, भाग 1, प्रगतिशील प्रकाशन, मास्को,1965
- डी. डी. कोशाम्बी: ऑन अ मार्क्सिस्ट एप्रोच टू इंडियन क्रोनोलॉजी, (1950)
- रोमिला थापर : वंश से राज्य तक (अनुवाद)मंगल नाथ सिंह प्रथम हिंदी संस्करण:, ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली, 1997
- द्विजेंद्रनारायण झा: भारतीय सामंतवाद: राज्य, समाज और विचारधारा अनुवादक: आदित्य नारायण सिंह, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, 2000
- राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धांत खंड 1, अनुवाद- सत्यम वर्मा, राहुल फाउंडेशन, लखनऊ, 1998
- रामशरण शर्मा : भारतीय सामंतवाद,राजकमल प्रकाशन, 1973
- राधा कुमुद मुखर्जी : प्राचीन भारत ,राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 1962

- रोमिला थापर : मौर्य साम्राज्य का पुनरावलोकन: (अनुवाद प्रदीपकान्त चौधरी, प्रथम हिंदी संस्करण 2007

- रामशरण शर्मा : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार तथा संस्थाएं: पहला पेपरबैक संस्करण , राजकमल प्रकाशन, 1992

- डी. एन. झा. : प्राचीन भारत : एक रुपरेखा: (अनुवादक) कन्हैया, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, 1997

- ए.आर. देसाई: भारत का विकास मार्ग: मार्क्सवादी दृष्टि , हिंदी माध्यम कार्यान्वन निदेशालय,नई दिल्ली, 1989

- सतीशचंद्र : मध्यकालीन भारत: राजनितिक समाज और संस्कृति आठवीं से सत्रहवीं सदी तक: (हिंदी अनुवाद: नरेश नदीम)2007

- इरफ़ान हबीब : मध्यकालीन भारत का आर्थिक इतिहास: एक सर्वेक्षण: हिंदी अनुवाद, राजकमल प्रा. लि. तीसरा संस्करण

- हरबंश मुखिया : मध्यकालीन भारत: नए आयाम: (अनुवाद नरेश नदीम)राजकमल प्रकाशन प्रथम संस्करण 1998

- अशोक कुमार पाण्डेय : शोषण के अभयारण्य भूमंडलीकरण के दुष्प्रभाव और विकल्प का सवाल: शिल्पायन प्रकाशक , नई दिल्ली 2010

- गिरीश मिश्र : आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास: ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997

- शेखर बंदोपाध्याय : प्लासी से विभाजन तक आधुनिक भारत का इतिहास : (अनुवाद) नरेश नदीम, ओरियेंट ब्लैक्स्वान ,नई दिल्ली, 2007

- शाहिद अमीन : निम्न वर्गीय प्रसंग: ज्ञानेंद्र पाण्डेय(संपादक), भाग-1, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2016

- वीर भारत तलवार : इतिहास के दस्तावेज नक्सलबाड़ी के दौर में:, प्रथम संस्करण, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2007

- एम.एन. श्रीनिवास:आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 2016
- लुईस अल्थुय्सर: आइडियोलॉजी एंड आइडीओलोजिकल स्टेट अप्रेट्स, क्रिटिकल कुएस्ट, दिल्ली 1970
- रजनी पाम दत्त: फांसीवाद और सामाजिक क्रांति, (अनुवादक) अरविन्द मोहन , ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली, 2007
- गणेश शंकर विद्यार्थी: रचनावली (संपादक) सुरेश सलिल खण्ड 1, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2011
- प्रभात पटनायक : गुलामी के चक्रव्यूह में भारतीय अर्थव्यवस्था, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
- फिदेल कास्त्रो : साम्राज्यवादी वैश्वीकरण (अनुवादक) जितेन्द्र गुप्ता , संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2008
- समीर अमीन:भूमंडलीकरण के युग में पूंजीवाद,(अनुवाद) रामकोविंद सिंह, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
- अमित भादुड़ी: उदारीकरण का सच,(अनुवाद) अरुण प्रकाश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999
- ई. एच. कॉर: इतिहास क्या है ,(अनुवादक) अशोक चक्रधर, मैक्मिलीयन प्रकाशन,नई दिल्ली,1976
- वीर भारत तलवार:किसान, राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचंद :1918-22 प्रेमाश्रम और अवध के किसान आन्दोलन का विशेष अध्ययन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,1990
- टी. नागीरेड्डी: भारत एक बंधक राष्ट्र: एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी मूल्यांकन, (अनुवादक) रणजीत गुहा, तरिमेला नागीरेड्डी मेमोरियल ट्रस्ट, पहला हिंदी संस्करण 2011
- प्रतिभा राय: आदिभूमि, (हिंदी रूपांतरण) शंकरलाल पुरोहित, भारतीय ज्ञानपीठ ,2008

अंग्रेजी ग्रन्थ

- Edited by Utsa Patnaik: The Agrarian Question In Marx And His Successors, Volume-I-2 Published in 2002, Left World Book, 12 Rajendra Prasad Road, New Delhi

- George Lukacs: Studies in European Realism, the Merlin, Press Reprinted, 1969.

- T. P. Shipley :Dictionary of world literary terms, oxford press.

- Georg Lukacs :The theory of the Novel, Merlin press, London, 1971

- Ashis Nandi : The Intimate Enemy:Loss and Recovery of self under colonialism, Oxford University Press, 1983

- Political Economy of Capitalism, Progress Publishers Moscow,1985

- Mastar Hari Singh : Agriculture Workers Struggle in Punjab, People's Publishing House NewDelhi,1980

पत्र-पत्रिकाएँ

- कथादेश मासिक (मई, 2012): हरिनारायण (संपादक). सहयात्रा प्रकाशन प्रा॰लि॰, दिल्ली

- इस्पातिका अर्द्धवार्षिक (जनवरी से जून, 2014): अविनाश कुमार सिंह (संपादक), जमशेदपुर, झारखण्ड

- समालोचक त्रैमासिक (फरवरी-जून,1959):रामविलास शर्मा (प्रधान संपादक)राजनाथ शर्मा , श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय , अनामिका पब्लिशर्स

- गाँव के लोग द्वैमासिक (सितम्बर-अक्टूबर 2018) रामजी यादव, (प्रधान संपादक) वाराणसी

- समयांतर मासिक(जनवरी,2017) (संपादक) पंकज बिष्ट, नई दिल्ली

- फिलहाल मासिक(जनवरी,2006) प्रीति सिन्हा(संपादक) फिलहाल ट्रस्ट प्रकाशन, पटना
- हंस मासिक (अगस्त 2006) राजेन्द्र यादव (संपादक) अक्षर प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली